शृंगार रस : भावना और विश्लेषण

(भरत से पण्डितराज जगन्नाथ तक)

रमाशङ्कर जैतली
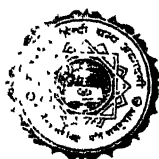
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

जयपुर

शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय ग्रंथ योजना
के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण—१९७२

मूल्य—१२.००

© सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए—२६/२ विद्यालय मार्ग, तिलक नगर
जयपुर—४

मुद्रक :
ओरियण्टल प्रिण्टर्स, बगरू वालों का रास्ता, जयपुर

सरला को

जिससे

ऋणिऋण चुकाते रहने की

सत्प्रेरणा

सदा

मिलती रही है ।

प्रस्तावना

भारत की स्वतंत्रता के बाद इसकी राष्ट्रभाषा को विश्वविद्यालय शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रश्न राष्ट्र के सम्मुख था। किन्तु हिन्दी में इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध नहीं होने से यह माध्यम परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। परिणामतः भारत सरकार ने इस न्यूनता के निवारण के लिए 'वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली आयोग' की स्थापना की थी। इसी योजना के अन्तर्गत पीछे १९६९ में पांच हिन्दी भाषी प्रदेशों में ग्रन्थ अकादमियों की स्थापना की गयी।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी हिन्दी में विश्वविद्यालय स्तर के उत्कृष्ट ग्रन्थ-निर्माण में राजस्थान के प्रतिष्ठित विद्वानों तथा अध्यापकों का सहयोग प्राप्त कर रही है और मानविकी तथा विज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रों में उत्कृष्ट पाठ्य-ग्रंथों का निर्माण करवा रही है। अकादमी चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अंत तक तीन सौ से भी अधिक ग्रंथ प्रकाशित कर सकेगी, ऐसी हम आशा करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक इसी क्रम में तैयार करवायी गयी है। हमें आशा है कि यह अपने विषय में उत्कृष्ट योगदान करेगी।

चंदनमल बैद
अध्यक्ष

स० ही० वात्स्यायन
निदेशक

विषय-सूची

चतुर्थ परिच्छेद

पंचम परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद

—: भूमिका :—

काव्यकला और काव्यास्वाद की गहराई के विश्लेषण में भारत की अपनी एक लम्बी परम्परा है जो कि आज के काव्यशास्त्रीय चिन्तन में भी किसी न किसी रूप में उतरती चली आई है। इस चिन्तन में बहुत नया भी जुड़ा है, पर वह सब आत्मानुभूति का सुपरिणाम नहीं कहा जा सकता। उसमें कुछ विदेशी पूंजी भी है जो पूरी तौर से पच नहीं पाई, फलतः उससे साहित्य को अभिलषित स्वास्थ्य नहीं मिल पाया, और कुछ में तथाकथित चिन्तक के अज्ञान की विक्षेपशक्ति का चमत्कार काम करता दीखता है। चिन्तन की नवता लोगों को बहुत भाई, पर उसकी निरन्तरता की ओर देखने का श्रम ही नहीं किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि संस्कृत का प्रशस्त और तलस्पर्शी काव्यशास्त्र कुछ काम न आ सका। उससे काम लेने वाले अधिकतर संस्कृत विद्वानों ने उसमें विवेचित प्रसंगों को सर्वान्तिम मान लिया और अन्य काव्यशास्त्र के चिन्तक व समुद्धारक (कुछ अपवादों को छोड़कर) कुछ सुनी-सुनाई बातों को लेकर बेलगाम दौड़ लगाने में ही अपने को कृतकृत्य समझने लगे। वे अतीत से विच्छिन्न तो थे ही उनमें से बहुतों के सामने कोई भविष्य भी नहीं था। इसी का यह परिणाम है कि चोटी के काव्यशास्त्रीय चिन्तन को जिसमें साहित्य को उसकी विविधता में समझने-परखने के लिए अनेक मानदण्ड स्थापित हुए, सुपुष्ट सौन्दर्यशास्त्रीय आधार नहीं मिल सका। जो कुछ भी मिलता है वह उन्ही में जहां-तहाँ बिखरा पड़ा है। उस पर न विशद चिन्तन की अमिट छाप लग पाई—हालांकि चिन्तन के क्षेत्र में कभी आख़िरी मीज़ान नहीं लगा करता—और न वह इस रूप में आगे बढ़ सका कि उसे भारतीय कहा जा सके।

वैसे यह कर पाना चोटी के चिन्तकों का काम है, मुझ जैसे व्यक्ति का नहीं। मेरी मुसीबत है कि मैं वर्तमान को जीकर भी प्राचीन मूल्यों से अपने को एकदम असंपृक्त नहीं कर पाता—उस ज्ञान–सम्पदा को नकार नहीं पाता। चाहता हूँ जो कुछ मतलब का हो, (और सचमुच बहुत कुछ है) अवश्य ले लिया जाए और उसका आगे के निर्माण में उपयोग किया जाए। चूँकि आगे का निर्माण अपने वश की बात नहीं, सोचता हूँ यदि सम्भव हो सके, भावी निर्माण के सुपुष्ट आधार को सही सन्दर्भों मे देख-दिखा सकूँ, तो भी बहुत कुछ होगा, वर्तमान और अतीत की अनेक टूटी कड़ियों में से कुछ को तो जोड़ सकूंगा। इसीलिए एक विवादास्पद विषय—शृंगार रस चुना है। विवेचन में अपना अवदान नगण्य है। इस सम्बन्ध में आचार्यों के पूर्व-प्रतिष्ठापित सिद्धान्तों की योजना भर कर रहा हूँ। शायद मूल-प्रतिष्ठा का फल मिल जाए :

तस्मात् मतामत्र न दूषितानि
मतानि तान्येव तु शोधितानि ॥
पूर्व–प्रतिष्ठापित-योजनासु
मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ॥

कई वर्ष हुए जब प्रस्तुत विषय शोध के लिए चुना गया था। विषय रुचि के अनुकूल था। उस पर भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक शास्त्रीय और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से आलंकारिकों, दार्शनिकों, रसिकाचार्य भक्तों और उन्मुक्त प्रेमपथ के पथिकों द्वारा अपने-अपने ढंग से पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत किया जा चुका था। लक्षण ग्रन्थों में बहुत कुछ विवेचन उपलब्ध था, पर बिखरा हुआ था। उनके क्रमबद्ध संयोजन और सही मूल्यांकन की ही नहीं, समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक मौलिक मान्यताओं और शोधों के प्रकाश में कुछ और कहने की आवश्यकता भी थी। विश्वविद्यालय के बाइस वर्ष के अध्यापनानुभव एवं चिन्तन से शास्त्रीय मान्यताओं के सम्बन्ध में जो अनुकूल-प्रतिकूल अन्तःसंस्कार बनते चले आ रहे थे, वे भी अपनी अभिव्यक्ति का द्वार चाह रहे थे। उक्त कारणों और प्रेरणाओं ने ही इस शोधप्रबन्ध को रूप दिया है।

जैसे-जैसे कार्य में प्रगति होती गई, विषय अपनी व्यापकता में असीम होता चला गया। समस्या यह उठी की इस प्रबन्ध की सीमा में शृंगार के सैद्धान्तिक पक्ष की ही स्थापना की जाए या उसके पार्थिव और अपार्थिव दोनों प्रकार के प्रयोगात्मक पक्ष का भी साथ-साथ वर्णन प्रस्तुत किया जाए। यह मानते हुए कि दोनों के बीच में कोई लौह दीवार नहीं खड़ी की जा सकती, अन्तरात्मा यही कहती थी कि विषय के वैशद्य और उसके साथ न्याय करने के लिए एक प्रबन्ध में दोनों का न लिया जाना ही उचित है। प्रबन्ध के नाम के साथ संकेतित दो छोर—भरत और पण्डितराज जगन्नाथ सैद्धान्तिक सीमा में सिमट कर काम करने के औचित्य का ही समर्थन करते हैं। यही कारण है कि प्रस्तुत प्रबन्ध की परिधि में शृंगार रस के सिद्धान्त पक्ष से सम्बद्ध मान्यताओं का ही विवेचन किया जा रहा है।

रतिप्राण शृंगार का सैद्धान्तिक विवेचन आलंकारिकों और कुछ रसिकाचार्य भक्तों ने किया है। आलंकारिक रस की शास्त्रीय मर्यादा, उसके घटक या उद्भावक तत्त्वों की समीक्षा तथा उसके नाना भेदोपभेदों की चर्चा करते हुए काव्यरसों में शृंगार को रसराज मानकर मनुष्य की मौलिक एवं अत्यन्त प्रबल वृत्ति रति की परिव्याप्ति और उसके स्थायित्व की चर्चा करता है। भरत के नाट्शास्त्र से लेकर पडितराज जगन्नाथ तक के रस-सम्प्रदाय के नाना लक्षण ग्रन्थ कुछ ऐसी ही सीमा में बँध कर चलते हैं। सिद्धान्त पक्ष में शृंगार का दूसरा रूप जिसे पार्थिव न कहकर अपार्थिव कहना ही उपयुक्त होगा, रसिकाचार्य भक्तों की रचनाओं में मिलता है।

उन्होंने भारत की रस-विवेचन-प्रणाली को आधार मानकर मधुर रस का विशद विवेचन प्रस्तुत किया और उस प्रणाली में अनेक मौलिक परिवर्तन भी किए। यह कार्य सम्पन्न हुआ बगाल के गौड़ीय वैष्णव समाज एवं चैतन्य-सम्प्रदाय में दीक्षित वृन्दावन के गोस्वामि मण्डल द्वारा। प्रस्तुत प्रबन्ध की यही सीमा है। उन रसिकाचार्य भक्तों (मुख्यतः निम्बार्क, वल्लभ और हित-हरिवंश) को जिन्होंने शास्त्रीय विवेचन के प्रपंच में न पड़कर राधामाधव की रह: केलि के विस्तार से शृंगार रस के अंगों और उपांगों को समृद्ध किया है तथा उसके संयोग-वियोग पक्षों के सम्बन्ध में विशेष परन्तु परोक्ष दृष्टि दी है, प्रस्तुत प्रबन्ध से बाहर ही रखा गया है। विवेचन में कालानुक्रम का ध्यान तो रखा गया है, परन्तु शृंगार के सम्बन्ध में मौलिक दृष्टि देने वाले आचार्यों को उनकी विशिष्ट देन का ध्यान रखते हुए भरत के बाद ले लिया गया है। उन दो एक ग्रन्थों को जिन्हें मूलतः संग्रहात्मक कहा जा सकता है बाद में ही स्थान मिला है। शृंगार रस का विषय ही ऐसा है कि उसके साथ काव्यशास्त्रीय, भक्तिशास्त्रीय, तन्त्रशास्त्रीय, और कामशास्त्रीय समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। उस पर विविध अनुपातों में दार्शनिक और औपनिषदिक बोझ भी है—बोझ इसलिए कि रति के लिए सदा सहजरूप में उसे झेल पाना कठिन लगता है। जहाँ-तहाँ काव्येतर तत्त्वों का जमघट और उनकी रसोपयोगिता और काव्योपयुक्तता का प्रश्न भी कम जटिल नहीं है। इस सन्दर्भ में पाशविक मिलन या मांसाचार की प्रवृत्ति के द्योतक कामोपचार-बहुल चित्रों को कहां तक प्रश्रय दिया जाए, यह भी विचारणीय है। एकेडेमिक आरोप के फलस्वरूप काव्यशास्त्र में जो शब्दव्यूह बन कर तैयार हुआ है उसे साहित्यिक स्वास्थ्य के लिए कितना उपयुक्त कहा जा सकता है? कान्ताभाव की रति जिसमें स्वभावतः जडासक्ति का चरमोत्कर्ष लोक मे देखने को मिलता है, वह रसरूप में अपनी परिणति के समय, उज्ज्वल, शुचि, मेध्य हो जाने के कारण कहाँ तक अपनी लौकिकता और जडोन्मुखता का परित्याग कर, अलौकिक, चिन्मुख एवं हृद्य मानस-रसायन प्रस्तुत कर पाती है, यह भी ध्यान देने की बात है। शृंगार रस की सही समझ के लिए इन सब का लेखा-जोखा आवश्यक है और वह विवेचन में उपयुक्त अवसर पर प्रस्तुत किया गया है। उसके सहारे एक सीमा में शृंगार रस का समष्टि-चिन्तन मुखरित हुआ है और कुछ ऐसे निष्कर्ष भी निकले हैं जिनसे मूल मान्यताओं की प्रभाविता पर भी आँच आई है। पर यह सब कुछ विषय की स्पष्टता को ध्यान में रखकर ही हुआ है, क्योंकि उससे कुछ ग्रन्थियाँ खुली हैं और कुछ विसगतियां भी दूर हुई हैं।

परिशिष्ट में दी गई सन्दर्भ ग्रन्थसूची में निर्दिष्ट ग्रन्थ वे ग्रन्थ हैं जिन पर शोधप्रबन्ध में विवेचन हुआ है या जो उसमें उद्धृत हुए हैं। इन्हें मैं अपने प्रबन्ध का उपादान कारण मानता हूं। सहायक ग्रन्थसूची में वे ग्रन्थ हैं जिनका शोध के सम्बन्ध में मुझे पूर्णतः या अंशतः अध्ययन करना पडा है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध हिन्दी-संस्कृत के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डा० हरवंश लाल शर्मा पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत-हिन्दी-विभाग, वर्तमान आचार्य एवं अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़ के निर्देशन में सम्पन्न हुआ है। विषय के अध्ययन, सामग्री-संकलन आदि के सम्बन्ध में आपके अमूल्य परामर्श, आपकी प्रेरणा और आपके स्नेहपूर्ण प्रोत्साहन से बल पाकर ही मैं इस कार्य को सम्पन्न कर पाया।

अन्त में मैं उन समस्त विद्वानों के प्रति अपना आभार प्रदर्शित करता हूँ जिनसे मैं प्रत्यक्षतः और परोक्षतः (कृतियों के द्वारा) उपकृत हुआ हूँ।

रमाशङ्कर जैतली

विषय प्रवेश

शृंगार की पृष्ठभूमि में रसमीमांसा

किसी तत्त्व को लेकर उसका व्यापक एव गम्भीर चिन्तन भारतीय मनीषी का सनातन गुण रहा है। उसकी मन:स्थिति ऊपरी सतह पर बिखरे हुए तत्त्वों को अनायास बटोर कर प्रदर्शित करने की कभी नहीं रही। वह पक्का गोताखोर है। गोता लगाकर वह जिन तत्त्व-रत्नों को निकाल कर लाता है, उन्हें जीवन से सम्बद्ध कर देता है। प्रदर्शन की स्पृहा तो उसमें होती ही नहीं। वह कौन है इस पर मौन रहता है, अन्यथा हम आज क्यों उन तत्त्वदर्शियों के सम्बन्ध मे अन्धकार में रहते। उनमें से कुछ तत्त्व तो इतने महत्वपूर्ण होते हैं कि वे सम्भवत: जीवन के प्रत्येक अग के साथ संबद्ध हो जाते हैं। यह स्थिति तभी आपाती है, जब कई तत्त्वचिन्तक एक ही सज्ञा शब्द पर विभिन्न दृष्टियों से विचार करते हैं और उस शब्द के साथ अपनी नवीन चिन्तनधारा सयुक्त कर देते हैं। यह दूसरी बात है कि प्रत्येक क्षेत्र में चिन्तनधारा आपातत: अलग-अलग बनती चली जाती हो, पर मूल भावना सर्वत्र बहुत कुछ एक-सी ही रहती है। कारण यह है कि प्रत्येक क्षेत्र में विचारों का आदान-प्रदान होता रहता है, फलस्वरूप अन्य क्षेत्रों के विचारों. परिभाषाओं और मूल चेतनाओं की छाया अन्यत्र मिल जाती है। ऐसे सर्वगामी सज्ञा शब्द के विवेचन में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। ऐसे स्थल पर न्याय तभी हो सकेगा, जबकि उसे उसकी पार्श्वभूमि के सन्दर्भ में रख कर देखा जाय।

भारतीय वाङ्मय में रस, भाव, गुण, कर्म आदि कुछ ऐसे ही सर्वगामी स्वरूप के संज्ञा शब्द हैं जिन्होंने भारतीय विचारधारा को कई ओर से परिपोषित और सम्पन्न किया है। रस शब्द उनमें सबसे महत्वपूर्ण है। जीवन के निम्नातिनिम्न तत्व से लेकर उसके सर्वातिशायी तत्त्व तक इसकी व्याप्ति है। यही कारण है कि इसका चिन्तन नाना दृष्टियों से हुआ है। आयुर्वेद, नाट्य, तंत्र, कामशास्त्र, दर्शन, छन्दशास्त्र, संगीत, काव्य. मूर्तिकला, चित्रकला आदि मे प्राप्त विवेचन इसके साक्षी है। सर्वत्र रस की एक-प्राण-परम्परा मिलती है। सभी विवेचनों में रस के कुछ ऐसे मूलतत्त्व पल्लवित और विकसित हुए हैं जो कि बहुत कुछ एक जैसे ही हैं। प्रसंग चाहे विषयानन्द का हो, रसानन्द का हो या ब्रह्मानन्द का हो, विवेचन चाहे आयुर्वेद की दृष्टि से किया गया हो, या तन्त्रशास्त्र, नाट्यशास्त्र, कामशास्त्र की दृष्टि से, रस के सामान्य मूलतत्त्व सर्वत्र बहुत कुछ एक जैसे ही मिलेंगे। इसमें कोई संदेह

नहीं कि भारतीय दृष्टि ने रस के सभी पहलुओं का व्यापक और गम्भीर दृष्टि से पूर्ण एवं विशद विवेचन किया है। उसकी रसाराधना किसी अंग से परिहीन नहीं हुई। उसने उसके लिए रुचि-वैचित्र्य के कारण ऋजु-कुटिल नाना पथ अपनाए, नाना विवेचन प्रस्तुत किये, पर उसके सारभाग को आंखों से ओझल कभी नहीं होने दिया। यही उसके चिन्तन की अखण्डता है जो कहीं व्याहत नहीं हुई। इसी बात को ध्यान में रख कर मैंने ऐसे सर्वगामी संज्ञा शब्द के विवेचन में सावधानी बर्तने और उसे उसकी पार्श्वभूमि के सन्दर्भ में रखकर देखने को कहा है। मैं यहां केवल रस शब्द को लेकर उसके विभिन्न प्रसंगों एवं प्रयोगों के आधार पर विवेचन करता हुआ किसी एक सामान्य निष्कर्ष पर पहुंचने का प्रयत्न करूंगा। शृंगार की पृष्ठभूमि के रूप में यह विवेचन अत्यन्त आवश्यक है।

रस शब्द का विभिन्न अर्थों में संकेत आरम्भ से ही मिलता है। वैदिक-साहित्य में यह शब्द नाना अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यहां प्रसंग से सम्बद्ध कुछ अर्थ प्रस्तुत हैं—

१. वैदिक साहित्य में रस शब्द सार के अर्थ में बहुत प्रयुक्त हुआ है। जिस पदार्थ को सारभूत एवं अत्यन्त महत्व का बताना हुआ, रस शब्द से अभिधान कर दिया—

(क) यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम्।
रिपुस्तेनः स्तेयकृदभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा तना च॥

—ऋग्वेद ७।१०४।१०

(ख) अन्नात्परिश्रुतो रसं ब्रह्मणा।

—यजुर्वेद १९।७५

(ग) एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसः।
अपामोषधयो रस औषधीनां पुरुषो रस पुरुषस्य
वाग्रसो वाच ऋग्रसः ऋचः साम रसः साम्न उद्‌गीथो रसः।

—छान्दोग्य १।१।२

(घ) ते वा एते रसानां रसाः। वेदा हि रसाः।

—छान्दोग्य ३।५।४

(ङ) स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत् तस्यास्तप्यमानाया रसान् प्रावृहत्······

—छान्दोग्य ४।१७।४

(च) स एष पुरुषोऽन्नरसमयः।

—तैत्त०उप० १।१।२

(छ) रसः सारः चिदानन्द-प्रकाशः।

—मैत्र्युपनिषद्

२. द्रव, आर्द्रता और मधुरता के अर्थ में भी रस शब्द का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। सोमद्रव (रस) अत्यधिक मधुर, हृद्य, मादक और आकर्षक माना गया है। वह जीवन के लिए आवश्यक स्फूर्ति और चेतना प्रदान करता है। इसीलिए 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' कहलाता है। यह कामना की जाती है कि अद्रिप्रभव सोम मधुररस अर्थात् अपने द्रव का खूब क्षरण करें—

(क) आनो विश्वेषां रसं मध्वः सिचन्त्वद्रयः।

—ऋग्वेद ८।५३।३

इस पर सायण भाष्य इस प्रकार है—

विश्वेषां सर्वेषां नोऽस्माकं सम्बन्धिनः अद्रय अद्रिप्रभवास्ते सोमाः मध्वः मधुरं रसम् आत्मीयं द्रवम् आसिचन्तु कात्स्र्न्येन क्षरन्तु।

(ख) दूसरा प्रसंग शतपथ ब्राह्मण का है। वहां सारवान् होने के कारण गायत्री आदि छन्दों को रस कहा गया है। रस की आर्द्रता तो प्रसिद्ध ही है। ऐसे छन्दों का पाठक के हृदय को आर्द्र कर देना स्वाभाविक ही है।

गायत्र्यादीनि छन्दांसि हि रसः। आर्द्र उ वे रसः।

—शतपथ ब्राह्मण ७।३।१

(ग) कूर्मेष्टका प्रकरण में उसकी रसात्मना प्रशंसा करके मधु से अभ्यंजन का विधान किया गया है। इस विधान के लिए 'मधुवाता ऋतायते' (वा. सं. १३।२७–२९) आदि तीन गायत्री मंत्र निर्दिष्ट हुए हैं जिनका सार है कि हमारे लिए वायु सदा मधुर रस का क्षरण करते रहें। औषधियां माध्वी हों। रात्रि और उषा सदा मधु बनकर आएं। पार्थिवरज मधुर हो। पितृस्थानीय द्यौ और यज्ञसाधनभूत अश्वत्थ वनस्पति आदि मधुमान् हो जाएं। सूर्य मधुमत् हो और गाएं मधुर क्षीर से युक्त हों। मधु की इतनी व्यापक भावना की गई है कि उसके सिंचन से विश्व का कण-कण मधुर हो उठा है।

रसो वै मधु। रसमेवास्मिन्नेतद्दधाति। गायत्रीभिस्तिसृभिः।

—शतपथ ब्राह्मण ७।५।१–४

३. सोमरस-प्रसंग में आस्वाद रूप में भी अर्थ-विकास देखने को मिलता है। यहां स्फूर्ति, शक्ति, मद और आह्लाद अर्थों का भी विकास हुआ। आह्लाद आरम्भ में भौतिक रहा पर अन्त में आध्यात्मिक आह्लाद भी वर्णित हुआ।

अकामो धीरो अक्तः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्च नोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ।।

अथर्व० १०।८।४४

४. रसात्मक–अमृतमय होने के कारण रस का प्रीणन अर्थात् आप्यायन भी विशेष धर्म है । समस्त जगत् के आहनन–शील वृत्र के इन्द्र के द्वारा नष्ट कर दिये जाने पर अग्नि ने अपनी स्वाभाविक दीप्ति पा ली । सूर्य को उसकी प्रखर किरणें मिल गईं । रसात्मक–अमृतमय–सोम जगत् का प्रीणन करने लगा । इससे सम्बद्ध मंत्र इस प्रकार है—

(क) निरग्नयो रुरुचुर्निरुसूर्यो निःसोम इन्द्रियो रसः ।
निरन्तरिक्षादधमो महामहिं कृपे तदिन्द्र पौस्यम् ।। ८।३।२०

सोम की रसात्मकता और पोषकता अब तक अव्याहत रूप से चल रही है और विज्ञान भी उसके पक्ष में है । सम्पूर्ण जगत् को सोमरूप से पोषण करने वाले परमेश्वर के इस प्रभाव का कथन गीता में भी मिलता है—

पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमोभूत्वा रसात्मकः ।

—गीता १५।१३

(ख) शतपथ ब्राह्मण में भी यह प्रसंग सोमरस के साथ आया है जहां आप्यायन के अतिरिक्त व्याप्ति भी रस का विशेष धर्म अभिहित हुआ है—

आत्मा वा अग्निः । रसः सोम । आत्मानं तद्रसेनानुसजति । तस्मादयमात्मा रसेनानुषक्तः ।

—शतपथ ७।३।१

इस पर सायणभाष्य इस प्रकार है—

आत्मानं शरीरम् आप्यायनहेतुना रसेन अनुषजति ....
तस्मादेव कारणात् अयमात्मा देहः आन्तम् शिरः—
प्रभृतिपादपर्यन्तम् रसेन अनुषक्तः व्याप्तो दृश्यते ।

५. यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम् ।
सर्वंस पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना ।।
..........तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरम् ।

—ऋग्वेद ६ । ६७ । ३१, ३२.

यहां रस का प्रयोग निश्चित रूप से वाणी के रस के लिए हुआ है। परन्तु ऐसे प्रयोग व्यावहारिक दृष्टि से ही प्रचलित जान पड़ते हैं, शास्त्रीय दृष्टि से नहीं।

६. वैदिककाल में आगे चलकर जब अध्यात्म-चिन्तन प्रारम्भ हुआ और 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' तथा 'यो वै भूमा तदमृतम् अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' के स्वर ने प्रमुखता पाई तो रस की भावना को कहीं अधिक व्यापकता मिली। रस आनन्द-रूपता का पर्याय समझा जाने लगा—'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति'। रस, आनन्द और ब्रह्म एक समझे जाने लगे। सृष्टि-स्थिति-लय सर्वत्र रसरूप आनन्द की व्याप्ति हो गयी। तैत्तरीय उपनिषद् ने घोषित कर दिया—

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।
आनन्दाद्धेयव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति।
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।"

—तैत्तरीय उप० ३।६.

रस को इस स्थान तक पहुंचने के लिए न जाने कितनी लम्बी यात्रा करनी पड़ी होगी, न जाने कितने दुगर्म पथ, वन-कान्तार पार करने पड़े होंगे। रस की यह उच्चभूमि परवर्ती रसवादियों के लिए एक प्रेरणा-स्रोत बन गई। उसमें उन्होंने अपनी रुचि के कुछ तत्वों को मिलाकर रसाराधना के नानारूप प्रस्तुत कर दिए और 'जाकी रही भावना जैसी, हरि-मूरत देखी तिन तैसी' की बात को चरितार्थ कर के दिखा दिया।

आयुर्वेद तो रस को अपना सर्वस्व मान कर चलता है। उस पर उसकी चिकित्सा-पद्धति आधारित है। यदि उसके पास रस का सम्बल न हो, वह एक भी पग आगे नहीं बढ़ सकता। रस के बिना वह सचमुच अकिंचन है। यही कारण है कि आयुर्वेद में रस का विवेचन अत्यन्त व्यापक दृष्टि से किया गया है। पहले यह विवेचन विशुद्ध भौतिक दृष्टि से हुआ और आगे चलकर इसे दार्शनिक दृष्टि भी प्राप्त हुई। कुछ और लिखने से पूर्व यहां मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि रस से पारद और उस वर्ग के अन्य द्रव्यों के सम्मिश्रण से बनी औषधियां ही नहीं ली जानी चाहिएं। यह तो उसका एक पहलू है और वह भी बहुत बाद का। रस की आयुर्वेदोक्त परिभाषा वैशेषिक दर्शन से बिल्कुल मिलती है। वैशेषिक मत में रसनेन्द्रियग्राह्य गुण रस माना जाता है। उसके मधुराम्ल-लवण-कटु-कषाय-तिक्त छः भेद होते हैं। पृथिवी और जल में उसकी स्थिति मानी जाती है। पृथिवी में षड्विध

अर्थात् सभी प्रकार के रसों की स्थिति मानी जाती है, और जल में केवल मधुर रस की ।[1] महामुनि चरक अपनी संहिता में रस को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

> रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा ।
> \+ \+ \+ \+ ॥
> स्वादुरम्लोऽथ लवणः कटुकस्तिक्त एव च ।
> कषायश्चेति षट्कोऽयं रसानां संग्रहः स्मृतः ॥

इस दृष्टि से रस की स्थिति कहां नहीं है ? वह एक सर्वव्यापक तत्व है । वह वस्तुतः नामरूपात्मक जगत् का आधेय है । जल एवं पृथिवी उसके आधार कारण हैं तथा आकाश, वायु और तेज उसके अप्रधान कारण । इन पंचमहाभूतों से उसकी निष्पत्ति होती है और वह जगत् के जीवन, पुष्टि, बल और आरोग्य का मूलतम कारण है । उपनिषद् में भी इस रस की व्यापकता और महत्व पर अच्छा प्रकाश डाला गया है । प्रसंग इस प्रकार है—आत्मा से आकाश सम्भूत हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से औषधियां, औपधियों से अन्न, अन्न से रेत और रेत से पुरुष । इसलिए पुरुष अन्नरसमय है । दूसरे शब्दों में वह रसमय ही है ।[2] चरक शारीरस्थान अध्याय तीन में माता, पिता, आत्मा, सात्म्य, रस तथा मन आदि छहों भागों को समुदित रूप से कारण मानते हुए रस के कारणत्व की प्रतिष्ठा में महर्षि चरक बताते हैं कि गर्भ रसज भी है । रस के बिना तो माता की प्राणयात्रा भी नहीं हो सकती, गर्भजन्म का तो क्या कहना । यथाविधि उपयोग न किए गए रस गर्भ को नहीं उत्पन्न करते । रस से ही शरीर उत्पन्न होता है, बढ़ता है और उसमें प्राण का अनुबन्ध होता है । उसी से उस की तृप्ति (जहां-जहां जिस-जिस धातु की कमी है उसे पूर्ण करना) और पुष्टि होती है और वही उसमें स्फूर्ति और उत्साह का आधान करता है—

> रसजश्चायं गर्भः । नहि रसादृते मातुः प्राण-यात्रापि स्यात्
> किं पुनर्गर्भजन्म, न चैवमसम्यगनुपभुज्यमाना रसा गर्भमभिनि-
> र्वर्तयन्ति ।.........शरीरस्याभिनिर्वृतिरभिवृद्धिः
> प्राणानुबन्धस्तृप्तिः पुष्टिरुत्साहश्चेति रसजानि ।

—चरक शारीरस्थान अ० ३।१८.

---

१. रसन-ग्राह्यो गुणो रसः । स च मधुराम्ललणकटुकषायतिक्तभेदात्षड्विधः । पृथिवी-जलवृत्तिः । तत्र पृथिव्यां षड्विधः । जलेतु मधुर एव ।
—तर्क संग्रह

२. तस्माद्वा एतस्मादात्मनआकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधिभ्योऽन्नम् । अन्नाद्रेतः । रेतसः पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ।
—तैत्तरीय उप० २ । १.

सुश्रुत अध्याय तीन का निम्न उद्धरण भी उक्त तथ्य का समर्थक है—

शरीरोपचयो बलं वर्णः स्थितिर्हानिश्च रसजानि ।
अन्नात्पानाच्च मतिमानाचाराच्चाप्यतन्द्रितः ।

इसीलिए महर्षि सुश्रुत रस की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करते रहने पर बल देते हैं—

रसजं पुरुषं विद्याद्रसं रक्षेत्प्रयत्नतः ।

—सुश्रुत संहिता १४ । १२

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आयुर्वेद में रस उसका सर्वस्व है, वह सर्वात्मा है । रसार्णव का मंगलश्लोक रस की वास्तविकता का निदर्शक है, उसमें अल्पमात्र भी अत्युक्ति का पुट नहीं—

यस्मिन्सर्वं यतः सर्वः यः सर्वः सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ।

—रसार्णव, पटल १-१

आयुर्वेद में आरम्भ में रस की भावना मुख्यतः निम्न रूपों में हुई है—

१. क. आहार रस

ख. रस धातु

ग. ओषधिरस (स्वरस)

घ. मांस रस

२. पारद और उसकी भावना से निर्मित अन्य औषध जो रस कहलाते हैं—

क. रस (पारद) भौतिक रूप

ख. रस (पारद) आध्यात्मिक रूप

इनमें संख्या एक के अन्तिम दो रस सेवन के उपरान्त सुविधा की दृष्टि से आहार रस में ही सम्मिलित कर लिए जाएं तो अच्छा होगा । क्योंकि गले से नीचे उतर जाने के बाद वे भी आहार ही कहे जा सकते है । आहार का अर्थ ही है–'आहार्यंते गलादधोनीयते इत्याहारः ।' ये आहार्यद्रव्य दो स्थानों से प्राप्त होते हैं–१. स्थावरों (वृक्षादि) और जंगमों (गौ आदि पशु) से । भाविफल की दृष्टि से हित और अहित उनके दो प्रभाव हैं । पान, अशन (नरम चीज़ को सामान्यतः चबाकर

निगल जाना) भक्ष्य (कड़ी चीज को अच्छी तरह चबाकर निगलना) और लेह्य ये उनके चार उपयोग हैं और मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त ये छः प्रकार के स्वाद है—

> आहारः पुनर्द्वियोनिः, स्थावरजंगमात्मकत्वात्; द्विविधः
> प्रभावः हिताहितोदर्कविशेषात्; चतुर्विधोपभोगः पानाशन-
> भक्ष्य-लेह्योपयोगात्; षडास्वादः रस-भेदतः षड्विधत्वात् ।

—चरकसूत्रस्थान २५-३५.

अपने गुणों के कर्म-विस्तार से यही आहार असंख्य प्रकार का हो जाता है। यही आहार जब आमाशय में पहुंचता है तो जठराग्नि उसको रस और मल के लिए पकाती है। उस आहार पर आमाशय में आने से पूर्व मुख में लाला-क्रिया हो चुकी होती है और आमाशय में पहुंचने पर उसमें आमाशय रस (गैस्ट्रिक जूस) मिलता है। आमाशय से ग्रहणी में पहुंचने पर उसमें क्षुद्रान्त्रीय रस, पित्तरस और पाचकरस मिलते हैं। यहां आहार-रस रसधातु बनता है। इस रस धातु को विक्षेपकरणशील व्यान वायु सदा शरीर में सब ओर फेंकती रहती है। फिर प्रसादज धातुरस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेदा, मेदा से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से वीर्य और वीर्य से गर्भ उत्पन्न होता है—

> रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च ।
> अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रसादजः ।।

—चरकचिकित्सास्थान १५-१५

यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यह आहार रस ही उत्तरोत्तर धातुओं को आप्लावित कर के केदारकुल्यान्यास से उनका पोषण करता है। वही रस सब धातुओं में व्याप्त होकर उनका पोषण करता हुआ उन्हें शक्तिमान् बनाता है। यह सब कुछ उसी प्रकार होता है जैसे कुल्या (छोटी नहर) का जल पहले केदार (बड़ी क्यारी) को सींचकर पीछे क्रमशः दूसरी क्यारियों को सींचता जाता है, उसी प्रकार एक ही रस एक ही मार्ग से क्रमशः उत्तरोत्तर धातु में पहुंचकर उनका पोषण करता है। यहां तो रस का मल-भाग भी बेकार नहीं जाता। उससे स्वेद, मूत्र, पुरीष, वात, पित्त, कफ़ तथा कान, आंख, नाक, मुख एवं प्रजनन के मल, केश, मूंछ, दाढ़ी, लोम तथा नख आदि अंग पुष्ट होते हैं।

षड्रसों में प्रत्येक अपनी विशेषता रखता है, और जीवन के लिए अत्यावश्यक है। उनमें से मधुर रस शरीर के सात्म्य होने से रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, ओज और वीर्य का वर्धक, आयुष्य, ज्ञानेन्द्रिय एवं मन का प्रसादक, प्रीणन,

जीवन (जीवनी शक्ति का देने वाला), तर्पण (तृप्ति करने वाला), बृंहण (पुष्टिकर) तथा स्थैर्यकर है—

"तत्र मधुरो रसः शरीर-सात्म्याद्रस-रुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जौजःशुक्राभिवर्धनम् आयुष्यः षडिन्द्रिय-प्रसादनः बलवर्णकरः.........प्रीणनो जीवनस्तर्पणो बृंहणः स्थैर्यकरः........"

—चरकसूत्रस्थान २६–६०

अम्लरस अन्न में रुचि पैदा करता है, अग्निदीप्त करता है, देह को पुष्ट करता है, जीवन देता है, मन को जगाता है, क्रियाशील करता है, इन्द्रियों को दृढ़ करता है, बल को बढ़ाता है......

"अम्लो रसो भुक्तं रोचयति, अग्निं दीपयति, देहं बृंहयति, ऊर्जयति, मनो बोधयति, इन्द्रियाणि दृढीकरोति' बलं वर्धयति......"

—चरकसूत्रस्थान २६–६१

लवणरस पाचन, दीपन, आहार को रुचिकारक बनाने वाला, शरीरावयवों को मृदु करने वाला एवं रक्तवर्धक होता है—

"लवणो रसः पाचनो दीपनः सर्वशरीरावयवान् मृदूकरोति......रोचयत्याहारम्......रक्तं वर्धयति ।

—चरकसूत्रस्थान २६–६२.

इसी प्रकार अन्य रस भी अपनी अपनी विशेषता रखते हैं और जीवन के सम्पोषक माने जाते हैं। रस के मूल में बात ही यह है कि वह समस्त धातुओं का रसन-प्रीणन अर्थात् सात्म्यकरण का कारण होता है अतः रस कहलाता है—

'रसनात् सर्वधातूनां रस इत्यभिधीयते ।'

—रसरत्नसमुच्चय अध्याय ७–७६.

इसके इस वैशिष्ट्य को हमारे आचार्यों ने अच्छी तरह पहचाना था। तभी तो रस की परिभाषा करते समय उक्त प्रसंग को दृष्टांत रूप में उपस्थित करके साहित्यिक रस को समझाने का उन्होंने प्रयत्न किया है। भरतमुनि का कथन है कि जिस प्रकार नाना व्यंजनौषधिद्रव्य-संयोग से रस-निष्पत्ति होती है उसी प्रकार नाना भावों के उपगम से रस-निष्पत्ति होती है।[3] इसके बाद प्रश्न उठा है कि रस किसे कहते हैं ?

---

३. यथाहि नाना व्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगात् रस-निष्पत्तिः तथा नाना भावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः ।

—नाट्यशास्त्र । अध्याय ६

प्रश्न उचित ही है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी अभिनव-भारती में इस प्रश्न को और स्पष्ट किया है। रस शब्द जब मधुरादिरस, पारद, सार, क्वाथ, धातु आदि का प्रवृत्तिनिमित्त बन चुका है तब उसे शृंगार आदि रसों मे प्रवर्तित करने से क्या प्रयोजन ?[४] उत्तर है क्योंकि दोनों में आस्वाद्यता पाई जाती है अतः शृंगारादि रसों का भी रस शब्द से अभिधान किया जा सकता है। यद्यपि रसनेन्द्रिय-जन्य ज्ञान ही आस्वादन होता है और वह शृंगारादि रसों में सम्भव नहीं परन्तु दोनों में भोग्य, भोक्ता और फल की दृष्टि से कुछ ऐसा साम्य पाया जाता है कि शृंगारादि रसों में उपचारतः आस्वादन-क्रिया मानली जाती है। जिस प्रकार सुसंस्कृत मन वाले पुरुष नाना व्यंजन संयुक्त अन्न का उपयोग करते हुए रस का आस्वाद लेते है और हर्षादि को प्राप्त करते हैं उसी प्रकार सहृदय प्रेक्षक नाना अभिनयों से व्यंजित वागंगसत्वोपेत स्थायिभावों का आस्वाद लेते हैं और हर्ष आदि का अनुभव करते हैं।[५] तात्पर्य यह है कि दोनों के आस्वादन मे भोग्य, भोक्ता और फल की दृष्टि से साम्य है। जिस प्रकार व्यंजन-संयुक्त अन्न आस्वाद्य होता है, एकाग्रमन भोक्ता आस्वादयिता होता है—क्योंकि बिना एकाग्रता के भोक्ता को आस्वाद का अभिमान नहीं हो सकता—और आस्वाद के फल होते हैं प्रकृष्ट हर्ष आप्यायन, जीवनीशक्ति (वाइटेलिटी), पोषण, बल और आरोग्य, उसी प्रकार नाना अभिनयों से व्यंजित स्थायिभाव से व्यपदिष्ट रस में आस्वाद्यता होती है, वेद्यान्तरस्पर्श-शून्य और तदाकाराकारित-चित्तवृत्ति सामाजिक आस्वादयिता होता है और आस्वादन का फल होता है धर्मादि चतुवर्ग-प्राप्ति, व्युत्पत्ति और कलाओं में नैपुण्य।[६] बस इसी साम्य के आधार पर शृंगारादि रस कहे जाते हैं।

रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में भी इस प्रसंग में स्पष्ट कहा है कि मधुराम्लादि रसों के समान स्थायिभावों का भी रसन—आस्वादन होता है इसी कारण वे भी रस कहे जाते हैं। यह रसन न केवल स्थायिभावों का अपितु निर्वेदादि संचारिभावों का भी होता है अतः उन्हें भी रस कहा जा सकता है।[७] इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्यों ने शृंगारादि को जब रस शब्द से अभिहित किया तब उनके

---

४. मधुरादौ पारदे विषये सारे जलसंस्कारेऽभिनिवेशे क्वाथे देहधातोर्निर्यासे वायं प्रसिद्धो नटवन्यत्र। तेन रस इति पदस्य शृंगारादिषु प्रवर्तितस्य कोऽर्थः।

—अभिनव भारती, अध्याय ६, पृ० २८८.

५. यथाहि नाना व्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। —नाट्शास्त्र अध्याय ६

६. अभिनवभारती अ० ६. पृ० २८६.

७. रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनाभिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिस्वपि तन्निकाममस्तीति ते पि रसाः॥ —काव्यालंकार १२-४.

दिमाग में आयुर्वेद की रसक्रिया थी और उसी के कर्म-कर्तृ-फल-सादृश्य के कारण विभावानुभावव्यभिचारि से जायमान प्रतीति-विशेष को ही उन्होंने रस कहा। इस क्रिया-साम्य की स्पष्टता के लिए अच्छा हो यदि काव्यालंकार और रसरत्नसमुच्चय की पंक्तियों को तुलना के लिए एक साथ उद्धृत कर देखा जाए—

रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।

—काव्यालंकार १४–४

रसनात् सर्वधातूनां रस इत्यभिधीयते।

—रसरत्नसमुच्चय १–७६

पारद ने आकर तो आयुर्वेद की रसचिकित्सा-पद्धति में युगान्तर-प्रवर्तन कर दिया। परम्परा बताती है कि रसरूप में पारद के प्रवर्तक नागार्जुन थे। रसरत्न-समुच्चय में इसका उल्लेख मिलता है—

नागार्जुनेन संदिष्टो रसश्च रसकावुभो।

—रसरत्न०

पारदादि रस रोगनिवारण के लिए सर्वोत्तम समझे जाते है। औषध की मात्रा कम से कम, लाभ अधिक से अधिक और वह भी इतनी शीघ्रता से कि दर्शक चकित रह जाय। शक्ति इतनी मिले कि मानव अतिमानव लगने लगे, रोग कभी पास न फटके और मौत पास आते डरे। जरा, रोग और मृत्यु-नाश के लिए रसित होने के कारण ही ये रस कहे जाते हैं—

जरारुङ्मृत्युनाशाय रस्यते वा रसो मतः।

—रसरत्न० १-७६

साध्य रोगों के लिए तो काष्ठौषधि या भस्म आदि का उपयोग सिद्धि दे सकता है चाहे विलम्ब से ही सिद्धि मिले, परन्तु असाध्य रोगों मे तो उक्त औषधियां निष्फल होती है। वहां तो पारद ही काम करता है। काष्ठौषधि या भस्म में उसकी भावना कम से कम उसकी बीसगुनी शक्ति बढ़ा देती है। मारक औषधियों द्वारा मृत पारद जरा और अपमृत्यु का एवं मूर्च्छित पारद व्याधि का नाशक होता है तथा बद्ध पारद खेचरता—गगन-संचरण-शक्ति प्रदान करता है—

साध्येषु भेषजं सर्वमीरितं तत्ववेदिना ।
असाध्येष्वपि दातव्यो रसोऽतः श्रेष्ठमुच्यते ।।
हतो हन्ति जराव्याधिं मूच्छितो व्याधिघातकः ।
बद्धः खेचरतां धत्ते.........

--रसेन्द्रसार संग्रह १–४, ५

आयुर्वेद में इस रस के अनेक नाम हैं—

रसेन्द्रः पारदः सूतः सूतराजश्च सूतकः ।
शिवतेजो रसः सप्तनामान्येवं रसस्य तु ।।

पारद या इसके योग से बने अन्य रस रस, रक्त, मांस, भेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र धातुओं का सर्वाधिक प्रीणन करते हैं या जरा-मृत्यु-विघात के लिए रसित होते हैं, अतः इन्हें रस कहा जाता है—

रसनात्सर्वधातूनां रस इत्यभिधीयते ।
जरामृत्युविनाशाय रस्यते वा रसोमतः ।।

—रसरत्नसमुच्चय १–७६

टीका में रसनात् का पर्याय प्रीणनात् और सात्म्यकरणात् दिया है। रस का यह विशेषगुण है जो कि पारद में भी विद्यमान है।

इस शक्तिशाली तत्व को पाकर उसके सहारे मानवकल्याण की ओर रससाधकों का ध्यान गया। लौहसिद्धि (पारद के योग से लोहे को सोना बनाना) का ध्येय पहले सामने आया और उसके द्वारा जगत् को निर्दारिद्र्य करने की बात सोची गयी :—

सिद्धे रसे करिष्यामि निर्दारिद्र्यमिदं जगत् ।

यह चिन्तन केवल भौतिक कल्याण तक ही सीमित नहीं रहा, आध्यात्मिक जगत् की ओर भी बढ़ा और देहसिद्धि तथा उसके द्वारा मुक्ति एवं ब्रह्मपद-प्राप्ति इसका चरम लक्ष्य माना गया। पारद के सूत नाम के पीछे यही रहस्य है—

देहलोहमयीं सिद्धिं सूते सूतस्ततः स्मृतः ।

—रसरत्न समुच्चय १–७७

पारद शब्द की स्वयं निरुक्ति भी इस तथ्य का प्रतिपादन करती है कि पहले इसका उपयोग भौतिक दृष्टि से, बाद में आध्यात्मिक दृष्टि से किया गया -

रोगपंकाब्धिमग्नानां पारदानाच्च पारदः (भौतिक दृष्टि)
—रसेन्द्रसार संग्रह पृ० ५

संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः (आध्यात्मिक दृष्टि)
—सर्वदर्शन संग्रह पृ० २०२

ये सब यों हुआ—उपनिषदों में घोषित हो चुका था—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।' महामुनि चरक ने भी यह कहकर उसका समर्थन किया—'धर्मार्थ-काम-मोक्षाणामारोग्यं मूलकारणम्।' इससे सिद्ध होता है कि रोग-रहित और बलवान व्यक्ति ही ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। ऐसी स्थिति में देह-सिद्धि अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। वस्तुतः चिकित्साविद्या अध्यात्म-विद्या की है भी मुख्य अंगभूत। ब्रह्मकर्म का उपदेश देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में ज्ञान के साथ विज्ञान (जीवितोपायभूताविद्या) की भी ब्रह्मकर्म में गणना की है— 'ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यम्'। वैशेषिक दर्शन में भी 'यतोऽभ्युदय-निश्रेयससिद्धिः स धर्मः' कहकर निश्रेयस का मार्ग दिखाते हुए ऋषि ने अभ्युदय को उसका अंग बताया है। ईशोपनिषद् ने भी 'अविद्ययामृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' के द्वारा विद्या के साथ अविद्या (चिकित्सादिविद्या) की उपादेयता दिखला दी है। तो फिर जब रस और रसायनों से पिण्ड की रक्षा (देहसिद्धि) हो सकती है तो फिर क्यों न मुक्ति को करामलकवत् लिया जाए? प्रत्यक्ष उसका उपभोग क्यों न किया जाय? कासश्वासादि व्याधियों से समाक्रान्त एवं जरा-जर्जरित शरीर से मानव की समाधि क्या लगेगी? सोलह वर्ष तक तो वह बालक ही रहा, उसके बाद वह विषयरसास्वाद का लम्पट हो गया, फिर बुढ़ापे में जब उसकी ज्ञानेन्द्रियों की गति कुंठित हो गई और अपना समस्त विवेक खो बैठा, तब वह मुक्ति पाने लायक कहां रहा?—

बालः षोडशवर्षो विषयरसास्वादलम्पटः परतः।
यात–विवेको वृद्धो मर्त्यः कथमाप्नुयान्मुक्तिम्॥
—सर्वदर्शन संग्रह पृ० २०६

इसलिए देवों के लिए भी दुर्लभ जीवन्मुक्ति की यदि कामना है तो रस का सेवन करो। मरने के बाद मिला मोक्ष निरर्थक है। पिण्ड के पतित हो जाने पर तो गर्दभ भी विमुक्त हो जाता है—

जीवन्मुक्तिर्महादेवि! देवानामपि दुर्लभा।
पिण्डपाते च यो मोक्षः स च मोक्षो निरर्थकः।
पिण्डे तु पतिते देवि। गर्दभोऽपि विमुच्यते।
—रसार्णव १/८.६

अतः पुरुषार्थ–कामुकों के लिए समस्त विद्याओं का आयतन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल, अजर अमर शरीर ही उनका सबसे बड़ा श्रेय है, जिसके सहारे वे अपने प्रेय की अपरोक्षानुभूति करते हैं—

आयतनं विद्यानां मूलं धर्मार्थ-काम-मोक्षाणाम् ।
क्षेत्रं परं किमन्यच्छरीरमजरामरं विहायैकम् ॥

—सर्वदर्शन संग्रह पृ० २०८

ऐसी स्थिति में इस रसेश्वर दर्शन में रस ही सब कुछ ठहरता है। वही साधन है और आगे चलकर वही साध्य हो जाता है। इससे दिव्यतनु, दिव्यतनु से दिव्यदृष्टि और फिर दिव्यदृष्टि से रसानुभूति और तज्जन्य आनन्द– सब कुछ इसी जीवन में और वह भी प्रत्यक्ष। इतना आप्यायन और प्रीणन और कहां मिल सकता है ? इसलिए 'रसनात् रसत्वम्' के आधार पर सच्चे अर्थों में यह रस है। यही कारण है कि रसपूजा कई रूपों में हुई। ध्यान, स्पर्श, दान, सेवन एवं पूजन इसके प्रमुख पूजा–प्रकार माने गये– 'भक्षणं स्पर्शनं दानं ध्यानं च परिपूजनम् । पंचधा रस-पूजोक्ता महापातक-नाशिनी ।'–रसेन्द्रसार संग्रह पृ० २। इसके न जाने कितने प्रशस्तिपरक अर्थवाद मिलते हैं। यहां इन्हें उद्धृतकर विषय का व्यर्थ कलेवर बढ़ाना नहीं चाहता।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखने की बात है कि देह-सिद्धि का तात्पर्य वासना का कीट होना नहीं है। यह तो उसका सबसे बड़ा दुरुपयोग है। रसार्णवतन्त्र में देवी गौरी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् शंकर का कथन है कि मद्यमांस का सेवन करने वाले, भग-लिंग में रत, विनष्टबुद्धिजनों को रसज्ञान कभी नहीं होता। कुलशासन से हीन होकर भले ही लोग गोमांस–भक्षण एवं अमरवारुणी में प्रवृत्त रहें और अपने को धोखा देते रहें कि वे सद्दर्शन के आकांक्षी हैं, पर वे रस को सिद्ध नहीं कर सकते। अधम लोग उन्हें रसज्ञ कहते रहें परन्तु मैं तो उन्हें 'कु-लीन' (कुत्सित आचार में लीन) ही कहूंगा—

मद्यमांस-रता नित्यं भग-लिंगेषु ये रताः ।
तेषां विनष्ट-बुद्धीनां रसज्ञानं सुदुर्लभम् ॥
कुलशासन-हीनानां सद्दर्शनमकांक्षिणाम् ।
न सिद्ध्यति रसोदेवि पिबन्ति मृगतृष्णिकाम् ॥
गोमांसं भक्षयेद्यस्तु पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये रसज्ञमपरेऽधमाः ॥

—रसार्णव १।२४-२६

रसार्णव के टीकाकार तारादत्त पन्त 'कुलीनम्' की निरुक्ति इस प्रकार करते हैं–'कुत्सिते कदाचारे लीनम् सक्तं–कुलीनम्।' जब लौकिक शृंगारादि रस की

अनुभूति में जिस आनन्दमयी संवित् का उदय होता है वह सत्व के उद्रेक के बिना हो ही नहीं पाती तब अलौकिक रसानुभूति के प्रसंग में उक्त राजस या तामस प्रवृत्ति कैसे क्षम्य हो सकती है ? इसके लिए तो आवश्यक यह है कि देहसिद्धि करके योगाभ्यास में प्रवृत्त हो जाय और फिर तो परतत्त्व के साक्षात्कार हो जाने पर पुरुषार्थप्राप्ति निश्चित ही है। इस प्रक्रिया से कुछ ही पुण्यात्मा ऐसे होते हैं जो अपने भ्रूमध्य में चिन्मय ज्योति का दर्शन कर पाते हैं। फिर तो वे उसी में अपना ध्यान आहित कर देते हैं, समस्त जगत् उन्हें चिन्मय दीखता है और अखिल कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेते हैं—

भ्रूयुगमध्यगतं यच्छिखिविद्युत्सूर्यवज्जगद्भासि।
केषांचित्पुण्यदृशामुन्मीलति चिन्मयं ज्योतिः॥
तस्मिन्नाधायमनः स्फुरदखिलं चिन्मयं जगत्पश्यन्।
उत्सन्नकर्मबन्धो ब्रह्मत्वमिहैव चाप्नोति॥

—रसहृदय १।२१, १।२३

इसीलिए पारदादि रसों के द्वारा की गई चिकित्सा दैवी मानी जाती है—

शस्त्रच्छेदनयोगतोहि कलिता या दानवी साधमा।
चूर्णाद्यैः परिकल्पिता निगदिता सा मानवी मध्यमा॥
दैवीदिव्यरसायनैर्विचरिता सा वै चिकित्सोत्तमा।
तस्माद्देव चिकित्सित प्रबलयेत् कल्पद्रुवत् सिद्धिदम्॥

—रसयोगसागर पृ० ४

श्रुति भी रस और परब्रह्म में कोई भेद नहीं बताती—'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति।'

—तैत्तरीय उप० २।७।१

तो इस तरह संसार के दुःख-दैन्य के भार से उद्धार का उपाय केवल रस ही रह जाता है। वही विशुद्ध बुद्धिवालों का साध्य है, उसकी अपनी एक विशिष्ट दीप्ति है, उसके ज्ञात हो जाने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है— (तस्मिन्हि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति) और दैन्य एवं संसृति के भय से वही पार उतारता है—

यः स्यात्प्रावरणाविमोचन-धियां साध्यः प्रकृत्यापुनः।
सम्पन्नः सह तेन दीव्यति परं वैश्वानरे जाग्रति।
ज्ञातो यद्यपरं न वेदयतिच स्वस्मात्स्वयं द्योतते।
यो ब्रह्मेव सदैव ससृतिभयात्पायादसौ पारदः॥

—सर्वदर्शन सग्रह २०६

कामशास्त्र में रस का प्रयोग मुख्यतः 'रति' और 'कामशक्ति' के अर्थ में हुआ है। अधिकरण दो अध्याय एक के रतावस्थापन प्रकरण में रस को रति का पर्याय बताया गया है। उद्धरण इस प्रकार है—

'रसो रतिः प्रीतिर्भावो रागो वेगः समाप्तिरिति रतिपर्यायाः।'

यहां रति को रस इसीलिए कहा गया है क्योंकि रति का रसन—आस्वादन होता है। जिस प्रकार मधुरादि रस रसना से और काव्यनाट्यसंगीतादिगत रस सत्वोन्मेषयुक्त मन से रसित–आस्वादित होते हैं उसी प्रकार रति का उपस्थइन्द्रिय से रसन होता है-'उपस्थेन्द्रियेण रसनादनुभवाद्रसः'-जयमंगला टीका उक्त सूत्र पर। प्रक्रिया एक है, रसन के रूप में भले ही अन्तर हो। 'रसनात् अनुभवात्' से आस्वाद अर्थ की प्रतीति भी हो जाती है। यह है कामशास्त्रीय रस-निष्पत्ति जिसकी भावभूमि पर पहुंचकर रसिक को क्षोभ, उत्ताप, आवेग, जड़ता एवं व्यक्तित्व का संकोच प्राप्त होता है। यह सत्वोद्रेक से पहले की स्थिति है। इस स्थिति पर किया गया रस-वर्णन काव्य-शास्त्रीय रस-परिभाषा के अनुकूल नहीं होता, क्योंकि वह इन्द्रिय-निरपेक्ष न होकर इन्द्रिय-सापेक्ष रहता है। इसीलिए कामशास्त्रीय रस की दृष्टि से किए गये स्थूल शृंगारवर्णन सहृदयों की दृष्टि में साहित्यिक रस की उच्च-भाव-भूमिपर प्रतिष्ठित नहीं समझे जाते।

कामशास्त्र में रस का दूसरा अर्थ है 'कामशक्ति'। यह रस का शक्तिमूलक अर्थ है। इस शक्ति के उदित होने पर शरीर में उत्तेजना, स्नायुमण्डल में गति और पेशियों में व्यापार होना आरम्भ हो जाता है। यह है रतिशास्त्र के अनुसार रागोत्पीड की स्थिति जिससे मानव का समस्त शरीर आन्दोलित हो उठता है और उसके मन में कामचेतना तीव्रता से व्याप्त हो जाती है। यह स्थिति भी उत्ताप, श्रम और जड़ता की ही है। इस अर्थ की प्रतीति अधिकरण दो अध्याय दो के निम्न उद्धरण से होती है—

शास्त्राणां विषयस्तावत् यावन्मन्दरसा नराः।

अधिकरण छह, अध्याय दो के कान्तानुवृत्त प्रसंग के सूत्र पचपन 'तद्दिष्टरस-भावशीलानुवर्तनम्' से रस शब्द के शास्त्रीय अर्थ की ओर भी संकेत होता है। मूल में तो कोई स्पष्ट बात नहीं उल्लिखित हुई है, पर जयमंगला की व्याख्या स्पष्टतः उक्त अर्थ को ही अपनाकर चलती है—

'नायकस्य शृंगारादिषु य इष्टो रसोभावः स्थायिसंचारिसात्विकेषु लीलाचेष्टितानि तेषामनुवर्तनम्।'

रस की स्वरूप-यात्रा पर विचार करने से पता चलता है कि उसने परिस्थिति के अनुसार नानावेष बदले हैं। उसका व्यवहार शक्तिमूलक, सारमूलक, द्रवमूलक, आस्वादमूलक, माधुर्यमूलक, आनन्दमूलक आदि नाना अर्थों में मिलता है जो कि स्थूल से सूक्ष्म होता चला गया है, परन्तु उसकी मूल चेतना बहुत कुछ एक रही है। संस्कृत के कोश-ग्रन्थों में भी रस के नाना अर्थों का समाहरण किया गया है जो उसकी लम्बी यात्रा के द्योतक हैं—

रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयो: ।
शृंगारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे ॥

- विश्वकोश ।

रस की यह स्वरूप-यात्रा भावजगत् के रस को समझने के लिए उसकी पृष्ठभूमि के रूप में अत्यन्त आवश्यक है।

साहित्याचार्यों ने भावजगत् के रस का विवेचन कई रीतियों से किया है। काव्यकला के अतिरिक्त मूर्तिकला, चित्रकला एवं संगीतकला में भी रस को महत्व मिला है। संगीत में राग और ताल के अनुसार रस बदलते देखे गये हैं। चित्रकला में नवरस के प्रसंग तूलिका के सहारे चित्रित किये जाते हैं। रेखाओं द्वारा तथा विविध रंगों के साहचर्य से रस व्यक्त किए जाते हैं। मूर्तिकला में कलाकार की छेनी का रसाभिव्यक्ति में अपना विशेष महत्व रहता है। परन्तु इन प्रसंगों से सम्बद्ध रस, उसकी अभिव्यक्ति एवं तज्जन्य आनन्द पर कुछ कहने से पूर्व यह आवश्यक है कि रस का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ देख लिया जाए, क्योंकि इस रस के विवेचक आचार्यों की दृष्टि में वह अर्थ बराबर बना रहा और उसी के सहारे उन्होंने रस-विवेचन किया है।

रस के दो व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ इस प्रकार हैं—

(१) **रस्यते आस्वाद्यते इति रसः ।**

यह शब्द 'रस आस्वादे' धातु से 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' सूत्र से घ प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। इस दृष्टि से आस्वाद्यता रस का विशेष गुण है। आचार्य भरत स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—'रस इति कः पदार्थः। उच्यते-आस्वाद्यत्वात्।' यह आस्वादन रसनाव्यापार नहीं अपितु मानसव्यापार है, क्योंकि वह रस में अविकल रूप में विद्यमान है।[८] यह रस का आस्वादमूलक अर्थ है।

---

८. न रसनाव्यापार आस्वादनम्। अपितु मानस एव। सचात्राविकलोऽस्ति। -अभिनव भारती (नाट्यशास्त्र अ० ६ श्लोक ३३)

(२) सरति इति रसः ।

इस व्युत्पत्ति के अनुसार रस शब्द की रचना सृ–(सर) धातु के वर्ण-विपर्यय द्वारा 'पचाद्यच्' से हुई है। जिस प्रकार वृक्षों से रस स्रवित होता है या मुंह में रस आ जाता है, उसी प्रकार जब रसिक का हृदय किसी आकर्षक वस्तु को देखकर उस ओर स्रवित–रसित होता है तभी रसिक को अनुभव होता है कि उसे रस आया। यह चित्त-द्रुति की स्थिति व्यक्ति को स्व-पर-बन्धन से विमुक्त करती है और रसानुभूति का कारण बनती है। यह रस का द्रवमूलक अर्थ है। उक्त दोनों ही अर्थ भावमूलक रस की व्याख्या के लिए अत्यन्त आवश्यक ठहरते हैं। इनको ध्यान में रखकर ही भावक्षेत्र के विषयों की रसदृष्टि से मीमांसा प्रस्तुत है।

संगीत भावों की भाषा है और संगीतज्ञ सच्चे मानों में रस का साधक है। रस की सिद्धि ही उसके जीवन का ध्येय है और इसीलिए वह नादब्रह्म की उपासना करता है। वह बाईस श्रुतियों और सात स्वरों के सहारे हृदय के सभी स्थायिभावों को रस रूप से अभिव्यक्त कर देता है। यह तभी सम्भव है जबकि साधक श्रुतियों के अणु-अणु में विद्यमान भावराशि के मर्म को समझ ले और श्रुतियों से उत्पन्न होने वाले स्वरों के साथ उनका मेल बैठाले। इसके लिए बड़ी कठिन साधना की आवश्यकता है, इसीलिए अन्य कलाओं की अपेक्षा संगीत के द्वारा रसाभिव्यक्ति कहीं कठिन है।

संगीत के द्वारा होने वाली रसाभिव्यक्ति को समझने के लिए उसके मूलसिद्धान्तों की संक्षिप्त जानकारी आवश्यक है। संगीत की दृष्टि से आत्मा जब कुछ कहना चाहता है तो मन को प्रेरित करता है। उससे प्रेरित होकर मन देहस्थ उदर्य अग्नि को आहत करता है। वह अग्नि वायु को प्रेरित करती है। अग्नि से प्रेरित होकर ब्रह्मग्रन्थिस्थित वायु ऊपर उठकर अपने आघात से नाभि, हृदय, कण्ठ, मूर्धा और मुख में ध्वनि प्रकट करती है।[९] यही प्रथमक्षणगवर्ती श्रवणमात्रयोग्य ध्वनि श्रुति कहलाती है।[१०] इसके बाईस भेद हैं। इन्हीं श्रुतियों से सात स्वर बनते हैं। इसका तात्पर्य यह कि स्वरों के मूल में श्रुतियां हैं। उनके नाम भी उनके अन्दर वर्तमान भावों की ओर संकेत कर देते हैं। यह विवरण इस प्रकार है—

(१) **छन्दोवती**—	छन्दस् का अर्थ है स्वतन्त्र इच्छा या स्वेच्छाचरण। यह श्रुति मानसिक शान्ति एवं सन्तुलन, स्वतन्त्रता, पराक्रम और उदारता की ओर संकेत करती है।
(२) **दयावती**—	इसके क्षेत्र में करुणा, सहानुभूति, मृदुता और स्नेह आते हैं।

९. संगीतरत्नाकर १।३।३,४.
१०. वही १।३।८.

(३) रंजनी— मुख, प्रसन्नता, गुण-ग्रहण-शीलता एवं परगुण-प्रशंसन इसके विषय हैं।

(४) रक्ति— रक्ति का अर्थ है अनुकूलता एवं आकर्षण। यह श्रुति अद्भुतता, आसक्ति तथा धार्मिक आस्था के साथ किसी वस्तु से लगाव और आकर्षण की स्थिति बताती है।

(५) क्रोधा— क्रोध और अभिशाप मुख्यतः इसके क्षेत्र में आते हैं।

(६) वज्रिका— वज्र का अर्थ है फ़ौलाद। इसका सम्बन्ध कटु एवं तीव्र भाषा, खरी-खोटी बात और अभिशाप से है।

(७) प्रसारिणी— प्रसारण का तात्पर्य है विस्तार। इसका सम्बन्ध जिज्ञासा की पूर्ति के लिए किए गए नाना प्रश्न तथा किसी बात को बताने के लिए किए गए विस्तृत कथन से है।

(८) रौद्री— नाम से ही प्रकट है कि इसका सम्बन्ध गर्मी, तैश, उत्साह और अमर्ष से है।

(९) प्रीति— इसका सम्बन्ध प्रसन्नता, आनन्द, सन्तोष, पक्षपात, पुलक और स्नेह से है।

(१०) मार्जनी— इसका अर्थ है सफ़ाई और पवित्रता, दिल में कुछ न रखना—सब कुछ कहकर साफ़ कर देना, परिहास और स्नेह इसके विषय हैं।

(११) क्षिति— यह श्रुति क्षीण होना, घुलना और हानि की शिकायत की ओर सकेत करती है।

(१२) रतिका— प्रणय-केलि, सन्तोष और अनुकूल अर्थ में मन की प्रवणता-जैसे प्रसंग इसके क्षेत्र में आते हैं। आसक्ति, अनुरक्ति, उत्तेजना और चिन्तन इसके विषय हैं।

(१३) सन्दीपनी— सन्दीपन का अर्थ है ज्वलन या उत्तेजन। प्रेम की ज्वाला का दहकना और उसी के कारण उत्तेजन इसके विषय हैं।

(१४) आलापिनी— जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें प्रेमियों की बातचीत, उनकी प्रेमाभिव्यक्ति एवं अनुनय विद्यमान हैं।

(१५) **मदन्ती**— उत्कट राग, प्यार, मादकता, उन्माद, काममूलक प्रेम, मान, ईर्ष्यामूलक अमर्ष इसके प्रमुख धर्म हैं।

(१६) **रोहिणी**— इसमें नवयौवना में प्रेम, व्यथा या अन्य भावों का अंकुरण एवं विकास तथा एकान्त चिन्तन परिलक्षित होता है।

(१७) **रम्या**— रम् धातु यह संकेत करता है कि इसमें खामोशी, अकेलापन, चिन्तन एवं बाहरी दिखावे की ओर पूर्ण उपेक्षा विद्यमान है।

(१८) **उग्रा**— भावनाओं की उग्रता या भीषणता, आतंक और भय इसके अन्तर्गत हैं।

(१९) **क्षोभिणी**— विक्षुब्धावस्था, भीतरी हलचल, कम्प शक्तिहीनता, दयनीयता तथा उत्कटचिन्ता इसमें सन्निविष्ट हैं।

(२०) **तीव्रा**— तीव्रता, तीक्ष्णता, मन्यु—अदम्य साहस और तैश इसकी सीमा में पाए जाते हैं।

(२१) **कुमुद्वती**— कुमुद का अर्थ है अकारुणिक एवं अभिन्न। अतः इसके द्वारा अकारुणिकता, शत्रुता, घृणा, कटुआलोचना और उपालम्भ की स्थिति की अभिव्यक्ति में सहायता मिलती है।

(२२) **मन्दा**— इस श्रुति से सुस्ती निष्क्रियता, असहानुभूति, हर्ष एवं उत्साह की कमी का पता चलता है।

ऊपर किए गए श्रुतियों के वर्णन में भावजगत् की सम्पूर्ण सामग्री विद्यमान है। स्थायी, संचारी, सात्विक सभी भाव स्वानुकूल श्रुतियों के साथ सम्बद्ध दीखते हैं। इसके बाद कलाकार की क्षमता और साधना पर सब कुछ निर्भर है। वह जिस भाव या रस की अभिव्यक्ति करना चाहे या प्रबन्ध या मुक्तक के प्रकार को अपना कर जीवन के जिस व्यापक या खंडचित्र को प्रस्तुत करना चाहे, कर सकता है। आवश्यकता केवल यह रहती है कि परिस्थिति के अनुरूप वह अपना 'मूड' बनाले। फिर तो जिन श्रुतियों और स्वरों की उसने सच्ची साधना की है वे स्वतः उसके कण्ठ में आकर उन्नदित हो उठेंगे और कलाकार प्रसंगानुकूल राग-रागिनियों की उनके अलंकरणों के साथ सृष्टि करके वातावरण के कण-कण को रसाप्लावित कर देगा।

श्रुतियों और स्वरों के सम्बन्ध में शार्ङ्गदेव अपने संगीत रत्नाकर में बताते हैं कि **षड्ज**[११] चतुःश्रुतिक होता है। उसके साथ तीव्रा, कुमुद्वती, मन्दा और छन्दोवती श्रुतियां लगती हैं। **ऋषभ** का सम्बन्ध दयावती, रंजनी और रतिका से तथा **गान्धार** का रौद्री और क्रोधा से है। **मध्यम** में वज्रिका, प्रसारिणी, प्रीति और मार्जनी तथा **पंचम** में क्षिति, रक्ता, सन्दीपनी और आलापिनी श्रुतियां मिलती हैं। **धैवत** का सम्बन्ध मदन्ती, रोहिणी और रम्या श्रुतियों से है तथा **निषाद** का सम्बन्ध उग्रा और क्षोभिणी से। श्रुतियों और स्वरों के उपर्युक्त स्वरूपों को देखते हुए आचार्यों ने रसाभिव्यक्ति के लिए रसानुकूल स्वर-योजना को आवश्यक ठहराया है। भरत मुनि का यह निर्देश है कि शृंगार और हास्य के लिए मध्यम और पंचम अधिक उपयुक्त हैं। षड्ज और ऋषभ का उपयोग वीर, रौद्र और अद्भुत के लिए उचित है। गान्धार निषाद का अनुगामी होकर करुण रस की अभिव्यक्ति कर सकता है। धैवत वीभत्स और भयानक के लिए अनुकूल ठहरता है। रसाभिव्यक्ति के लिए इस नियम-विधान का संप्रयोग अनिवार्य है।[१२] शार्ङ्गदेव भी उक्त नियम को संगीत रत्नाकर में उचित बताते हैं।[१३] रागों एवं रागिनियों के रूपों की कल्पना भी रस को दृष्टि में रखकर की गई है। पीडा के प्रकाशन के लिए राग कल्याणी अनुकूल ठहरती है। चिन्तापूर्ण एवं उन्मन मनस्थिति को व्यक्त करने के लिए टोड़ी तथा उद्विग्न एवं अनुतप्त मनस्थिति की अभिव्यक्ति के लिए भैरवी का उपयोग किया जाता है। सम्भोग शृंगार के लिए देशराग, प्रौढ़ा स्वकीया प्रोषित पतिका के लिए केदार रागिनी और करुण के लिए भूपाली का विधान है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि संगीत मुख्यतः रसात्मक है और संगीतज्ञ की मुख्य साधना रसाभिव्यक्ति के लिए होती है। वह स्वरविशेष के साथ भावविशेष, रागविशेष के साथ रसविशेष के रहस्य को आत्मसात् किए रहता है। यही कारण है कि वह रागजन्य प्रभाव को मूर्तरूप दे पाता है और तब कहीं कलाकार और श्रोता दोनों हृदय-संवाद भागी होने का सौभाग्य पाते हैं। फिर तो रजोगुण और तमोगुण से जन्म लेने वाली ग्रन्थियां

---

११. संगीतरत्नाकर— १।३।३५, ३६, ३७,३८.

१२. मध्यपंचमबाहुल्यात् कार्यं शृंगार-हास्ययोः ॥
षाड्जी त्वथार्षभी चैव............
वीरे रौद्राद्भुतेष्वेताः प्रयोज्या गानयोक्तृभिः ॥
निषादांशे च नैषादी गान्धारी षड्जकैशिकी।
करुणे च रसे कार्या जातिर्गान-विशारदैः ॥
धैवती............बीभत्से च भयानके।
सर्वेष्वंशेषु रसा नियमविधानेन संप्रयोक्तव्याः।
—नाट्यशास्त्र २६।१-४-१४.

१३. सरी वीरेऽद्भुते रौद्रे धो वीभत्से भयानके।
कार्यौगनी तु करुणे हास्य-शृंगारयोर्मपौ ॥
—संगीत रत्नाकर ३।५६.

विगलित हो जाती हैं। तदनन्तर तन्मयता के परिणामस्वरूप एक विशिष्ट प्रकार की अन्तर्मुखता के उदय से एक अखण्ड एवं अलौकिक आनन्द-चेतना का उदय होता है। संगीत में इन क्षणों को ही रसानुभूति के क्षण कहते हैं।

यही स्थिति वाद्य और नृत्त की भी है, क्योंकि भारतीय संगीत में गीत, वाद्य और नृत्त तीनों ही समाहित हैं।[१४] कोई भाव गीत के द्वारा प्रयुक्त किया गया हो या वाद्य के द्वारा, रसिक के हृदय में रसानुभूति जगाने की प्रक्रिया दोनों की समान है। नृत्य का अपना कुछ अलग ढंग है। उसे हम भाव और ताल का समाहार कह सकते हैं जिसमें अभिव्यक्ति की दृष्टि से ताल को प्रमुखता प्राप्त होती है। यह कला वस्तुतः बहुत कठिन है। रसाभिव्यक्ति के लिए नृत्यकार को अपने अंगों से सामान्य-भाव-संसूचन करना पड़ता है। अपने हाथों से वह भाव को खोलकर स्फुटता प्रदान करता है, उसके नेत्र अन्तस्तल के आवेगों एवं भावसूत्रों की समन्वित रूप से समर्थ अभिव्यक्ति करते हैं और तब कहीं वह अपने पैरों में ताल एवं काल की संस्वरता बनाए रख कर सहृदय सामाजिक के हृदय में रस की साकार प्रतिष्ठा कर पाता है।[१५] भारतीय प्रतिभा का कला को गहराई से देखने एवं परखने का सदा से स्वभाव रहा है। उसमें उसने केवल शारीरिक या मानसिक हलचल को ही प्रमुखता नहीं दी, आत्मतत्व का भी संयोजन किया। परिणाम यह हुआ कि आध्यात्मिक प्रभाव और प्रकाश के कारण कला आत्मा की भांति अमेय हो गई, उसका समस्त उत्पीड़न और उत्ताप बह गया और उससे हृदय ने अपनी इस सयत स्थिति में अलौकिक चमत्कार-रस का अनुभव किया और आगे चलकर अपनी इसी साधना के सहारे मोक्ष मार्ग को प्रशस्त कर दिया।[१६]

रसात्मकता और उसकी अभिव्यक्ति की दृष्टि से चित्रकला और मूर्तिकला को भी संगीत और काव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण 'कलानां प्रवरंचित्रम्' कह कर चित्रकला को उत्कृष्ट कला बताता है। वात्स्यायन कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने आलेख्य प्रकरण में चित्रकला की व्याख्या करते हुए उसके छह

---

१४. गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते।

—संगीतरत्नाकर १।२१.

१५. अंगेनालम्बयेद् गीतं हस्तेनार्थं प्रकाशयेत्।
नेत्राभ्यां भावयेद् भावं पादाभ्यां तालनिर्णयः॥

—संगीतमकरन्द

१६. वीणावादन-तत्वज्ञः श्रुति-जाति-विशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं हि गच्छति॥

—याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चित्ताध्याय-११४.

अंग बताए हैं। यथा—रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्ययोजना, सादृश्य तथा वर्णिका-भंग।[१७] इन अंगों में से भाव भारतीय, चित्रकारी की सर्वप्रथम विशेषता है। कालिदास के मेघदूत का विरही यक्ष मेघ से कहता है कि तुम मेरी पत्नी को मेरा भावगम्य चित्र बनाते पाओगे 'मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती'—इसीलिए यहां के चित्रकार बाह्य आलेखन की अपेक्षा अन्तस्तल के आलेखन को विशेष महत्व देते हैं। वे बाह्य मुद्रा या चेष्टा की अपेक्षा भावाभिव्यक्ति के लिए अधिक सचेष्ट रहते हैं। वह आलेखन क्या जिसमें स्वारस्य न हो। तभी तो भित्तिचित्र में अंकित वैवाहिक दृश्य को देखकर सीता कह उठी थीं— 'एतेखलु तत्काल-कृत-गोदान-मंगलाश्चत्वारो भ्रातरो विवाहदीक्षिता यूयम्। अहो जानामि तस्मिन्नेव प्रदेशे तस्मिन्नेव काले वर्ते।' राम को भी विवाह के समय गौतम द्वारा अर्पित कमनीय कंकणधारी मूर्तिमान् महोत्सव के समान आनन्द देने वाले चित्रस्थ सीता के कर को देख कर ऐसा लगा था जैसे अतीत वर्तमान बन गया हो।[१८] यह तन्मयता वस्तुतः रसानुभव की जननी है। रसका अनुभव तन्मय होकर ही सम्भव है। काव्य, संगीत, चित्र या मूर्ति जो कुछ भी विषय रूप में उपस्थित हो, रसिक तद्रूप होकर ही उनके रस का अनुभव करता है। जब सहृदय व्यक्ति चित्रकार की भावाभिव्यक्ति को स्व-अनुभूति बना लेता है और इस साधारणीकरण की प्रक्रिया द्वारा जिस आनन्द की उपलब्धि करता है, वह वस्तुतः साहित्यशास्त्र का रस ही है।

भारत चित्रकला का मर्मज्ञ सदा से रहा है। चित्रकला उसके जीवन की अभिव्यक्ति का समर्थ माध्यम रही है। चित्र-विद्याविरंचि सोमेश्वर मैसूर विश्व-विद्यालय से प्रकाशित 'अभिलषितार्थ चिन्तामणि' के अध्याय तीन में अभिव्यक्ति की दृष्टि से चार प्रकार के चित्र बताते हैं—

(क) विद्धचित्र— जिसमें दर्पण के प्रतिबिम्ब की भांति सादृश्य हो।

(ख) अविद्ध चित्र— जिसे चित्रकार तरंग उठने पर बनाए। इन चित्रों को काल्पनिक या भावोपपन्न कहा जा सकता है।

---

१७. रूपभेदाः प्रमाणानि भाव-लावण्ययोजनम्।
साहश्य वर्णिकाभंग इतिचित्रंषडंगकम्॥

—अधि० १, अध्याय ३–४.

१८. समयः सएव वर्तत इवैष यत्र मां
समन्दयत् सुमुखि! गौतमार्पितः।
अयमागृहीत-कमनीय-कंकण—
स्तव मूर्तिमानिव महोत्सवः करः॥

—उत्तर रामचरित १।१८.

(ग) रसचित्र— रसों की अभिव्यक्ति करने वाले चित्र जिनके देखते ही दर्शक का उन रसों से तादात्म्य हो जाए।

(घ) धूलि चित्र— जिनमें भाँति-भाँति के रंगों के चूर्ण को जमीन पर भुरक कर आलंकारिक आकृतियां अंकित की जाती थीं। इनकी वंशज आजकल की सांझी है।

रस की दृष्टि से चित्रों की विशेषताएं भी पर्याप्त वर्णित हुई हैं। उनके वर्णन का संक्षिप्त सार इस प्रकार है— शृंगार रस के चित्र में कान्ति, लावण्य, माधुर्य, सुन्दर वेशाभरण; हास्य रस के चित्र में बौने, कुबड़े, टेढ़े-मेढ़े अंग और अद्भुत रूप वाले तथा व्यर्थ की चेष्टा और विचित्र हाव-भाव करने वाले व्यक्ति; करुण चित्र में याचना, वियोग एवं विरह, अपनी प्रिय वस्तु व प्राणी का त्याग या विक्रय, विपत्ति और सहानुभूति; रौद्र चित्र में कठोरता तथा क्रोध; वीर रस के चित्रों में प्रतिज्ञा, शौर्य, औदार्य तथा उत्साह; भयानक रस में दुष्ट, दुर्दर्शन एवं उन्मत्त व्यक्तियों तथा हिंस्र जीवों का अंकन; बीभत्स चित्र में श्मशान तथा गर्हित एवं वधभूमि आदि का अंकन; अद्भुत रस के चित्र में अनेक भावों का विचित्र समवाय; शान्त रस के चित्र में सौम्य आकृति, आसन बांधे हुए ध्यानस्थ साधक या तपस्वी आलिखित होते हैं। चित्रकला, मूर्तिकला आदि में रसाचार्यों की दृष्टि से रसाभिव्यक्ति के लिए समान भावभूमि होती है। उनमें केवल माध्यम का अन्तर होता है। विभावानुभावसंचारियों के संयोजन की प्रक्रिया समान होती है। यही कारण है कि एक सुन्दर चित्र को एक सुन्दर काव्य भी कहा जा सकता है।

मूर्तिकला में भी कलाकार अपनी अनुभूति की सहानुभूतिमय अभिव्यक्ति करता है। कलाकार की अनुभूति और अभिव्यक्ति में सहानुभूति रहती है, अतः उसकी रचनाओं में रस रहता है, रमणीयता रहती है और इसी कारण रमणीयार्थ-प्रतिपादक होने के नाते उसे रसात्मक कहा जाता है। रसानुभूति के लिए आवश्यकता केवल इस बात की रहती है कि सहृदय कलाकार के साथ एकतान हो जाए, विषय के साथ वह अपना सात्म्य करले। इसमें रेखा, रंग, आकार, घन, आयाम आदि के संकेत से कलाकार सहृदय की कल्पना को उभारता है, फलस्वरूप उसकी व्यक्ति-ग्रन्थियों का निर्गलन हो जाता है। यहीं एकतानता की स्थिति हो पाती है, तब कहीं रसिक को रसानुभूति होती है। रस या भाव को मूर्तरूप देने में मूर्तिकार का कौशल बड़े काम का होता है। उसके पास कल्पना का अनन्त वैभव होता है और उसका समाहरण वह बड़े कौशल के साथ करता है। उसके हाथ में पड़कर पत्थर मोम बन जाता है और उसमें प्राणों का स्पंदन हो उठता है। वह मानव-जीवन की जिन भावनाओं और भावना-संकुल मुद्राओं को अभिव्यक्त करना चाहता है, उन्हें पत्थर की कविताओं में मूर्त कर देता है, उनमें प्राणों का स्पन्दन भर देता है। कहीं भावाप्लुत

जीवन के एक क्षण को अभिव्यक्त कर पत्थर में मुक्तक गीतिकाव्य रच डालता है तो कहीं जीवन की व्यापक अभिव्यक्ति करके महाकाव्य की सृष्टि कर देता है। जीवन के सभी अंगों का स्पर्श किया जाता है, परन्तु रस रूप में उनका दर्शन भी अत्यन्त पूर्ण और आकर्षक होता है। कहीं संयोग की एकात्मानुभूति दो तन में एक मन की प्रतिष्ठा करके अपना मादक प्रभाव विकीर्ण कर देती है तो कहीं वियोग की अद्वैता-नुभूति विश्व के कण-कण में प्रेमतत्त्व की प्रतिष्ठा करके प्रेम के रसात्मक दिव्य रूप का दर्शन करा देती है। दोनों रूपों में रति की रसात्मक अभिव्यक्ति और योग की स्थिति पाई जाती है। अन्तर केवल इतना है कि यदि पहला गम्भीर है तो दूसरा गम्भीरतम, पहले में यदि आंखों का खेल है तो दूसरे में मन का। कहीं प्रियतम को पत्र लिखने में लीन आत्मविभोर पत्र-लेखिका को, जिसे रसराज स्वयं प्रेरणा दे रहा है, देखकर आप मुग्ध हो उठेंगे, तो कहीं अभिसरण-काल की भावना को साकार किए अभिसारिका की मूर्ति आपको रसाप्लुत कर देगी। जीवन की रंगीनी, मस्ती और विलास को व्यक्त करता हुआ मद्यपान का दृश्य, मानिनी का अनुनय करता हुआ हाथ में मधुपान लिए पुरुष, चुम्बन और आलिंगन में बद्ध खजुराहो की नाना मूर्तियां मानव-हृदय को रस-सिक्त कर बरबस अपनी ओर खींच लेती हैं। कुछ मूर्तियां ऐसी भी प्राप्त हैं जिनमें भक्ति और शृंगार की एकसाथ अनुभूतियां जगती हैं। मूर्तियों में जैसे सारा नायक-नायिका भेद साकार हो उठा हो। वस्तुतः नायक-नायिका-भेद है भी चित्रकला और मूर्तिकला का विषय। उक्त दोनों कलाओं के द्वारा ही यह सजीव हो पाता है। यहां सहृदय को रूप, मुद्रा, भाव और रस की यथार्थ अनुभूति के लिए अधिकतर कल्पना के सम्बल पर ही निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं होती बल्कि वहां तो तूलिका और छेनी के सहारे बहुत कुछ मूर्त हो चुका रहता है। उड़ीसा की कुछ मूर्तियों में मातृ-ममता की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है और वात्सल्य को रस रूप में प्रतिष्ठित करने मे उनका भी हाथ माना जा सकता है। कहीं कहीं हास्य रस के एवं व्यंग्यात्मक दृश्य भी मिलते हैं। करुण प्रसंगों की भी कमी नहीं है। शैवों, वैष्णवों और बौद्ध मूर्तियों में जिस सौन्दर्य का अंकन हुआ है, वह महाकाव्यों के सौन्दर्य से घट कर नहीं है। सर्वत्र अव्यक्त की मूर्त एवं रागात्मक अभिव्यक्ति इनकी विशेषता है, जिन्हें देखकर प्रमाता लोकोत्तर-सुख का अनुभव करता है। जैसे कुशल रसोइया छहों रसों के–तीते कड़वे तक के– स्वादु से स्वादु व्यंजन बनाता है, जो अपने आप में एक से एक बढ कर होते हैं, उसी प्रकार इन कलाकारों ने भी समस्त रसों को रसनीय एवं साकार करने में पूर्ण रूप से सफलता पाई है। धार्मिक मूर्तियों में भी अनेक मूर्तियां ऐसी है जिनसे विभिन्न रसों की प्रतीति देखी जाती है। विष्णु और कृष्ण की मूर्ति शृंगार के लिए, राम, बुद्ध, महावीर एवं अन्य तीर्थंकरों की मूर्तियां शान्त और करुण के लिए, नृसिंह, वराह, काली आदि की मूर्तियां रौद्र और भयानक के लिए नियतसी है।

द्वितीय परिच्छेद

(क)

साहित्य शास्त्र में रस का प्रयोग मुख्यतः काव्यास्वाद या काव्यानन्द के लिए हुआ है। आरम्भ में रस का विवेचन नाट्य की दृष्टि से किया गया और वहीं रस-मूल भावों में वागंगसत्वोपेत काव्यार्थों की स्थिति अनिवार्य समझी गई।[1] आगे चल कर रस काव्य की आत्मा घोषित हुआ और आज भी काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बना हुआ है। इस लम्बी यात्रा में उसमें लोगों ने अपनी रुचि के अनुकूल नाना परिवर्तन भी किए हैं और इस तरह उसके अनेक पार्श्वों का उद्घाटन हुआ है। आपाततः वे दृष्टिकोण भिन्न से लगते हैं, परन्तु उनके द्वारा रसान्तर्वर्ती विभिन्न तत्त्वों पर ही प्रकाश पड़ा है।

रस किसी श्रेणी का हो, चाहे वह लोकरस हो, नाट्य-काव्यरस हो या भक्तिरस हो, आस्वाद्यता उसका अनिवार्य धर्म है। आचार्य भरत ने रस की व्याख्या करते हुए उसे आस्वाद्य बताया है।[2] उनकी दृष्टि में विभाव, अनुभाव, संचारीभाव रसकी सामग्री हैं। आलम्बन-उद्दीपन विभाव रस को उद्बुद्ध करते हैं। अनुभाव उसको प्रतीति-योग्य बनाते हैं और व्यभिचारिभाव उसको परिपुष्ट करते हैं। इन सबके संयोग से स्थायीभाव आस्वाद-योग्य—रसनयोग्य बन जाता है। यह प्रक्रिया सभी प्रकार की कलाकृतियों में लागू होती है। यही आस्वादन या रसन ही रस है[3] अर्थात् इस आस्वादन—अवस्था का नाम ही रस है। इसके अतिरिक्त रस और कुछ नहीं।

परन्तु लोक—रस की आस्वाद्यता नाट्यकाव्यरस या भक्तिरस के काम की नहीं होती, यह भरत भलीभांति समझते हैं। काम, दया, वीरता, भय आदि लौकिक स्थायीभाव जीवन में स्वानुकूल प्रेरणा उत्पन्न करते हैं और मानव को तदनुसार क्रिया—कलाप में प्रवृत्त करते हैं। कामिनी के सुललित मुख-पंकज को देख कर नायक काम के आवेग से उत्तप्त हो उठता है। समरांगण में ललकारते हुए शत्रु को देख कर वीर व्यक्ति उत्साह के साथ सामना करता है और कायर दुम दबा कर भाग

---

१. नाट्यशास्त्र ७/१.

२. रस इति कः पदार्थः ? उच्यते–आस्वाद्यत्वात्।

—नाट्यशास्त्र ६/३१

३. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस–निष्पत्तिः।

—नाट्यशास्त्र

खड़ा होता है। परन्तु नाट्य–काव्य–जगत् में इस प्रेरणा और क्रिया–कलाप का सर्वथा अन्त हो जाता है। यही कारण है कि शृंगार रस की अनुभूति के क्षण में सहृदय काम के आवेग से उत्तप्त नहीं होता और न उसे भय और उत्साह के काल की दौड़–धूप उठानी पड़ती है। किसी तरह का तनाव जीवन में नहीं दीखता, क्योंकि वह जानता है कि यह सब–कुछ तो लोकधर्मी पदार्थों के साथ ही होता है, नाट्यधर्मी पदार्थों के साथ नहीं। यहां जब पेशीय प्रेरणा और तज्जन्य क्रियाएं ही नहीं होतीं, तो उनसे उत्पन्न उत्ताप की अनुभूति ही कैसे होगी। जो कुछ उसे मिलना है वह छन-छनाकर विश्रान्ति और सन्तुलन को बनाए रखने वाला रस ही मिलता है। लोकरस व्यक्तिगत और स्व–सम्बद्ध होता है। फलस्वरूप स्थिति के अनुसार उससे हर्ष और विषाद दोनों मिल सकते हैं, परन्तु नाट्य या काव्यरस सामान्य होने के नाते सर्वसम्बद्ध होता है अतः उससे लोकोत्तर आनन्द मिलता है। यही कारण है कि वह अलौकिक कहलाता है। लौकिक रस की तरह उसका कुछ लोगों से ही सम्बन्ध नहीं रहता, बल्कि इसमें समस्त त्रैलोक्य का भावानुकीर्तन होता है।[४] इस स्थिति में परिमित–प्रमातृभाव स्वतः विगलित हो जाता है। विरूपाक्ष के इस उपालम्भ का कि आप लोकपितामह हैं, आपके लिए देवता–दैत्य एक समान होने चाहिएं, हम दैत्यों का इसमें प्रत्यादेश क्यों? इसके उत्तर में पितामह ने यही कहकर वस्तुस्थिति पर प्रकाश डाला कि यह तो सप्तद्वीप का केवल अनुकरण है।[५] अनुकरण से तो विनोद होना चाहिए, किसी वर्ग के प्रति कुपित होने की आवश्यकता नहीं।[६] इस तरह भरत ने रस के सम्बन्ध में औपनिषदिक या दार्शनिक दृष्टि को दूर रख कर रस को हृदय की भावनाओं से अभिमण्डित करके मनोवैज्ञानिक भाषा में समझाने का प्रयत्न किया है। कलाशास्त्र में यह भरत और उनके पूर्ववर्तियों की अपूर्व देन है।

रुद्रट भी रसन या आस्वादन के कारण भावमात्र को रस की श्रेणी मे मानते हैं। रस का ही दूसरा नाम आनन्द है जिसकी रसभेद से विषयानन्द, रसानन्द और ब्रह्मानन्द आदि कई श्रेणियां देखी जाती हैं। इनमें विषयानन्द व्यक्तिगत एवं लौकिक होता है, रसानन्द सार्वजनीन और अलौकिक होते हुए भी अनित्य एवं नियतिकृतनियम–रहित होने के कारण कृत्रिम रहता है, जबकि ब्रह्मानन्द रस रूप ब्रह्म के आस्वादन के कारण ब्रह्म के अंगभूत जीव के लिए सहज एवं नित्य होता है। जगत् में जगदानन्दियों को खोजने की आवश्यकता नहीं। काव्यरस चर्वणा,,

---

४. नाट्यशास्त्र १।१०

५. वही १।११

६. वही १।११६–११७.

आस्वादन, आनन्द आदि अनेक नामों से अभिहित होता है।[७] श्रुति ब्रह्म को रस रूप उद्घोषित करके उसके लाभ से जीव को आनन्दी बताती है।[८]

कतिपय आचार्य रसास्वाद के सम्बन्ध में भिन्न दृष्टि रखते हैं। नाट्यदर्पण के रचयिता गुणचन्द्र रामचन्द्र की दृष्टि में रस सुख-दुःखात्मक है।[९] रुद्रभट्ट भी रसकलिका में रसको उभयरूपात्मक स्वीकार करते हैं। आचार्य मधुसूदन सरस्वती भी अंशतः उक्त मत का समर्थन करते-से दीखते हैं। वे विभिन्न रसों में सत्व के तारतम्य के कारण उनसे प्राप्त आनन्द की मात्रा में तारतम्य मानते हैं।[१०] आचार्यों एवं आलोचकों का बहुमत कतिपय आचार्यों के उक्त दृष्टिकोण के पक्ष में नहीं है। वह रसको आनन्दात्मक मानता है।

रस सिद्धान्ततः आनन्दात्मक ही है। यह आनन्द केवल विभावादि-संयोग का परिणाम नहीं है। आनन्द तो मूलतः विश्व में प्रतिष्ठित है। यह संयोग तो सहृदय-हृदय में आनन्द को कुछ त्वरा के साथ उन्मिषित कर देता है। इसके लिए केवल साहित्य की दृष्टि से ही काम न चलेगा, दर्शन की दिव्य दृष्टि भी अपेक्षित है।

साहित्य के रस में आनन्द की प्रतिष्ठा करने वाले मुख्यतः तीन दर्शन हैं। उनमें से प्रथम है कश्मीर का अद्वैत मूलक शैव दर्शन, दूसरा है अद्वैत वेदान्त और तीसरा है सांख्य दर्शन।

शैव दर्शन के अनुसार आत्मा चेतन और आनन्दमय है।[११] वह जगत् के समस्त पदार्थों में अनुस्यूत है। इसी का नाम चैतन्य, परासंवित्, अनुत्तर परमेश्वर, परमशिव है। वह नामरूपात्मक, नाना विचित्रता-संवलित जगत् परम शिव से नितान्त अभिन्न तथा उसका स्फुरणमात्र है।[१२] वह स्वेच्छा से स्वभित्ति पर विश्व

७. स्व-संविदानन्द-चर्वण-व्यापार-रसनीयरूपो रसः। लोचन ११८.

८. रसो वै सः। रस ह्येवायंलब्ध्वानन्दीभवति।

९. सुखदुःखात्मको रसः। नाट्यदर्पण-कारिका १०९

१०. रजस्तमस्समुच्छेदतारतम्येन गम्यते।
तुल्येऽपि साधनाभ्यासे सारतम्य रतेरपि॥

— भक्ति रसायन, उल्लास २।५९.

११. चतन्य आत्मा आनन्दमयः। —शिवसूत्र १।१.

१२. श्रीमत्परम-शिवस्य परमानन्दमय-प्रकाशैकधनस्य एवंविधमेव शिवादिधरण्यन्तमखिलम् अभेदेनैव स्फुरति। नतु वस्तुतः अन्यत् किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा। अपितु परमशिवभट्टारक एव इत्थं नाना वैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति।

—प्रत्यभिज्ञाहृदय, सूत्र ३

का उन्मीलन करता है।[13] वह समस्त विश्व-प्रपंच आनन्द-शक्ति का स्फार—विस्तार है।[14] परन्तु जीव कला, विद्या, राग, काल, नियति नामक पाँच कुंचुकों से आवृत रहता है, जो उसकी शक्ति को परिच्छिन्न किए रहते है। उक्त पांचों कंचुक—उपाधियां मायाजनित हैं। जीव को इन्हीं के कारण जगत् जो शिव की कला होने के कारण आनन्दमय है, दुःखरूप प्रतीत होने लगता है। अभेद में भेद-बुद्धि उदित हो जाती है। परन्तु यह जगत् परमानन्दमय परमशिव का ही व्यक्त रूप है, यह ज्ञान हो जाने पर अपरिमित आनन्द की उपलब्धि होती है। चेतना का यह रूप स्फुरत्ता, विमर्श, आनन्द नाना नाम से अभिहित होता है। इसे देश—काल की सीमा में बांधा नहीं जा सकता, और यही वस्तुतः परमशिव का हृदय है।[15] इसकी कृपा से जड़जीव भी सचेतन कहा जाता है और इस हृदय को धारण करने वाला सहृदय। हृदय की इसी स्पन्दमानता—स्फुरद्रूपता—के सहारे व्यक्ति दुःखादि भावनाओं मे भी आनन्दमय रहता है, क्योंकि आनन्द की मूल चेतना जो विश्व को परिव्याप्त किए हुए है, स्फुरित हो उठती है। फिर तो उसे भयानक, बीभत्स, रौद्र और करुण रस के वर्णनों से उद्विग्नता न होकर आनन्दानुभूति ही होती है। कारण यह है कि सत्व के उद्रेक से विभावादि के साहचर्य में जिस शुद्ध चेतना का उदय होता है वह आनन्द रूप ही होती है। इसके उदित होने पर विषयिगत एवं विषयगत आनन्द दोनों मिलकर एक हो जाते है। इसे हृदय-संवाद, विभावन-व्यापार, वर्णनीय-तन्मयीभवन, साधारणीकरण, चित्तद्रुति जिस नाम से चाहें, अभिहित करलें। यही रसावस्था है। आचार्य अभिनव गुप्त ने जो कि कश्मीर-शैव दर्शन के एक प्रमुख आचार्य थे, अपने रस-सिद्धान्त में इसी आनन्द की अभिव्यक्ति की है जिसे परवर्ती आचार्यों ने जाने-अनजाने सिद्धान्त रूप से अपनाया है। रस-सम्प्रदाय में यह अद्वैतवादी दृष्टि अभिनव गुप्त की बहुत बड़ी देन है।

रसवादी की दृष्टि मे जगत् की कोई भी वस्तु असुन्दर एवं रसहीन नहीं होती। जगत् का प्रत्येक पदार्थ सुन्दर होता है, उसमें रस होता है, आनन्द होता है। यह दुर्भाग्य तो व्यक्ति का है कि उसे परमेष्ठी का हृदय प्राप्त नहीं हुआ, उसके अभाव में वह सहृदय नहीं हो पाया फलस्वरूप उसकी दृष्टि विशुद्ध नहीं हो पाई। आचार्य धनंजय स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि संसार में प्रत्येक वस्तु वह चाहे रम्य हो या जुगुप्सित हो, उदार हो या नीच हो, उग्र हो या मृदु हो, गहन हो या विकृत हो,

---

१३. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।

—वही सूत्र २

१४. सर्वएवायं विश्वप्रपंचः आनन्दशक्तिस्फारः।

—तन्त्रालोक आह्निक ३ पृ० २०१.

१५. सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी। सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।

—तन्त्रालोक ३।२१०.

नहीं मिलेगी जो भावक कवि की भावना के स्पर्श को पाकर सरस न हो उठे।[१६] पर इस दृष्टि की प्राप्ति के लिए ऊपर उठना पड़ता है, अध्यात्म (स्व-भाव—व्यक्तित्व)[१७] का विस्तार करना पड़ता है—केवल इन्द्रिय जगत् तक ही सीमित न रहकर—"इन्द्रियेभ्य: परं मन:, मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान्" तक लम्बी यात्रा करनी पड़ती है, तब कहीं भावों में स्थायित्व, पावनता एवं सार्वभौमता आपाती है। यही परमानन्द है, जिसमें विषाद, उद्वेग, आवेग, पश्चात्ताप या विकार के लिए कोई स्थान नहीं रहता।

वेदान्त का आनन्द भी रसाचार्यों की व्याख्या में अवतरित हुआ है। वेदान्त की मान्यता है कि समस्त भूत आनन्द से उत्पन्न होते हैं, आनन्द से जात होकर ही जीवित रहते हैं और अन्त में आनन्द में ही समाहित हो जाते हैं। आनन्द ही ब्रह्म है।[१८] आनन्द व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना का वस्तुत: केन्द्र है। यह आनन्द अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय नाना कोशों से आवृत है। इसके निरावरण के लिए एक विशेष दृष्टि, क्रम और साधना अपेक्षित है। व्यक्ति अपनी साधना से उक्त कोशों को बेधता हुआ आनन्द तक पहुंचता है और नामरूपात्मक जगत् में उसकी व्याप्ति के तत्त्व को हृदयंगम करता है। यह आनन्द केवल उसका नहीं, सबका है, अत: अवैयक्तिक है। यही भूमा का दर्शन है। यह आनन्द-दर्शन मनुष्य के भावात्मक जीवन का अन्तर्मुखी संचरण है। रस-प्रक्रिया में विधाता की सृष्टि की किसी इकाई को लेकर उसके सहारे विश्व के कण-कण में व्याप्त आनन्दतत्व के साथ तन्मयीभवन या हृदय-संवाद का ही प्रयत्न सहृदय और कलाकार दोनों करते हैं, पर अपने-अपने ढंग से।

वेदान्त में आगे चलकर आनन्द की इतनी व्यापक व्याख्या प्रस्तुत की गई कि विश्व का कण-कण उससे पिहित समझा जाने लगा। ब्रह्मानन्द, विद्यानन्द और विषयानन्द ये आनन्द के तीन भेद किए गए।[१९] और ब्रह्मानन्द को सब आनन्दों का मूल ठहराया गया।[२०] तात्पर्य यह है कि ब्रह्मानन्दी की दृष्टि से विद्यानन्द और विषयानन्द का रूप प्रस्तुत किया गया और इनके विवेचन के दौरान लौकिक

१६. रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच—
भुग्रं प्रसादि गहन विकृतं च वस्तु।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके॥ —दशरूपक ४।८५.

१७. स्व-भावोऽध्यात्म उच्यते। —गीता।

१८. आनन्दद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानिजीवन्ति। आनन्द प्रत्यन्त्यभिसंविशन्ति। आनन्दोब्रह्मेति व्यजानात्। —तैत्ति० उप० ३।६.

१९. पचदशी ११।११

२०. वही १५।१

प्रतीक और दृष्टान्त प्रस्तुत किए गए। ब्रह्मानन्द में योगानन्द अद्वैतानन्द और आत्मानन्द सभी सन्निविष्ट हैं। ब्रह्म सबका मूल है और वही रस है। उसे पाकर ही प्राणी आनन्दी होता है।[२१] ब्रह्मसूत्र के आनन्दमयाधिकरण में भी विस्तार से यह प्रसंग उठाया गया है। इस प्रसंग में शंकर और रामानुज के भाष्य द्रष्टव्य है। इस आनन्द की प्रतिष्ठा के कारण ही रस ब्रह्म की तरह आनन्दमय और चिन्मय माना गया और उसे ब्रह्मास्वाद-सहोदर समझा गया।[२२]

विश्व में व्याप्त अनेकता में एकता का दर्शन और इस संश्लेषण के परिणामस्वरूप आनन्द की बौद्धिक नहीं, हार्दिक अनुभूति वेदान्ती की साधना का उद्देश्य होता है। उसकी दृष्टि में आनन्द की यह उच्च और स्थायी अनुभूति वेदान्ती की साधना का उद्देश्य समझी जाती है। उसकी दृष्टि में आनन्द की यह उच्च और स्थायी अनुभूति जागतिक धरातल पर नहीं होती, क्योंकि जगत् में व्यक्ति आत्म और अनात्म के संकीर्ण भेद से ऊपर नहीं उठ पाता। आचार्य शंकर इसका कारण यह बताते हैं कि जीव अविद्या–काम-कर्म के बंधन में जकड़ा रहता है। जब तक वह काम–इच्छा के बन्धन से मुक्ति नहीं पाता, वह न आत्म-अनात्म के भेद से छुटकारा पा सकता है और न आनन्दानुभूति का ही अधिकारी हो पाता है। साधना से जब जीवन की उक्त दृष्टि छूटती है अर्थात् जब उसका काममूलक कर्म-संघर्ष मिटता है, उसे एकता की अनुभूति के साथ आनन्द की उपलब्धि होती है। यह आनन्द स्थायी होता है और यही उसका सर्वस्व है।

इसी प्रकार का आनन्द रस-दशा में भी मिलता है, पर वह स्थायी न होकर क्षणिक होता है। प्रक्रिया दोनों की एक जैसी-ही है। रस-दशा में भी काम और कर्म से निवृत्ति हो जाती है। यद्यपि अविद्या प्रच्छन्न रूप से बनी रहती है, परन्तु उससे कुछ क्षण के लिए आनन्द की अनुभूति में कोई व्यवधान नहीं पड़ता। इसीलिए रस को वेद्यान्तरस्पर्शशून्य और विगलित-परिमित-प्रमातृभाव-धर्मी कहा गया है। काव्य नाट्य आदि जीव को लयात्मक और एकानुभूत्यात्मक दशा तक ले जाते हैं, फलस्वरूप वह भेदमय और संघर्ष-परिपूर्ण जागतिक धरातल से ऊपर उठ जाता है। यद्यपि आनन्द का यह सत्य वेदान्त के आनन्द के सत्य के सामने अपेक्षाकृत छोटा है, परन्तु उक्त दोनों दृष्टियों में बहुत समानता है। केवल अन्तर इतना ही है कि वेदान्त में आनन्द की उपलब्धि से पूर्ण एवं स्थायी मोक्ष मिलता है, जबकि रसानुभूति के क्षण में पूर्ण मोक्ष तो मिल जाता है, परन्तु वह अस्थायी होता है।

अग्नि पुराण भी उक्त दृष्टिकोण का समर्थन करता है। वेदान्त में जिस परब्रह्म को अक्षर, सनातन, अज, विभु, चैतन्य, ज्योति, ईश्वर नाम से पुकारते है,

---

२१. पचदशी ११।२

२२. ब्रह्मसूत्र १।१२–१६.

आनन्द उसका सहज स्वभाव है। इस आनन्द की अभिव्यक्ति यदाकदा होती है और उसे चैतन्य, चमत्कार या रस कुछ भी नाम दिया जा सकता है।[२३] यही आनन्द जब काव्यनाटकादि में रस रूप से अभिव्यक्त होता है, तो वहां दुःख-उद्वेग आदि के लिए अवकाश कहा। परन्तु इस विगलित-वेद्यान्तर आनन्द की अनुभूति के लिए व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का निर्गलन करना पड़ता है, इन्द्रियों का बन्धन तोड़कर और संकुचित दायरे से निकलकर स्व-भाव--व्यक्तित्व का विकास करना पड़ता है। साधक को भी ब्रह्मानन्द की उपलब्धि के लिए कुछ इसी से मिलती-जुलती प्रक्रिया अपनानी पड़ती है, तब कहीं उसकी हृदय की ग्रन्थि खुलती है, समस्त संशय छिन्न होते हैं, समस्त कर्म क्षीण होते हैं, फिर वह परावर ब्रह्म का आनन्द उठाता है।[२४] इसीलिए यह आनन्द ब्रह्मास्वादसहोदर कहा गया है।

द्वैतवाद और यथार्थता सांख्यदर्शन की विशेषता है। इसमें प्रकृति और पुरुष दो नित्य और भिन्न तत्त्व हैं। प्रकृति के दो विभाग हो जाते हैं जिसमें त्रयोदश-विधकरण—बुद्धि, अहंकार, मन (अन्तःकरण) और पंच ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय प्रथम विभाग है और पंच तन्मात्राएं और उनसे उत्पन्न पंचभूत इसके दूसरे विभाग में आते हैं। पुरुष चेतन, विशुद्ध और पुष्कर-पलाशवत् निर्लेप है। अन्तःकरण विशेष रूप से बुद्धि, प्रकृति और पुरुष दोनों को जोड़ने की कड़ी है जो पुरुष को भोग और अपवर्ग जीवन के इन दो आदर्शों में से एक की अनुभूति के लिए बाध्य कर देता है। यह पुरुष के ऊपर है चाहे वह जागतिक सुख-दुःख के द्वन्द्व का उपभोग करे या सत्य ज्ञान पाकर आध्यात्मिक ऐकान्तिकता की शान्ति का सुख उठाए।

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। उससे उत्पन्न व्यक्त तत्त्वों में भी वे तीनों गुण उतरे हैं जिनका नाम है सत्व, रजस् और तमस् जो क्रमशः सुख—दुःख—मोह के कारण हैं। प्रत्येक वस्तु चाहे उसका सम्बन्ध अन्तर्जगत् से हो या बाह्य जगत् से, उक्त तीनों गुणों से ही निर्मित है। उनमें से कुछ मुख्य रूप से सात्विक, कुछ राजस और कुछ तामस है। बुद्धि मूलरूप से सात्विक होती है, परन्तु वासना-संस्कृत होने के कारण वासना-धर्म के अनुसार उसका रूप भी बदल जाता है। वह कभी राजस और कभी तामस हो जाती है। यही कारण है कि पुरुष-भेद से अनुभूति में भी भेद

---

२३. अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दस्सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य–चमत्कार–रसाह्वया॥

—अग्निपुराण; रसनिरूपणाध्याय १,२.

२४. भिद्यतेहृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

—गीता, मुण्डकोपनिषद् २।२।८

हो जाता है। एक ही वस्तु किसी के लिए सुखद, किसी के लिए दुःखद और किसी के लिए मूढतापादक हो जाती है।

उक्त स्थिति तबतक बनी रहती है जबतक पुरुष अपने को बुद्धि से पूर्णतः पृथक् नहीं कर लेता। पृथक् कर लेने पर पुरुष सुख-दुःख से ऊपर उठ जाता है। यही अपवर्ग की स्थिति है। ऐसा पुरुष व्यक्त तत्त्वों को इस दृष्टि से नहीं देखता कि वे उससे कहाँ तक सम्बद्ध हैं, वह इस बात का तटस्थ द्रष्टा होता है कि उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है। कोई भी तत्त्व उसके राग-द्वेष को नहीं उभार पाता, फलस्वरूप वह पूर्ण विश्रान्ति के आनन्द का अनुभव करता है।

परन्तु सामान्य जन के लिए यह पूर्ण अनासक्ति असम्भव है, क्योंकि वह न बुद्धि के ऊपर उठ पाता है और न अवैयक्तिक ही हो सकता है। वैसे कलाजगत् प्रकृति-जगत् के समान ही होता है, परन्तु कल्पनामय होने के कारण वह पुरुष की अहंमूलक प्रवृत्तियों को उभरने नहीं देता। यहां त्रिगुण, नहीं उनसे निर्मित कोई पदार्थ नहीं, अतः जगत् के सुख-दुःख की-सी कोई चीज यहां सुलभ नहीं। इस कलाजगत् में पुरुष की दृष्टि पूर्ण सन्तुलित रहती है जो सन्तुलन शान्ति, विश्रान्ति और तन्मूलक आनन्द का जनक होता है। कवि, नाटककार या किसी कलाकार का यह काम होता है कि वह हमारी मानसिक या बौद्धिक समता—सन्तुलन को बनाए रखे तथा इस संघर्षमय जगत् से छुटकारा दिलाकर हमें दूसरे कला के रमणीय जगत् में ले जाए। इस तरह कला अपने अवैयक्तिक रूप के कारण भोक्ता के व्यक्तिगत दृष्टिकोण को दूर करती है, उसे साधारणीकरण की स्थिति में लाती है और उसमें एक ऐसी संविद् उत्पन्न करती है जो जागतिक द्वन्द्वों का शातन कर सकती है।

सांख्यदर्शन के प्रभाव से प्राप्त इस कलात्मक दृष्टि को न प्राकृतिक कहा जा सकता है, न आध्यात्मिक। क्योंकि प्राकृतिक दृष्टि सुख-दुःखात्मक है और आध्यात्मिक दृष्टि सुख-दुःख-विहीन। परन्तु कलात्मकदृष्टि विशुद्ध आनन्द की जननी होती है। तात्पर्य यह है कि यह दृष्टि जागतिक भोग से ऊपर और अपवर्ग से नीचे ठहरती है। इस स्थिति में सत्त्व का उद्रेक होता है, अतः केवल सुख मिलता है। भट्टनायक ने अपने मत में सत्त्व के उद्रेक होने पर उसके प्रकाश में जो आनन्दात्मिका संवित् को रस-संज्ञा दी है उस पर सांख्य-सिद्धान्त का प्रभाव परिलक्षित होता है।

सांख्य और वेदान्त की दृष्टि में अन्तर केवल इतना है कि जहाँ सांख्य प्रकृति को पूर्णतः सुन्दर नहीं मानता, वहां वेदान्त विश्व के प्रत्येक कण को सुन्दर और आनन्दमय बताता है। सांख्य से प्राप्त कलादृष्टि के कारण साधक प्राकृतिक जगत् से पलायन करके कला के कल्पनाजगत् में पहुंचकर सुख पाता है, जबकि वेदान्त-दृष्टि

का कलाकार इसी जगत् में रहकर अपने परिमित-प्रमातृभाव को विगलित करके, क्षण भर के लिए ही, मूल आनन्द का अनुभव करता है। सांख्य-दृष्टि जहां प्रकृति से कुछ ऊंची (सर्वोत्तम नहीं) स्थिति तक ले जाती है, वहां वेदान्त-दृष्टि प्रकृति में ही सर्वोत्तम को अभिव्यक्त करके दिखा देती है। परन्तु दोनों से कलाकार को अनासक्त दृष्टि मिलती है जो रसानुभूति के लिए अनिवार्य है।

उक्त दार्शनिक दृष्टियों ने रसाचार्यों को उनकी रुचि के अनुसार प्रभावित किया है। अधिकतर यह प्रभाव सम्मिलित रूप से ही पड़ा है। आरम्भ में उक्त प्रभाव को लेकर रसव्याख्या प्रस्तुत करने वालों में मूल प्रभाव तो एक ही दीखता है, पर परवर्ती आचार्यों में मात्र एक प्रभाव की स्पष्टता नहीं दीखती। इस प्रसंग में कविराज विश्वनाथ की रस-परिभाषा बड़े महत्व की है। उससे उस काल तक विकसित हुए रसतत्वों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। विश्वनाथ ने सत्त्वोद्रेक को रस का कारण बताया है और रस को अखण्ड, स्वयं प्रकाश, आनन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर-स्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वादसहोदर तथा सहृदयों द्वारा स्वाकारवदभिन्नत्वेना-स्वाद्यमान कहा है।[२५] रस के उक्त सारगर्भित विशेषण अपनी स्पष्टता के लिए कुछ व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं।

सत्वोद्रेकात्

रस की निष्पत्ति एवं अनुभूति के लिए सत्त्व का उद्रेक हेतु माना गया है। सत्त्व का उद्रेक होने पर ही चित्तद्रुति सम्भव हो पाती है तथा प्रमाता में परदुःखादि से प्रभावित होने की सहज प्रवृत्ति उद्रिक्त हो जाती है। यह साधारणीकरण ही वस्तुतः रस, आस्वाद या आनन्द है। सत्त्व का तात्पर्य है मन, परन्तु आज के अर्थ में नहीं, वह मन जिसे समाहित कहा जा सकता है, जो तन्मय होना जानता है, जो साम्यावस्थावाला है, जिसमें रजस् और तमस् का स्पर्श नहीं तथा जो रागद्वेष आदि विकारों से दोलायमान नहीं होता।[२६] मन जबतक उक्त स्थिति में न होगा लोकोत्तर चमत्कार नहीं पा सकता। इसके अभाव में तो आवेग, उद्वेग, उत्ताप, जड़ता, व्यक्तित्व का संकोच श्रम आदि ही पल्ले पड़ेगा। सत्त्व के उद्रेक का मतलब है दुःख मोह आदि से सर्वथा मुक्ति पा जाना और उसके फलस्वरूप कटु अनुभूतियों से बच जाना। अतः रसनिष्पत्ति के लिए सत्त्वोद्रेक अनिवार्य हेतु सिद्ध होता है।

---

२५. सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥ —साहित्यदर्पण ३/२,३

२६. रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते। —साहित्यदर्पण परि. ३

अखण्ड

रसानुभूति एक अखण्ड अनुभूति है। उसे विभावादि-समूहालम्बनात्मक संवित् कहा जा सकता है। उसमें विभाव आदि तथा रति आदि का प्रकाश, सुख और चमत्कार अनेक तत्त्व मिलकर रसनिष्पन्न करते हैं। रस वस्तुतः उनसे अभिन्न—तदात्मक ही ठहरता है। काव्य-नाट्य-भावना के आरम्भ में भले ही रसव्यंजक विभाव, अनुभाव, संचारीभाव अलग-अलग प्रतीत होते हों, परन्तु उन्हें रस तभी कहा जाता है जबकि विभावादिसमूहालम्बन से अभिव्यक्त होकर सहृदय-हृदय में आनन्दसान्द्र, चमत्कारमय, अलौकिक संवेदन उत्पन्न करते हैं। रस तत्त्व की यह अखण्डता ब्रह्मतत्त्व की अखण्डता के समान है। जैसे ब्रह्मतत्त्व नामरूपात्मक प्रपंच से नानारूपों में प्रतिभासित होते हुए भी अखण्ड एवं सच्चिदानन्द रूप ही रहता है, उसी तरह रसतत्त्व भी विभावादि रूप से खण्डशः प्रतीत होता हुआ भी अखण्ड रूप ही रहता है।[२७]

निष्पत्ति-क्षण में ही नहीं, अनुभूति-क्षण में रसिक की ओर से भी अखण्डता की आवश्यकता होती है। अनुभूति व्यक्तित्व के एक देश से नहीं, व्यक्तित्व के सर्व तत्त्वों और पार्श्वों के योग से सम्पन्न होती है। 'अखिलबुद्धि—समास्वाद्यं हि काव्यम्' आचार्य अभिनवगुप्त के इस रसास्वादविषयक सूत्र का आशय यही है।

प्रपानक रसका दृष्टान्त भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। खण्डमरिचादि के सम्मेलन से जैसे एक अपूर्व आस्वाद मिलता है उसी प्रकार विभावादि की संवलिता प्रतीति भी अपूर्व आनन्द प्रदान करती है।[२८]

स्वप्रकाश

रस स्वभावतः स्वप्रकाश है। वैसे तो स्वप्रकाशता ज्ञान का धर्म है और उसकी स्थिति रस-निष्पादक रत्यादिकों में सम्भव नहीं दीखती, परन्तु रस की निष्पत्ति रत्यादि-ज्ञान से ही सम्पन्न होती है तथा जब रस रत्यादि-ज्ञानस्वरूप ही है और ज्ञान की स्वप्रकाशता सर्वसम्मत है तो रस की स्वप्रकाशता अव्याहत रहेगी ही। रस में स्वप्रकाशता सिद्ध तब न हो पाती जबकि रत्यादिक ज्ञान के स्वरूप से अतिरिक्त माने जाते, पर वस्तुतः दोनों अभिन्न ही हैं।

आनन्दचिन्मय

आनन्दांश और चिदंश दोनों ही रस के घटक हैं। जब रत्यादि ज्ञान-तादात्म्य से रस सम्पन्न होता है, रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणाचित् ही रस ठहरता है, और

---

२७. परमार्थतस्त्वखण्ड एवायं वेदान्त-प्रसिद्ध-ब्रह्म-तत्त्ववद् वेदितव्यः।

—सा० दर्पण ३।

२८. साहित्यदर्पण ३।१५, १६.

'रसोवै सः' के द्वारा श्रुति भी चैतन्य और रस को एक उद्घोषित करती है, तो चित् को कैसे कोई रस का अंग बनने से रोक सकता है। रस में चित् और आनन्द संगुम्फित स्थिति में रहते हैं। उसमें ज्ञान के आलोक के भीतर ही भाव का आलोक होता है—वस्तुतः चेतना का चिन्तन ही भाव बन जाता है।

वेद्यान्तर-स्पर्शशून्य विशेषण भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है, क्योंकि रसास्वादन-क्षण में चित् के बौद्धिक व्यापारों का उपराम हो जाता है अर्थात् वे पूर्णतः रसात्मक हो जाते हैं। इसीलिए रस को 'चर्व्यमाणतैकप्राण' कहा जाता है।

ब्रह्मास्वादसहोदर

रसास्वाद बहुत कुछ अंशों में ब्रह्मास्वाद-सहोदर होता है, ब्रह्मास्वाद रूप नहीं। दोनों के आस्वाद में अत्यन्त वैलक्षण्य है। ब्रह्मानन्द के क्षण में वासना उच्छिन्न हो चुकी होती है, जबकि रसास्वाद की स्थिति में विशोधित वासना बनी रहती है। रसानुभूति के समय प्रमाता, प्रमेय और प्रमा तीनों स्थित रहते हैं। सहृदय प्रमाता होता है, रस प्रमेय होता है और रस-चर्वणा प्रमा रूप से विद्यमान रहती है, चाहे प्रमाता को साधारणीकरण की स्थिति में उनका भान पृथक्-पृथक् भले ही न हो पाए। ब्रह्मास्वाद की स्थिति में प्रमाता, प्रमेय और प्रमा का पूर्णतः विलोप हो जाता है। तीनों का ब्रह्म में लय हो जाता है और 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' की स्थिति हो जाती है। ब्रह्मास्वाद विषय से असंवलित होने के कारण विशुद्ध ब्रह्मविषयक होता है तथा श्रवण-मनन-निदिध्यासन-व्यापार से जन्य होता है, परन्तु रसास्वाद विभावादि संवलित होने के कारण विशिष्ट रसविषयक होता है और व्यंजना-व्यापारमात्र से जन्य होता है। इस तरह विषय और कारण दोनों दृष्टियों से अन्तर बना रहता है। दोनों में साम्य है अलौकिकता का, स्वप्रकाशता का, अखण्डता का 'अन्यत् सर्वमिवतिरोदधत्' की स्थिति का तथा आनन्द-चिन्मयता का।

ब्रह्मास्वाद के लिए निर्विकल्पक समाधि अपेक्षित होती है जिसमें त्रिपुटी का भान नहीं रहता, पर रसास्वाद के लिए सहृदय को सविकल्प योगी बनना पड़ता है। इस सम्बन्ध में भावप्रकाशन के अध्याय दो के अन्त में वर्णित शारदातनय का दृष्टिकोण भी द्रष्टव्य है। वे रसानुभव को जीवात्मा के द्वारा अनुभूत संसारानन्द से भिन्न नहीं मानते। इस सम्बन्ध में वे कश्मीर के प्रत्यभिज्ञा शैव दर्शन से प्रभावित हैं। उक्त दर्शन के अनुसार पंच कंचुक से आवृत जीव राग, विद्या, कला इन तीनों तत्त्वों के सहारे संसार का आनन्द लेता है। उक्त तीनों तत्त्व जीव के प्राप्य आनन्द को परिमित कर देते हैं। विद्या वस्तुतः जीव की सर्वज्ञता-शक्ति को कम करने वाला तत्त्व है, परन्तु उसी के सहारे वह विषय का चयन करता है। कला जीव की सर्वकर्तृत्व शक्ति को संकुचित करती है। कला का अर्थ ही 'किंचित्कर्तृत्व' (कुछ करना) है। उक्त दृष्टि से तो वैसे प्रत्येक कार्य कला से उद्भूत होता है अतः न केवल काव्यकार, चित्रकार, मूर्तिकार, संगीतकार आदि ही कलाकार

कहलाते हैं, वरन् मिट्टी से घरौंदे बनाने वाला बालक, खेत को तैयार करने वाला कृषक, गृहस्थी संवारने वाली गृहिणी, ये सब कलाकार कहे जा सकते हैं। अन्तर केवल इतना है कि काव्य, चित्र आदि के सृजन से कलाकार का न तो स्वरूप-गोप होता है और न निकटतम लाभ की इच्छा से वह उनकी सृष्टि में प्रवृत्त होता है। इसीलिए जहाँ इस मानसिक स्थिति को लेकर रचना होती है, वहाँ कला का विशुद्ध रूप माना जाता है जो जड़ता को दूर करता है तथा आन्तरिक प्रकाश या चैतन्य के उदय का कारण होता है। यही शुभ कला है। इसी के सहारे जीव अपनी सीमा में कला के रूपों की सृष्टि करता है। नित्य-तृप्तित्व गुण का संकोचक तत्त्व राग है, परन्तु उसी के सहारे जीव अपने निश्चित विषय के प्रति तल्लीनता प्राप्त करता है। इस तरह प्रत्यभिज्ञा दर्शन की दृष्टि में राग, विद्या, कला इन तीनों तत्त्वों के सहारे जिस आनन्द की उपलब्धि होती है, वह भले ही अलौकिक होकर लोकोत्तर चमत्कार प्रदान करे, पर है वह संसारानन्द ही। यह वेदान्तियों और विरक्तों का हेय संसारानन्द नहीं है, क्योंकि नाना विचित्रता-संवलित जगत् परम शिव से नितान्त अभिन्न तथा उसका स्फुरणमात्र है। केवल अन्तर इतना ही है कि एक अपरिमित शक्ति-सम्पन्न है और दूसरे की शक्ति परिमित है। केवल कुछ अंशतः साम्य के आधार पर उसे ब्रह्मानन्दसचिव या ब्रह्मास्वादसहोदर कहना समीचीन नहीं लगता। इस प्रकार का अंशतः साम्य तो विरुद्ध पदार्थों में भी पाया जाता है, पर इतने से वे दोनों एक नहीं हो जाते। इस प्रकाश में यदि भरत, कालिदास और धनंजय की निम्न उद्धृत पंक्तियों को हृदयंगम करें तो वे उक्त तथ्य का समर्थन करती दीख पड़ती हैं। कारण यह है कि उनकी दृष्टि में नाट्य या उसी प्रकार की अन्य विद्याओं में लोक के यथार्थ चरित का ही भावानुकीर्तन या अवस्थानुकरण होता है।[२९]

लोकोत्तरचमत्कार-प्राण:—

ध्वनिवादी अभिनवगुप्त आदि आचार्य लोकोत्तरचमत्कार को रस का प्राण बताते हैं। चमत्कार का तात्पर्य है विघ्नविनिर्मुक्त या वीतविघ्न संवित्। इसी को प्रत्यभिज्ञादर्शन में आस्वाद, विमर्श, विश्रान्ति, समापत्ति आदि नाना नामों से अभिहित करते हैं। इससे परमशिव की मुक्तावस्था की ओर संकेत मिलता है। रसानुभूति के क्षण में प्रमाता भी मन, प्राण, बुद्धि के बन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर रसास्वादन करता है, एक प्रकार के आनन्दावेश में हो जाता है। यह है रसानुभूति का आध्यात्मिक आधार जिसको स्पष्ट करने के लिए चमत्कार को रसानुभूति का

---

२९. (क) त्रैगुण्योद्भवमत्र लोक-चरितं नानारस दृश्यते। —मालविकाग्नि० १।४

(ख) त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्य भावानुकीर्तनम्। —नाट्यशास्त्र १।१०७

(ग) अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्। — दशरूपक १।७

सार माना गया है- 'रसे सारश्चमत्कारः'। 'सचेतसामनुभवः' ही इस रस-सुख का मानदण्ड हो सकता है।

स्वाकारवदभिन्नत्वेनास्वाद्यः—

इससे विश्वनाथ आस्वाद के प्रकार की ओर संकेत करते हैं। तादात्म्यलाभ ही वस्तुतः आनन्द का स्वरूप है। दूसरे शब्दों में इसी को व्यक्तित्व—अध्यात्म का विकास कह सकते हैं। चित्तवृत्ति की यह तदाकाराकारित स्थिति ही रस, आनन्द, आस्वाद, और चर्वणा है जो चित्तद्रुति का परिणाम है। इस स्थिति में न तंगदिली रहती है, न भेदभाव। फलस्वरूप व्यक्ति आत्मरूप होकर रस की उपासना करता है, क्योंकि बिना तन्मय हुए रस का आस्वादन हो भी कैसे सकता है? रसयिता काव्य, सगीत, चित्र, मूर्ति जिसका रस लेना चाहता है, वही बनकर ही रस ले सकता है। इसके लिए कोई और मार्ग नहीं। तर्कवागीश साहित्यदर्पण की टीका में अपना मत इस प्रकार बताते हैं कि आत्मतत्त्व और शरीरतत्त्व के भिन्न होने पर भी दोनों के भेदोल्लेख के अभाव में जैसे 'अहं स्थूलः' आदि अनुभव होता है उसी प्रकार रस भी ज्ञातृ-ज्ञान-भेद के उल्लेखाभाव में आस्वाद्य होता है।[30]

इस प्रकार की सकल विघ्न-विनिर्मुक्त संवित्—रसास्वाद सबके भाग्य में नहीं होती। इसका प्रमाता विरल होता है। जैसे कोई विशिष्ट योगी ही ब्रह्म का साक्षात्कार कर पाता है, उसी प्रकार कोई पुण्यवान्—वासनाख्य संस्कार से युक्त सहृदय-ही रस-सन्दोह का आनन्द लेता है।[31] लेकिन यह तन्मयता—तादात्म्य, व्यक्तित्व का विस्तार-तभी आपाती है जबकि स्वनिरपेक्षता, तटस्थता या अनासक्ति का भाव जगता है। व्यक्ति यदि स्वचेत रहा तो उसकी अनुभूति निरपेक्ष न रहेगी और न विगलितवेद्यान्तर आनन्द उसे मिल पाएगा, क्योंकि स्वता का लगाव रसता का विरोधी होता है। रसता तो तब आती है जब प्रमाता भाव को अवैयक्तिक ही नहीं, सार्वभौम बनाता है और साक्षिरूप से द्रष्टा बना रहता है। क्योंकि इन्द्रियों और उसके विषयों का सम्बन्ध सुख-दुःख दोनों प्रदान करता है और वह सुख भी न स्थायी होता है और न परिणाम-रमणीय। परन्तु रसानन्द की विलक्षणता इसमें है कि वहां सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों भाव आनन्दमय हो जाते हैं। या दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि दुःखात्मक भाव सुखात्मक भाव की वश्यता स्वीकार कर आनन्दमय हो जाते हैं। केवल सहृदय सामाजिक की दृष्टि से मत सोचिए, प्राकृत प्राणी भी जब अपने पिछले दुःखों पर चिन्तन करता है तो वे दुःख भी सुखमय बन

---

३०. यथा स्वस्माद्भिन्नोऽपि देहोऽहं स्थूल इत्यादिभेदोल्लेखाभावेन प्रतीयते तथा रसोऽपि ज्ञातृज्ञेयोल्लेखाभावेनास्वाद्यते।

३१. पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रस-सन्ततिम्।

—सा. दर्पण ३। ३.

जाते हैं। कारण यह है कि उसमें उस क्षण कुछ अनासक्ति आजाती है, वह तटस्थ-भाव से उनका चिन्तन करता है, इसीलिए सुख का अनुभव करता है। कालिदास स्वयं इसका समर्थन करते हैं और कहते हैं कि राम और सीता ने जब वीथी में अभिलिखित दण्डक वन के चित्र देखे तो उन्हें पिछले दुःख भी सुख लगने लगे--

'प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु
संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्। '--रघुवंश १०। २५

जिस भाव का रसरूप से आनन्द लेना है उससे तन्मयता रखते हुए भी तटस्थता बनाए रखनी पड़ेगी। अन्यथा रस की उपलब्धि न हो पाएगी। निषाद के मर्मान्तिक बाण से विद्ध क्रौंच को देखकर क्रौंची ने हृदयशोषी दारुण दुःख का ही अनुभव किया, पर उसी घटना ने वाल्मीकि को आदिकवि बना दिया। इन्दुमती के लिए किए गए विलाप से अज के शोकदग्ध हृदय का ही परिचय मिलता है। राम के वियोग में छटपटा कर प्राण छोड़ते हुए दशरथ को जो व्यथा हुई, उसे कौन लेना चाहेगा, पर सामाजिक के लिए तो ये करुण रस के उत्तम प्रसंग हैं। मेघदूत में कुबेर के शाप से प्रियावियुक्त यक्ष को जो मर्मान्तिक वेदना एक वर्ष उठानी पड़ी, वह किसे अपने लिए रुचिकर होगी। परन्तु ज़रा सहृदय से पूछिए। वह कह उठेगा कि मेघदूत हृदय को द्रवित करने वाली विप्रलम्भशृंगार की एक करुण-गीतिका है, प्रेमाद्वैत का पावन धर्मग्रन्थ है। वस्तुतः अनासक्ति--तटस्थता--अरसनीय पदार्थों को रसनीय बना देती है। तादात्म्य—तन्मयीभवन--बिना तटस्थता के पूरा उतर नहीं पाता। अतः रसानुभूति के लिए तन्मयता और तटस्थता दोनों को एक साथ विकसित करने की आवश्यकता है। चर्वणात्मक आनन्द का यह सर्वोच्च स्तर है। विषयमूलक और सहानुभूतिमूलक दोनों आनन्द कोसों पीछे छूट जाते हैं। चर्वणा के संचार का यह क्षण ही रसिक में रस की स्फूर्ति का क्षण है। इसी क्षण उसकी अखिल एवं अखण्ड सत्ता रसमयी हो जाती है और कुछ ऐसी विशेष रासायनिक क्रियाएं रसिक के अन्तर में संचरित होने लगती हैं जिससे अरस, अरूप और विरूप तत्त्व भी रस में परिणत हो जाते है। इसकी स्पष्टता के लिए एक उदाहरण अपेक्षित है। एक बालक है जो अपने खिलौनों से खेलने में तल्लीन है। उसका हृदय उनमें तन्मय हो गया है। परन्तु तन्मयता की इस प्रक्रिया का रहस्य यह है कि भौतिक जगत् के एक सुखदायी तत्त्व ने—वह तत्त्व दुःखदायी, भयदायी, क्रोधदायी और घृणा-संचारक भी हो सकता है—उसके हृदय को अधिकृत कर लिया है और उसके प्रभाव के वशीभूत होकर वह (बालक) तज्जन्य सुख का लाभ करता है। यह सुख एक तो विशुद्ध स्थूल जगत् का है, दूसरे यह व्यक्तिगत है। वहीं एक तरफ बैठा हुआ बालक का पितामह है जो अपने पौत्र की क्रीड़ाओं को बड़ी रुचि और सहानुभूति के

साथ देख रहा है। पितामह खिलौनों की ओर से तटस्थ है। उसके अन्तर्जगत् का खिलौनों के साथ तादात्म्य तो नहीं हुआ है, पर खिलौने से खेलते हुए अपने पौत्र को वह स्नेह से देख रहा है और सहानुभूतिमूलक आनन्द का अनुभव कर रहा है। यह आनन्द स्थूल जगत् का तो नहीं है, पर है व्यक्तिगत ही। पितामह के व्यक्तित्व का निर्गलन नहीं हो पाया है, क्योंकि यह आनन्द एक विशेष बालक और उसकी भावना की ओर प्रधावित हो रहा है। उक्त दोनों ही आनन्द कलात्मक श्रेणी के नहीं कहे जा सकते। कारण यह है कि इनमें जहां एक व्यक्तिगत और ऐन्द्रिय होने के नाते स्थूल आनन्द के तादात्म्य की प्रक्रिया तो अपनाता है, परन्तु तटस्थता की प्रक्रिया से अपरिचित है, वहां दूसरा मानसिक होते हुए भी तादात्म्य-भावना-हीन और व्यक्तिगत है। यहां तटस्थता की भावना अधिक स्फुट है, परन्तु तादात्म्य-भावना पूर्णतः अस्फुट। परन्तु सहृदय सामाजिक के लिए वही पूर्वोक्त प्रसंग एक नई दृष्टि का उन्मेष करता है। वह बालक की भावना और पितामह के हृदय में प्रतिफलत उस भावना के प्रतिबिम्ब को एक सनातन भाव और चेतना के एक शाश्वत मूल्य के रूप में देखता है। बालक और उसके पितामह की भावना का अन्तर यहां मिट जाता है। बालक जैसे अपने विषय के साथ एकात्मता का अनुभव करते हुए उसके साथ बंध जाता है, वैसे ही सामाजिक भी विषय के साथ एकात्मता का अनुभव तो करता है पर बंधता बिल्कुल नहीं। पदार्थ के साथ वह अपने व्यक्तित्व का विलोप नहीं होने देता और सबसे बड़ी बात यह है कि उसकी यह भावना व्यक्तिगत न होकर अवैयक्तिक (Impersonal) है। उसका हरएक सहृदय साझीदार हो सकता है। यही वस्तुतः चर्वणात्मक आनन्द है जिसकी अनुभूति जैसा पहले कहा जा चुका है, तन्मयता और तटस्थता दोनों को एक साथ विकसित करने से ही हो सकती है। उक्त उदाहरण में दोनों ही पूर्णतः स्फुट हैं।

रस-परम्परा के अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने चिदावरण-भंग को ही रस माना है। यह वस्तुतः अभिनवगुप्त आदि व्यंजनावादी आचार्यों की रसव्याख्या का दार्शनिक परिष्कार है। अभिनवगुप्त की दृष्टि में भी रसन बोधरूप ही है, परन्तु अन्य लौकिक बोधों से विलक्षण है, क्योंकि इनके साधनभूत विभावादि लौकिक साधनों की अपेक्षा विलक्षण हैं। रति आदि स्थायीभाव जिसके विषय हों ऐसे आवरणमुक्त शुद्ध चैतन्य को ही रस कहते हैं। सिद्धान्ततः आत्मा चेतन है और जागतिक बन्धनों से परे है, परन्तु उस पर मन, बुद्धि, अहंकार आदि का आवरण पड़ा रहता है। जब तक वह न हटे, आनन्दघन चैतन्य का अनुभव नहीं हो पाता। इस आवरण को हटाने के नाना ऋजु-कुटिल मार्ग हैं। ज्ञान-लोक में विचरण करने वाला चैतन्यरूप आत्मतत्व की अनुभूति के लिए न जाने कितने खटराग करता है। वह काम्य-निषिद्ध कर्मों का वर्जन करता है, नित्य-नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करता है, यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि न जाने कितनी प्रक्रियाएं अपनाता है, तब कहीं उसका कल्मष धुलता है, तदनन्तर निर्मल-स्वान्त

और साधन-चतुष्टय-सम्पन्न होकर उक्त अनुभूति का अधिकारी हो पाता है। पर भावलोक के पथिक का दूसरा मार्ग है। काव्य-श्रवण या अभिनय-दर्शन से जब उसके पीड़ा और उत्तेजना के मूल अज्ञानावरण का भंग हो जाता है, तब उसके सामने अखण्ड, नित्य शुद्ध आत्म-चैतन्य प्रकट हो जाता है। इस काल में आत्मानन्द की ही अनुभूति के साथ-साथ स्थायी भाव की भी अनुभूति होती रहती है जो कि आत्मतत्त्व के आनन्दांश से संपृक्त होती रहती है। इसका तात्पर्य है कि भावोपहित आनन्द रूप चैतन्य ही रस है। रस-परम्परा में यह दार्शनिक परिष्कार पण्डितराज की अपूर्व देन है।

रस के सम्बन्ध में उक्त भावात्मक आभ्यन्तर दृष्टि के अतिरिक्त बाह्य दृष्टि भी पाई जाती है। शारदातनय ने भावप्रकाशन में इस बाह्य रस पर प्रकाश डाला है। उनकी दृष्टि में बाह्य रस भावात्मक रस की अपेक्षा कम महत्व के नहीं हैं। कुछ लोग नाटक में केवल नायक-नायिकाओं के रूप का, कुछ वाणी का, कुछ लीला का, कुछ हाव का, कुछ उक्ति का, कुछ संगीत का, कुछ सज्जा का, दृश्य का ही रस लेते हैं। तरुणों को काम की वार्ता में, विरक्तों को मोक्ष की बातों में, सभा-चतुर व्यक्तियों को नीति की बातों, अर्थपरायण सेठ-साहुकारों को पैसा कमाने की बातों में, शूरों को बीभत्स, रौद्र और युद्ध-प्रसंगों में, वृद्धों को धर्म-चर्चा और पुराणों में, बुधों को सात्त्विक भावों में तथा बालकों, मूर्खों और स्त्रियों को हंसी-विनोद की बावों और नटों की वेशभूषाओं में ही रस मिलता है।[32] परन्तु मेरी दृष्टि में शारदातनय ने यहां प्राकृत जनों की रुचि और उसके प्रति उनके आग्रह का ही कथन किया है। यह महाकवि कालिदास के 'नाट्यं भिन्न-रुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्'[33] की विशद व्याख्या मात्र है। नाटक जीवन की सभी अवस्थाओं का अनुकरण होता है, अतः उसमे जीवन के उच्च-नीच सभी प्रसंग किसी उद्देश्य-विशेष से वर्णित होते हैं। भरत भी नाटक को 'उत्तमाधम-मध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्' ही मानते है। काम का प्रसंग आने पर कामोपसेवियों को विलासका प्रसंग आने पर प्रभुओं को, अर्थ का

---

३२. कामुकैश्च विदग्धैश्च श्रेष्ठिभिश्च विरागिभिः।
शूरैर्ज्ञान-कथावृद्धै रसभाव-विवेचकैः॥
बालमूर्खाबलाभिश्च सेव्य यस्मादयमुच्यते।
तत्तदर्थेषु तेषां तु तस्मादेतत्प्रहर्षणम्॥
तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धाः समयाश्रिते।
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षेष्वथविरागिणः॥
शूरा बीभत्स-रौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च।
धर्माख्यानपुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यशः॥
सत्त्वभावेषु सर्वेषु बुधास्तुष्यन्ति सर्वदा।
बाला मूर्खास्त्रियश्चैव हास्यनपथ्ययोः सदा॥
भाव प्रकाशन पृ. २२९, २२८

३३. मालविकाग्निमित्रम् १। ४।

प्रसंग आने पर अर्थोपजीवियों को, घाटबाट झांकने का प्रसंग आने पर उचक्कों को आनन्द मिलना स्वाभाविक है, पर इसका 'रस एवात्रजीवितम्' या 'परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्य-विरहे व्यापार एव न शोभते' के रस से कोई सम्बन्ध नहीं। यहां रस की हलकी दृष्टि ध्यान में रख कर बात कही गई है। यहां रस नाम से साम्य भले ही हो, पर दोनों मे आकाश-पाताल का अन्तर लेखक को भी अभिमत है। वस्तुतः भारतीय रस दार्शनिकों की दृष्टि में रसानुभव आत्मलय की एक पावन स्थिति है जिसमें कलाकार या रसिक जीवन के निम्नस्तर में लीन न होकर उसके उच्चातिउच्च धरातल पर पहुंचता है तथा अपने भावात्मक अस्तित्त्व को पूर्णता तक पहुंचाता है, क्योंकि कला भारतीय मनीषी के लिए उसके अनुशासित जीवन का एक भव्य रूप है।

(ख)

"रसो वै सः", "रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" को मूलमंत्र मानकर प्रेम—(रस) की साधना करने वाले भक्तों ने रस की जो अजस्रधारा प्रवाहित की उससे विश्व का कण-कण आप्लावित हो उठा। इन प्रेमोपासकों की दृष्टि में उनके भगवान् निखिल प्रेमरसानन्दमूर्ति हैं। वे नित्य रस स्वरूप हैं, नित्य प्रेमस्वरूप हैं तथा नित्य आनन्द स्वरूप हैं। सूर्य की किरण के समान, अग्नि के स्फुलिंग के समान जीव प्रेम–रस–आनन्द स्वरूप शक्ति का अंश है। इसलिए तात्त्विक दृष्टि से प्रेम-रस-आनन्द ही जीव का स्वभाव है। इन प्रेम-साधकों की दृष्टि में प्रेम और आनन्द इतने अभिन्न तत्त्व हैं कि एक के बिना दूसरे की स्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आनन्द आस्वाद की वस्तु है, उसका रसन होता है अतः उसमें रस भी प्रतिष्ठित है। आनन्द अंश की अपने आनन्द अंश के लिए साधना स्वाभाविक ही है, क्योंकि वह उसी से उद्भूत होकर जीवित है और अन्त में उसी में लय हो जाता है।[३४] इसीलिए वैष्णव भक्तों ने इस प्रेमरसात्मक तत्त्व को अपनी उपासना का

---

३४. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानिजायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तत्तारीय उपनिषद् ३/६

केन्द्र बनाया और भक्तिरस को ही मुख्यतम रस माना। अन्य आलंकारिक अबतक देवविषया रति को भाव मानकर उसकी गणना हीन कोटि में किया करते थे, परन्तु इन वैष्णवों ने भक्ति को भावदशा से उठाकर रसदशा तक पहुंचा दिया, वह भी उस रसदशा तक जो समस्त रसों में श्रेष्ठ है तथा अन्य रस जिसके विकार मात्र ठहरते हैं—"वाचारम्भणं विकारा नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।"

श्रीमद्भावगवत में इसी रस–बीज का विस्तार मिलता है। समस्त वैष्णव-संप्रदायों का यही उपजीव्य ग्रन्थ है। यही कारण है कि उनके अनेक सिद्धान्तों में रस का किसी न किसी रूप में वर्णन अवश्य मिलता है। इस क्षेत्र में रूप गोस्वामी का "हरिभक्तिरसामृतसिन्धु" अपना विशेष महत्व रखता है। उसमें सर्वप्रथम भक्ति-रस का भरत की रस-विवेचन-प्रणाली को आधार मानकर सांगोपांग विवेचन मिलता है। रूपगोस्वामी कृत हरिभक्तिरसामृतसिन्धु "उज्ज्वलनीलमणि", जीव-गोस्वामी के षट् सन्दर्भ, तत्त्व-सन्दर्भ, भगवत्-सन्दर्भ, परमात्म-सन्दर्भ, कृष्ण-सन्दर्भ, भक्ति-सन्दर्भ और, प्रीति-सन्दर्भ, कवि कर्णपुर का अलंकारकौस्तुम एवं विश्वनाथ कविराज का चैतन्यचरितामृत (बंगला में) भक्तिरस के विवेचक महनीय ग्रन्थ हैं। इनमें एक तो रति को ही स्थायीभाव के रूप में ग्रहण करके उसका विशद एवं व्यापक विवेचन प्रस्तुत किया गया है और दूसरे भारतीय अलंकार-शास्त्र-सम्मत सभी नायक-नायिका भेदों पर विचार करके कृष्ण-राधिका को ही सर्वश्रेष्ठ नायक-नायिका के रूप में स्वीकार किया गया है। कामशास्त्र मे वर्णित श्रेष्ठ नायिकाओं के देहधर्म और मनोधर्म सभी राधिका में वर्णित हुए हैं। उनका काम प्राकृत काम नहीं, परन्तु उसके साहित्यिक रूप और आलंकारिक विश्लेषण में प्राकृत कामक्रीड़ा में प्रयुक्त होने वाले तत्त्वों से ही काम लिया गया है।

रस रूप में भक्ति के प्रतिष्ठापकों में पहले निम्बार्क और तदनन्तर सोलहवीं शताब्दी मे थोड़े–थोड़े अन्तर से वल्लभ, चैतन्य और हितहरिवंश का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। उन्होंने भागवत को उपजीव्य मानकर जो भक्तिधारा प्रतिष्ठित की वह पूर्णतः रसाप्लुत थी। श्रुति में परिगीत भगवान् की रसमयता को जीवन में उतार कर उन्होंने दिखा दिया। उसकी प्राप्ति के लिए केवल शर्त थी 'कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा।' बिना इसके भावदेह दुर्लभ माना गया। जब भावदेह ही नहीं तो भाव उदित कहाँ हो? आधेय के लिए तो योग्य आधार की आवश्यकता होती है। यही प्रीति भक्तों के हृदय में नाना क्रियाओं के रूप में उदित होती है। क्योंकि प्रीति का काम ही यह है कि वह कभी भक्त के चित्त को उल्लसित करती है और कभी उसे ममत्व-बुद्धि से संयुक्त कर देती है। उसी के कारण भक्त कभी विश्रम्भालाप में प्रवृत्त होता है और कभी रूठ जाता है। वही कभी उसके चित्त को द्रवित कर देती है और कभी अतिशय अभिलाषा से संयुक्त कर देती है। कभी स्वविषय को नितनूतन

ढंग से अनुभव कराती है और असमोर्ध्वचमत्कार के कारण उन्मत्त बना देती है।[३५] प्रीति की जिस अवस्था में अतिशय 'उल्लास' होता है, उसका नाम है 'रति'। यही रति ममत्व की अधिकता होने पर 'प्रेम' कहलाती है। प्रेम जब संभ्रम-रहित विश्वासमय हो जाता है तब उसका नाम 'प्रणय' पड़ जाता है। अतिशय प्रियत्व के अभिमान से प्रणय कौटिल्य का आभास ग्रहण करने पर जिस भाववैचित्र्य को ग्रहण करता है, उसे 'मान' कहते हैं। चित्त को द्रवित करने वाले प्रेम की 'स्नेह' संज्ञा होती है। स्नेह अतिशय अभिलाषयुक्त होने पर 'राग' रूप में परिणत होता है। राग अपने विषयों को नए-नए रूपों में अनुभव कराके और स्वयं भी नितनूतन होकर 'अनुराग' बन जाता है। यह वह स्थिति है जिसमें प्रिय से सम्बन्ध रखने वाला प्रत्येक पदार्थ—चाहे वह जड़ हो या चेतन—प्रिय लगने लगता है, फिर भक्त कुंज, लता द्रुम, तृण और पाहन बनकर भी अपने प्रिय से संयुक्त होने के लिए आतुर हो उठता है। यही अनुराग जब असमोर्ध्वचमत्कारिता पाकर उन्माद हो जाता है, तब 'महाभाव' कहलाता है। इस महाभाव के उदय होने पर मिलनावस्था में पलक का गिरना भी असह्य हो जाता है। कल्प का समय भी क्षण समान अनुभव होता है और विरह में क्षणकाल भी कल्प के समान दीर्घ प्रतीत होता है। ये सब रस-साधना में रत भक्त के चित्त की स्थायी चित्तवृत्तियां हैं, जिन्हें वह अपनी साधना की विभिन्न अवस्थाओं में आत्मसात् करके आगे बढ़ता है। अपने तारतम्य के कारण यह रति वैष्णव-ग्रन्थों में पांच प्रकार की मानी गई है—शान्ति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य तथा इन्हीं से शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रस नामक पांच रसों का उदय होता है। इन पाच रसों मे भी पूर्व-पूर्व रसों के सार-गुण उत्तर-उत्तर रसों में उपलब्ध होते है तथा मधुर रस में शान्तादि रसों के समस्त सारगुण घनीभूत मिलते हैं। इसी में प्रेम की पराकाष्ठा है। प्रेम के भीतर जितना आश्चर्यमय, अपूर्व, चिन्मय उल्लास या उच्छ्वास निहित है उसका अनिर्वचनीय प्राकट्य मधुर रस में ही होता है उक्त पांच रस ही भक्त के लिए प्रधान रस है। हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक ये सब गौण रस है। भक्त के मन में तो पूर्वोक्त पांच रस ही रहते हैं, अन्य रस तो कारण पाकर आजाते हैं और भक्ति का पोषण करते हैं। अन्य रस तो मुख्य (रस—) धारा की सहायक धारा कहे जा सकते हैं। यथा

१. गोप्यः कामात् भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो मताः ।
सम्बन्धाद्वृष्णयो यूयं सख्याद् भक्त्या वयं विभो ।।—भागवत

---

३५ प्रीतिः खलु भक्तचित्तमुल्लासयति, ममतया योजयति विश्रम्भयति, प्रियत्वातिशयेनाभिमानयति, द्रावयति, स्वविषयं प्रत्यभिलाषातिशयेन योजयति, प्रतिक्षणमेव स्वविषयं नव-नवत्वेनानुभावयति, असमोर्ध्वचमत्कारेणोन्मादयति।

—श्रीकृष्ण संदर्भ

२. रौद्रोऽद्भुतश्च शृंगारो हास्यो वीरो दया तथा ।
भयानकश्च बीभत्सः शान्तः स प्रेमभक्तिकः ।।

—भागवत पर श्रीधरी टीका

बहुत कुछ अपने पूर्ववर्ती अलंकारशास्त्र पर आधारित होने पर भी इस भक्ति-रस के सम्बन्ध में कुछ नवीन मौलिक उद्भावनाएं मिलती हैं। एक तो श्रीकृष्ण विषयक रति को भावरूप से ही स्वीकृत किया गया है। जबकि श्री कृष्ण प्रेम-रसानन्द-मूर्ति ठहरते हैं तो उनकी रति रसरूपा ही होगी, भावरूपा नहीं। दूसरे कान्तादिविषयक रति में उतनी पुष्टता भी नहीं हो सकती जितनी कृष्णविषयक रति में। कारण यह है कि भगवद्भक्तिमूलक रस का स्फुरण शाश्वत होता है, जबकि काव्य-रस का स्फुरण केवल उसके संवेदन-काल में सीमित रहता है। संवेदन-काल के पूर्व काव्य-रस की सत्ता नहीं होती और संवेदन-काल के पश्चात् उसका अभाव भी निश्चित होता है। परन्तु नित्य पदार्थ की सत्ता ज्ञानकाल में, उससे पूर्व और उसके बाद भी रहती है। इसीलिए श्री मधसूदन सरस्वती ने कान्तादिविषयक रति से भगवन्निष्ठ रति को उसी प्रकार बलवती माना है जैसे खद्योतों से आदित्य-प्रभा—

परिपूर्ण-रसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः ।
खद्योतेभ्य इवादित्य-प्रभेव बलवत्तरा ।।

—भक्तिरसायन २।७६

इसकी एक अन्य—वह भी सबसे बड़ी—विशेषता यह है कि इसके विषय और आश्रय दोनों ही रसस्वरूप हैं। भरत की परिपाटी में रस सामाजिक-निष्ठ माना जाता है, नायक-निष्ठ नहीं। नायक-निष्ठ रस की दृष्टि से तो वहां विवेचन ही नहीं हुआ। काव्य-रस में यदि देखा जाए तो विषय और आश्रय विभाजित ठहरते हैं। ऐसी स्थिति में भी जब अलौकिक रस निष्पन्न हो जाता है तो जहा दोनों सजातीय होंगे वहां रस कितना अलौकिक और पुष्ट होकर सामने आएगा, इसकी कल्पना सामान्य व्यक्ति नहीं कर सकता। कारण यह है भक्तों की दृष्टि में न केवल विषय और आश्रय ही रस-स्वरूप हैं, बल्कि भगवान् की लीला, लीलास्थान, लीलापरिकर और उद्दीपनादि सामग्री सभी रस-स्वरूप ठहरते हैं। वहां तो आस्वादयिता सहृदय रसरूप, उसका आस्वाद्य विषय रसरूप, उसकी समस्त कार्य-कारण-सामग्री भी रसरूप होती है। रस ही रस का आस्वाद लेता है। अपूर्व स्थिति है। यहां तो 'विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' यह भरत का सूत्र काम करता नहीं दीखता। इसीलिए मेरा यह दृढ विचार है कि भक्तों ने पहले से चली जाती हुई भरत की परिपाटी को अवश्य अपनाया, परन्तु उससे भक्तिरस की निष्पत्ति बिल्कुल उसी प्रकार नही होती जिस प्रकार काव्यरस की निष्पत्ति। यही इस रस की अपनी विशेषता है और इसी कारण इसमें काव्यरस की अपेक्षा आनन्द का अत्यन्ताधिक्य है। यतिवर नारायण तीर्थ भी

इसी आधार पर भक्ति रस की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं।[३६] साहित्य शिरोमणि आचार्य आनन्दवर्धन को भी कवियों की अभिनव रस-दृष्टि तथा ज्ञानियों की तपःपूत ज्ञान-दृष्टि में वह रस नहीं मिला जो उन्हें भगवद्भक्ति में प्राप्त हुआ।[३७]

उक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि भक्तिरस में रसत्व अपनी उच्चाति उच्च एवं विशुद्धतम स्थिति पर विद्यमान रहता है। उसमें न लौकिक रस (भाव) की-सी वैयक्तिकता है और न अस्थिरता है। लौकिक रस कभी सुखात्मक होते हैं, कभी दुःखात्मक और कभी मोहात्मक। अलौकिक रस—काव्यरस की-सी कृत्रिमता और अनित्यता भी उसमें नहीं मिलती। कृत्रिमता एक तो इस दृष्टि से कि यद्यपि ये भाव अपने अलौकिक विभावन-व्यापार के कारण व्यक्तिगत सम्बन्ध से दूर हटकर सर्वसाधारण की सम्पदा बन जाते हैं, पर हैं ये कविप्रतिभाजन्य ही। दूसरा कारण यह है कि विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोग से रस-निष्पत्ति का सिद्धान्त स्थिर हो जाने पर यह भी मानना पड़ जाता है कि कोई स्थायीभाव अपने कारण से भी उत्पन्न होता है और कार्य से भी। बस यही प्रातिकूल्य इस स्थिति को कृत्रिम बना देता है। अनित्यता के सम्बन्ध में पूर्व प्रकाश डाला जा चुका है। परन्तु भक्तिरस नित्य है, सोलहो आना स्वाभाविक है, पूर्ण है और अलौकिक है। मोह की दशा में मानव भले ही उसे बाहरी विषयों में खोजता हुआ भटकता फिरे, परन्तु विवेक की आंख खुलने पर वह उसे भीतर ही खोजने में लग जाता है। फिर तो मक्खियां जैसे मधु पर, ऐसे ही उसकी समस्त वृत्तियां रसकेन्द्र—भक्ति पर ही टूटती हैं। यह कल्पना नहीं, नितान्त सत्य है। इसकी प्राप्ति को ही जीवन का उपनिषद् या रहस्य कहा जा सकता है। यही कारण है कि यह सर्वश्रेष्ठ है। ठीक भी है-'नाल्पे सुखमस्ति। यो वै भूमा तत्सुखम्। यदल्पं तन्मर्त्यम्।'

उक्त विवेचन को देखते हुए निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि रस की कई श्रेणियां देखने में आती हैं। उनको समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम पहले रस को लौकिक और अलौकिक दो श्रेणियों में विभक्त करलें। सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि

---

३६. इत्थं च लौकिकरसे शृंगारादौ विषयावच्छिन्नस्यैव चिदानन्दांशस्य स्फुरणादानन्दांशस्य न्यूनत्वं भगवदाकारोक्तचेतोवृत्तिलक्षणे भक्तिरसे तु अवच्छिन्नचिदानन्दघनस्य भगवतः स्फुरणादत्यन्ताधिक्यमानन्दस्य। अतो भगवद्भक्तिरस एव लौकिकरसानुपेक्ष्य परमरसिकैः सेव्यः॥

—भक्तिचन्द्रिका,

३७. या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां नवा।
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थ-विषयोन्मेषा च वैपश्चिती॥
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं।
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्।

—ध्वन्यालोक वृत्ति ३।४२

से लौकिक रस का भले ही उसके घटक तत्त्व के रूप में कोई महत्व न हो, क्योंकि यह रस मूलतः शारीरिक और ऐन्द्रिय स्तर पर ही उदित होता है। परन्तु इसको सामने रखकर अध्ययन करने में अलौकिक रस के रूप पर जो प्रकाश पड़ता है, वह उसकी स्पष्टता के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

अलौकिक रस को मुख्यतः दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है। उनमें से प्रथम है काव्यशास्त्रीय रस और दूसरा है अध्यात्म रस। अध्यात्म-रस में 'रसो वै सः' की मूलभावना काम करती है। यह स्वयं प्रकाशमूल आनन्द–स्वरूपानन्द है जिसका वर्ण विशुद्ध श्वेत है तथा जो अपने में अनावृत, अखण्ड एवं पारदर्शी है। आनन्द की मूल-चेतना का स्रोत यही है। यदि इसकी सत्ता न हो तो जीवन में प्रकृत या विकृत रूप में आनन्द की अनुभूति सम्भव ही न हो पाए। यह आनन्द ही प्राणन-क्रिया का कारण है। इसी से आनन्द मिलता है। आत्मानन्द (ब्रह्मानन्द) की इस अनुभूति के अनन्तर किसी अन्य से भय का अवकाश नहीं रहता। जीवन में जो कुछ भी आनन्द मिलता है वह इसी मूल आनन्द की अल्पमात्रा ही होती है[३८]। इस स्थिति में साधक के समस्त अज्ञान और उसकी समस्त इच्छाएं एवं क्रियाएं निवृत्त हो जाती हैं, वह पूर्ण शान्ति की स्थिति में हो जाता है। भारतीय दृष्टि आनन्द की इसी मूलचेतना को अपना कर चलती है, इसी के सहारे सबको समझने का प्रयत्न करती है तथा जागतिक विभिन्नता में भी इसी मूलतत्त्व को व्याप्त देखकर अद्वैत की अनुभूति कर बैठती है।[३९] यह आनन्द ही रस है। यह रस का सर्वातिशायी एवं सर्वोच्च रूप कहा जा सकता है।

काव्यशास्त्रीय रस लौकिक और अध्यात्म (अलौकिक) रस का मध्यवर्ती होता है। उसकी जड़ें जरूर लौकिक जगत् में समाई हुई होती हैं, पर उसकी निकटता जितनी अध्यात्म रस से होती है उतनी लौकिक रस से नहीं। अन्तर केवल इतना होता है कि आत्मानन्द का विशुद्ध आनन्द जो काव्य-नाट्य-संगीत आदि में प्रतिफलित (प्रतिबिम्बित) होता है, वह रति आदि से आवृत होने के कारण उसी तरह नाना वर्णों में भासित होता है जैसे सूर्य की शुभ्र किरणें प्रिज़्म शीशे से देखने पर सतरंगी दिखाई पड़ती हैं।[४०] इच्छा का विनिवर्तन तो यहां भी होता है, पर कुछ क्षण के

---

३८. को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति। सैषानन्दस्य मीमांसा भवति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन। आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। तैत्त० (ब्रह्मानन्द बल्ली)
एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।

३९. येनैकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति। बृहदारण्यके ४।३।३२

४०. अलौकिकेन व्यापारेण तत्कालविनिर्वर्तितानन्दांशावरणज्ञानेन अतएव प्रमृष्टपरिमितप्रमातृत्वादि-निजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्ट-वासनारूपःरत्यादिरेव रसः।

रसगंगाधर–निर्णयसागर प्रेस
षष्ठ संस्करण
प्रथम आनन २५,२६

लिए ही, जबकि अध्यात्म रस में उसकी विनिवृत्ति सदा के लिए होती है। कारण यह है कि इच्छा और वास्तविक आनन्द की अनुभूति साथ-साथ नहीं हो सकती। वैसे दोनों ही आनन्द आत्यन्तिक कहे जा सकते हैं, दोनों ही मनोग्राह्य एवं बुद्धिग्राह्य होते हैं पर होते हैं वे द्वन्द्वातीत और अतीन्द्रिय ही। आनन्द की विशुद्धि दोनों की समान होती है, शान्ति भी वही मिलती है तथा उसकी अनासक्ति और तटस्थता भी उसी श्रेणी की होती है। आचार्य विश्वनाथ का काव्यानन्द को ब्रह्मास्वाद-सहोदर कहना तथा धनंजय का उसे आत्मानन्द-समुद्भव बताना यही सूचित करता है कि काव्यानन्द आत्मानन्द के अधिक निकट है, अपेक्षाकृत विषयानन्द के। यही कारण है कि काव्यानन्द को आचार्यों ने प्रतिबिम्बितानन्द कहा है।

लौकिकानन्द (विषयानन्द) में भी रस मिलता है, पर उस रस का काव्यरस और अध्यात्मरस से कोई सम्बन्ध नहीं। वह तो सोलहो आना उनके विपरीत है। लौकिक प्रसंग में रस का तात्पर्य है राग,[४१] कामात्मक,[४२] स्थूल-रति या वासनात्मक[४३] काम-प्रसंग। यह रस जीव के बन्धन का कारण है और वैसे उसे वास्तविक आनन्द से विमुख रखता है। यह आनन्द शारीरिक और मानसिक स्तर पर ही होता है। इन्द्रियों का इन्द्रियार्थ से सन्निकर्ष होने पर जो आनन्द मिलता है, वह यही है और इस पर भी दुःख, शोक और मूढता का आवरण चढ़ा रहता है। इस रस का लोलुप नर इन्हीं के चिन्तन में रत रहता है, उससे उसकी उनके प्रति आसक्ति बढ़ती है, आसक्ति से काम और काम में बाधा पड़ने से क्रोध, क्रोध से सम्मोह और उससे स्मृति-विभ्रम, स्मृतिभ्रंश से बुद्धि का नाश और बुद्धिनाश से जीव का स्वयं प्रणाश हो जाता है। गीता में यह प्रसंग बड़े सुन्दर ढंग से वर्णित हुआ है।[४४] इसीलिए कनक-कामिनी से विरत रहने के लिए किसी संस्कृत कवि की निम्न सूक्ति हृदयावर्जक ढंग से उक्त रहस्य का आख्यान कर देती है—

---

४१. विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्टवा निवर्तते ॥

गी॥ २।६०

४२. रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव।

—काद० प्राम्ना० ८

४३. रसालापांश्च वर्जयेत्।

४४. ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद्भवतिसम्मोहः सम्मोहात्स्मृति-विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

—गीता २।६२,६३

कनकं कामिनीं वापि कोविदः कोऽद्य कामयेत् ।
अलंकार-रसास्वादैरानन्दैक-रसस्य मे ।

पंचकोश-सिद्धान्त की कसौटी पर कसकर देखने से भी रस का उक्त वर्गीकरण और स्पष्ट तथा प्रामाणिक सिद्ध हो जाता है। जीव पांच आवरणों से जो उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते चले जाते हैं, आवृत है। सबसे ऊपरी स्थूल आवरण है शरीर का जिसे अन्नमय कोश कहते हैं। इसके बाद का आवरण है प्राणशक्ति का जिसमें पंचप्राण समाहित हैं और जिसका नाम प्राणमय कोश है। इसके बाद मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश आते हैं जो क्रमशः संकल्पविकल्पिकात्मिका मनःशक्ति और व्यवसायात्मिका बुद्धिशक्ति के प्रतीक हैं। पंचम आवरण है आनन्दमय का जो सर्वान्तिम तथा अत्यन्त सूक्ष्म है। मनुष्य के समस्त क्रिया-कलाप इन्हीं की देखरेख में इन्हीं से मिली प्रेरणा के आधार पर चलते रहते हैं। कुछ कार्यों के मूल में अन्नमय कोश की प्रेरणा रहती है अतः वे स्थूल होने के कारण आहार-निद्रा-भय-मैथुन तक ही सीमित रहते हैं। इसका प्राणी के स्थूल शरीर से ही सम्बन्ध रहता है। कुछ में प्राणशक्ति की ऊर्जा के साथ कहीं मानसिक संकल्प-विकल्प और कहीं बुद्धि के अध्यवसाय के दर्शन होते हैं। इनमें कहीं मानसिक संघर्ष प्रबल दीखता है, कहीं बुद्धि का स्थिर ज्ञान तथा कहीं दोनों का सम्मिश्रण। यह स्थूल शरीर से आगे की दशा है और इसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। अन्तिम आनन्दमय कोश जीव की वास्तविकता है। इसकी प्राप्ति उसकी अपनी स्वरूपावाप्ति है। इसे पाने पर उसके लिए कुछ पाना शेष नहीं रहता। यहां पहुंचकर वह सर्वतृप्त हो जाता है। इसे कारण शरीर का नाम दिया जाता है। इसी आनन्द से समस्त सृष्टि आरम्भ होती है, इसी से जात होकर जीवित रहती है और अन्त में इसी में संप्रवेश कर जाती है।[४५] उक्त पाचों कोशों मे स्थूल शरीर का सम्बन्ध प्रथम कोश (अन्नमय) से, सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध बाद के अन्य तीन (प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय) कोशों से तथा कारण शरीर का सम्बन्ध अन्तिम आनन्दमय कोश से है। काव्य रस-प्राप्ति के हेतु स्थूलशरीर और उससे प्राप्त होने वाले रस से अपने को पूर्णतः दूर रखकर सूक्ष्म-शरीर में अनुप्रविष्ट होना पड़ता है। इस अनुप्रवेश के समय शारीरिक और ऐन्द्रिय आनन्द पीछे छूट जाते हैं जो लोक-धर्मी होते हैं। उनका स्थान ग्रहण कर लेते हैं मानसिक और बौद्धिक आनन्द जो नाट्य-धर्मी और काव्य-धर्मी कहे जाते हैं। इस विशुद्ध स्थिति में विभावादि-जीवितावधि जो रस मिलता है, उसका अन्नमय कोश से कोई सम्बन्ध न होकर आनन्दमय कोश से ही होता है। भले ही वह आनन्दमय कोश का विशुद्ध मूल आनन्द न हो, पर है वह उसी से उद्भूत आत्मानन्दसमुद्भव जो रति आदि नाना रूपवर्णों के साथ अनुभूति का विषय बनता है। यहां स्थूल शरीर के समस्त व्यवधानों के दूर हो

४५. आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि······आनन्दमभिसंविशन्ति ।

—तैत्तरीय उपनिषद् । ३/६

जाने पर स्पष्ट दृष्टि, कल्पना और सहज प्रतिभा के सहारे जो अभिव्यक्ति होती है वह पूर्ण एवं अखण्ड होती है और जिसके द्वारा आन्तर सत्य का समुद्घाटन होता है। यही अभिव्यक्ति काव्य, नाटक तथा संगीत आदि ललित कलाओं के काम की है और इसी से स्थायी रूप से न सही, कुछ ही क्षण के लिए आनन्द की वास्तविक अनुभूति सुलभ होती है। अतः उक्त विवेचन को देखते हुए यह सिद्ध हो जाता है कि काव्यशास्त्रीय रस का निकट से जितना सम्बन्ध अध्यात्म रस से है उतना भौतिक (लौकिक) रस से नहीं है। उसकी जड़ें भले ही भौतिक जगत् में गहरे गई हों, पर उसमें जो मादक पुष्प-फल-समृद्धि दीखती है वह अलौकिक ही है, इसमें सन्देह नहीं।

कालिदास ने अपने शाकुन्तल में शकुन्तला के व्यक्तित्व के चित्र से भी इसी उक्त सत्य का उद्घाटन किया है। उनकी शकुन्तला का जन्म अंशतः मानव-मूल से और अंशतः दिव्यमूल से हुआ है। उसका मूल मानव भी तप पूत होने के कारण अत्युत्कृष्ट है। इन दोनों मूलों से उत्पन्न प्रभा-तरल ज्योति शकुन्तला वसुधातल की सम्पत्ति नहीं, वह दिव्य है, अलौकिक है,[४६] क्षण-क्षण पर दिखाई देने वाली अपनी रमणीयता के कारण चिर-नूतन है। कलाकृतियों में पाया जाने वाला रस भी बिल्कुल इसी प्रकार दिव्य, अलौकिक एवं चिरंतन होता है।

इस प्रकार रस-यात्रा की कहानी बड़े ही मनोरम ढंग से चली है। यात्रा के बीच के विभिन्न पड़ाव उसकी पृष्ठभूमि में विद्यमान नाना चिन्ताधाराओं और उनके द्वारा लिए गए अनेक मोड़ों की ओर इंगित करते हैं। इन्हीं मोड़ों और पड़ावों पर खड़े होकर चिन्तन की स्वाभाविकता और उसकी अतल गहराई का पता लगाया जा सकता है और उस सम्बन्ध में कुछ 'इदमित्थम्' कहा जा सकता है।

---

४६. मानुषीभ्यः कथं नु स्यादस्य रूपस्य सम्भवः।
न प्रभा-तरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्॥

—शाकुन्तलम्। १/२६

तृतीय परिच्छेद

श्रृंगार की भावना और विकास

सिद्धान्त पक्ष – (अपरिभाषित)

किसी वस्तु की प्रथम परिभाषा देखकर यह मान बैठना कि परिभाषित वस्तु का आरम्भ वहीं से हुआ है, भारी भूल होगी। परिभाषा तो परिभाषित वस्तु की पूर्व सत्ता का पक्का सबूत है। यह वह नियम है जिसका कोई अपवाद नहीं मिलता। परन्तु वस्तु जब गम्भीर हो तथा सृष्टि के मूल में निहित होकर उसके स्थितिकाल तक जीवन तथा चेतना के प्रत्येक पार्श्व तथा स्तर पर उदित होकर अपनी विराट् लीला का प्रदर्शन करती चले तो उसे अपने पूरे विकास की स्थिति तक पहुँचते-पहुंचते शताब्दियां कभी-कभी सहस्राब्दियां भी लग सकती हैं। इस दृष्टि से रसरूप में शृंगार के प्रतिष्ठित होने में न जाने कितना समय लगा होगा। आरम्भ तो इसका उसी समय हो गया था जब विश्व की निर्मात्री तथा नियामिका शक्ति ने अपने देह को द्विधा विभक्त करके अर्ध भाग से पुरुष और दूसरे अर्ध भाग से नारी की सृष्टि की थी और फिर उन दोनों के संयोग से विराट् जगत का प्रसार किया था।[1] उपनिषद् के साक्ष्य के अनुसार भी उस शक्ति ने एक से अनेक हो जाने की कामना की थी और तब फिर प्रजनन-चक्र चला था।[2] यह विश्व के स्रष्टा की कहानी है। यद्यपि हमारे विषय का सीधा सम्बन्ध स्रष्टा से न होकर उसकी सृष्टि से है और हमें अपने विषय के निरीक्षण एवं परीक्षण के लिए सृष्टि के तत्त्वों का ही सहारा लेना है, परन्तु इतनी बात तो इससे स्पष्ट हो जाती है कि सामान्यत: समस्त सृष्टि के और विशेषत: शृंगार रस के मूल में कामतत्त्व प्रतिष्ठित है। कितनी सीमा-अनुपात-में तथा किस रूप में शृंगार रस के लिए काम की आवश्यकता है यह दूसरा प्रश्न है। अवसर आने पर इसका विवेचन किया जाएगा।

सृष्टि के मूल में प्रतिष्ठित काम का विकास भी धीरे-धीरे हुआ। पहले वह शारीरिक स्तर पर उत्तेजना के रूप में उदित हुआ होगा। फिर कुछ दिनों बाद

---

१. द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥

—मनुस्मृति १/३२

२. सोऽकामयत। बहु स्याम्। प्रजायेय।

—छान्दोग्य ६/२/३
तैत्तिरीय ३/६

मनमें आशा और संकल्प रूप में विराजमान काम के दर्शन हुए होंगे। वही काम बुद्धि में विचार-स्फूर्ति तथा चेतना में गति, विस्तार और स्फीति का कारण है, यह बात तो और आगे चलकर प्रतीत हुई होगी। काम के इस विराट रूप के विकास में क्या कुछ कम समय लगा होगा? इस रूप की प्राप्ति में शताब्दियां लग गई होंगी। फिर कहीं यह रूप शृंगार रस के अनुकूल हो पाया होगा। संयोग–वियोग की नाना स्थितियों के भीतर नाना नूतन रूप में इसके दर्शन हुए होंगे। कुछ काल तक तो मानव–चेतना इसी में आपादमस्तक निमज्जित रही होगी। फिर इसके कारणों, कार्यों और सहकारी कारणों की तरफ ध्यान गया होगा। धीरे-धीरे विभाव–आलम्बन-उद्दीपन, अनुभाव, सात्त्विक भाव और संचारिभावों का पता चला होगा; तब कहीं इनके संयोग से रस-निष्पत्ति की बात सोची गई होगी। परिभाषाएं तो इसके कहीं बाद बनी होंगी। यह सब कहने का मेरा उद्देश्य केवल यह है कि शृंगार रस की परिभाषा बनने से पूर्व शृंगार रस के घटक तत्त्वों के विकास की कहानी जो भारत के वाङ्मय और उसकी ललित–कला की कृतियों में बिखरी मिलती है, वह उसकी परिभाषा से कम महत्व की नही है। वह एक ऐसा मूलाधार है जिसके सहारे आगे चलकर परिभाषाएं निर्मित हुईं। इसलिए परिभाषा–काल में प्रवेश करने से पूर्व यह अत्यन्त आवश्यक है कि पहले अपरिभाषित–काल में बिखरे हुए शृंगार रस के घटक तत्त्वों का संचयन कर लिया जाए, पश्चात् उनके प्रकाश में परिभाषाओं पर विचार किया जाए।

प्रकृति के पदार्थों का भोग करना और उनका स्वाद लेना मानवमात्र का सहज स्वभाव है। उपनिषद् में सृष्टि के इस महान् सत्य को हृदयंगम कराने के लिए एक सुन्दर रूपक मिलता है। एक वृक्ष है, उस पर दो पक्षी बैठे हैं। उनमें से एक पक्षी सुस्वादु फल को चखने में व्यस्त है और दूसरा केवल देख रहा है।[3] इस रूपक में वृक्ष का अभिप्राय प्रकृति से है। प्रकृति का भोक्ता जीवात्मा है और तटस्थ भाव से द्रष्टा परमात्मा है। जीवात्मा अपनी सहज भूख को मिटाने के लिए प्रकृति पर अपना पूरा आधिपत्य चाहता है। जैसे–जैसे वह आगे बढ़ता है, प्रकृति धीरे–धीरे उसके सम्मुख नितनूतन आकर्षण का उद्घाटन करती है। वह उन्हें हथियाता चलता है, उपभोग के क्षणों में उन पर चिन्तन करता चलता है और उन्हें नया रूप देने की अभिलाषा उसे आतुर कर देती है। इस स्थिति में उसे केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से सन्तोष नहीं मिलता। अपने जीवन को अधिक सरस और सौन्दर्यमय बनाने के लिए वह प्रयत्न करता है। यहीं उसके द्वारा संगीत, साहित्य और अन्य ललित–कलाओं

---

३. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

मुण्डकोपनिषद् ३/१/१

की सृष्टि होती है। इससे एक ओर उसकी मन और आत्मा की भूख शान्त होती है और दूसरी ओर वह सुसभ्य और सुसंस्कृत भी बनता है।

सृष्टि के आदिकाल में मानव अपनी आदिम और प्रकृत अवस्था में था। किसी प्रकार के विधि-निषेध के बन्धन को मानकर चलना उसकी प्रकृति के विरुद्ध था, वह साहस और शक्ति का पुंज था और साथ ही साथ संयम-हीन भी। उसकी मांसपेशियां अपार वीर्य से उर्जस्वित थीं। ऐसा व्यक्ति कितनी निर्द्वन्द्वता और पौरुष के साथ अपनी काम की भूख को मिटाता होगा, आज उसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। आज के युग का छोटे क़द का स्वास्थ्य की दृष्टि से जीर्ण-शीर्ण मानव उस युग के देवदारु-से लम्बे, स्वस्थ पूर्वजों की कामोत्तेजना और मानसिक बवण्डर का अनुभव नहीं कर सकता। स्वभाव से भोक्ता होने के नाते वे पूर्वज निर्बाध रूप से अपने काम की तृप्ति में रत रहते होंगे और इससे उन्हें शरीर, मन और चेतना के स्थूल अद्वैत का अनुभव भी होता होगा। परन्तु इस तृप्ति को शृंगार रस नहीं कहा जा सकता। यह तो क्षुधा की तृप्ति की भांति एक तृप्ति है। इस प्रकार के कामोन्मेष का शृंगार रस से कोई सम्बन्ध नहीं। शृंगार रस में काम का शरीर और इन्द्रियों के स्तर से ऊपर उठ जाना अनिवार्य है। रसानुभूति की दशा में काम सिक के मन, बुद्धि, चित्त और उसकी कलात्मक चेतना के समस्त स्तरों पर संचरण करता है। तभी रसिक अलौकिक सुख, शान्ति, चित्तद्रुति, बौद्धिक सन्तुलन और परा निर्वृति का अनुभव करता है। शारीरिक स्तर पर कामोन्मेष की स्थिति मे तो उत्ताप, उद्वेग, सम्मोह, चित्त का संकोच, बुद्धि में तम का संचार, शक्ति का क्षय आदि ही हाथ लगता है। परन्तु इस प्रक्रिया में जब अभावात्मक, सामाजिक या अन्य किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित हो जाता है तो प्राणी अन्य, अपेक्षाकृत सूक्ष्म और उन्नत उपायों का अवलम्बन करने को बाध्य हो जाता है। वह शरीर और इन्द्रियों के स्तर से ऊपर उठ जाता है। परिणामस्वरूप इन्द्रियों का प्रमथनकारी स्वभाव उसके कार्य में वाधक नहीं होता। इस अवसर पर उसके जीवन में स्मृति, आकांक्षा, आशा, प्रत्याशा, इच्छा आदि का नाना रूपों में आविर्भाव होता है और फलस्वरूप तज्जन्य विभिन्न प्रतिक्रियाएं देखने में आती हैं। मानसिक बवण्डर के स्थान पर मनःप्रसाद और बुद्धि में तम के संचार के स्थान पर उसकी निर्मलता आ जाती है। यह स्थिति रसोदय के लिए उपयुक्त होती है। इसके उदय होने पर अपनी प्रकृत और आदिम स्थिति में भी जिस क्षण मानव ने काम की शारीरिक भूख से संतृप्त होने की दशा में काम के स्थूल-व्यापारों से सोलहो आना विरत होकर अपने पिछले काम-प्रसंग एवं तज्जन्य आनन्दोल्लास का मानसिक और बौद्धिक स्तर पर निर्विकार रूप से एकान्त आस्वादन किया होगा, वह शृंगार रस की अवश्य सर्वप्रथम अवस्था रही होगी। परिभाषाओं में खोजने पर इसका प्रसंग भले ही न मिले, पर वस्तुस्थिति यही है। मेरा अपना यह विश्वास है कि परिभाषाएं परिभाषित वस्तु के मूलभावों के सम्बन्ध

में परिभाषाकार के दृष्टिकोण को, जो बहुत कुछ आंशिक होता है, समझाने का प्रयत्न मात्र हैं। परिभाषाकार जो दृष्टि देता है, वह मीमांसा के कृत्रिम सांचे में ढली होने के कारण बहुत कुछ कृत्रिम और अधूरी रहती है। अनुभूति एक तो विवेचना के सांचे में ढाली नहीं जा सकती, दूसरे ढालने के प्रयत्न में वह अनुभूति नहीं रहेगी, भले ही और कुछ बन जाए। यही कारण है कि मैं शृंगार रस के अपरिभाषित रूप को कम महत्व नहीं दे रहा हूँ।

यहाँ मैं एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूं। शृंगार के मूल में काम प्रतिष्ठित है, इस स्थिर सिद्धांत के आधार पर यह संकल्पना नहीं कर लेनी चाहिए कि काम की समस्त स्थूल उत्तेजनाएं, उसके शुभ–अशुभ समस्त प्रेरक आवेग रसानुभूति के क्षण में विद्यमान रहते है और रसिक को उनकी साक्षात् अनुभूति होती रहती है। इस सम्बन्ध में एक तो यह ध्यान में रखना चाहिए कि रसका सम्बन्ध भौतिक जगत् से न होकर भावजगत् से है। इसीलिए आचार्यों ने उसके अलौकिकत्व पर विशेष बल दिया है और उसकी उद्‌भूति के लिए जगत् की स्थूल कारण–कार्य-परम्परा को अनावश्यक ठहरा कर विभावानुभाव–व्यभिचारि–संयोग से रस-निष्पत्ति की बात कही है। दूसरी जो इस सम्बन्ध में बड़े महत्व की बात है, वह यह है कि रस-दशा में काम-ग्रन्थियों (Sex glands) का व्यापार काम-दशा में होने वाले उनके व्यापारों से अत्यन्त भिन्न प्रकार का होता है। इस बात को कुछ और स्पष्ट करने की आवश्यकता है। काम-ग्रन्थियों के दो प्रकार के व्यापार देखने में आते है। उनके व्यापार का प्रथम प्रकार है प्रजननात्मक (generative) शारीरिक स्तर पर कामोन्मेष होने पर यह प्रकार अपना काम करता है। इसके कारण समस्त शरीर उत्तेजित होकर आन्दोलित हो उठता है, स्नायुमण्डल में तीव्र गति होने लगती है, श्वासोच्छ्‌वास में परिवर्तन दीखता है, रुधिर और मांसपेशियों में नये रासायनिक तत्त्वो का सृजन आरम्भ हो जाता है, शुक्र-ग्रन्थियों से रस का क्षरण होने लगता है तथा पेशियों में एक विशेष प्रकार के व्यापार का आविर्भाव हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि काम के समस्त अधिष्ठान–इन्द्रिय मन, बुद्धि–एक विशेष प्रकार की कुण्ठा का अनुभव करते हैं।[४] यह व्यापार सर्वसाधारण के लिए सुलभ है। इसकी परिधि में पहुँचकर मानव और पशु एक-सा व्यवहार करते दीखते हैं। इसके लिए सामान्य स्थूल चेतना की आवश्यकता होती है जो प्राणिमात्र में पाई जाती है। काम-ग्रन्थियों का दूसरे प्रकार का व्यापार है सर्जनात्मक (Creative) तथा आनन्दानुभूत्यात्मक (recreative)। सर्जनात्मक प्रकार कारयित्री प्रतिभा वाले कलाकारों में और आनन्दानुभूत्यात्मक प्रकार भावयित्री प्रतिभा के धनी सहृदयों में पाया जाता है। इसके लिए चेतना के सामान्य स्तर से काम नहीं चलता। जो व्यक्ति संवेदनशील होते हैं, भावजगत् की ऊंचाई तक पहुँच सकते हैं, वे ही इसके अधिकारी होते हैं और वे

४. गीता—३/४०

ही काम के अनिष्टकारी रूप के भीतर से उसके हृद्य और श्रेष्ठ रूप का अनावरण करके दिखा पाते हैं । काम की यही स्थिति रसनीय होती है और अपनी रस्यमानता के कारण शृंगार रस कही जाती है । आनन्दानुभूत्यात्मक क्षमता भी सबके अधिकार की बात नही होती । काव्यानुशीलनाभ्यास से जिनका मनोमुकुर विशद हो जाता है और जिनमें वर्णनीय-तन्मयीभवन योग्यता होती है, वे ही अधिकारी होते हैं । इसीलिए कवि को 'अरसिकेषु कवित्व-निवेदनम्' बहुत अखरता है और 'साहित्य-संगीत कलाविहीन' को वह पशु घोषित करता है ।

उक्त दोनों प्रकारों में महान् अन्तर है । यदि एक में संघर्ष है तो दूसरे में विश्रान्ति । यदि एक में उद्वेग उच्छलित हो रहा है तो दूसरे में वेग । यदि एक में कामना का नग्न एवं अश्रेयस्कर रूप है तो दूसरे में उसका उदात्त रूप । एक की सीमा अधः संचरण है तो दूसरा ऊर्ध्व संचरण में सहायक है । उक्त अन्तर को यदि ध्यान में रखा जाए तो शृंगार रस के सम्बन्ध में काम को लेकर किसी भ्रांति के बने रहने की आवश्यकता न रहेगी ।

रसों का मूल स्रोत—अथर्ववेद

रस के मूल स्रोत को लेकर प्राचीन ग्रन्थों में विभिन्न उद्धरण मिलते हैं, जिनमें से कुछ परस्पर-सापेक्ष तथा कुछ परस्पर-निरपेक्ष दीखते हैं । कहीं पर सामान्यतः रस की उत्पत्ति अथर्ववेद से बताई गई है तो कहीं रस के विशेष भेदों को लेकर उनके मूल स्रोतों की तरफ विभिन्न संकेत कर दिये गये हैं । नाट्य-शास्त्र के 'रसानाथर्वणादपि', 'एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना' आदि रस के मूल-स्रोत की तरफ इंगित करने वाले सामान्य संकेत हैं और 'भावप्रकाशन' के 'शृंगार उद्भूत् साम्नो वीरोऽभूद्वितो ऋचः । अथर्ववेदतो रौद्रो बीभत्सो यजुषः क्रमात् ।।' "कैशिकी वृत्तितो जज्ञे शृंगारः पूर्वतो मुखात्" एवं नाट्यशास्त्र के 'कैशिकी सामवेदाच्च' आदि अनेक विशेष रसपरक संकेत हैं।ऊपर से भले ही उक्त उद्धरण असम्बद्ध प्रतीत होते हों, परन्तु मूल स्रोतों का अलग-अलग कथन तत्तद्रसों की मूलभूत भावनाओं को लेकर ही किया गया है अतः उन्हें परस्पर-विरुद्ध नहीं कहा जा सकता । यहां पर केवल 'रसानाथर्वणादपि' पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है ।

नाट्यशास्त्र में नाट्य की उत्पत्ति ब्रह्मा से बताई गई है । नाट्य के सभी अंगों का यथावत् चिन्तन करके ब्रह्मा ने ही उन्हें उचित रूप प्रदान किया । रस को तो नाट्य में इतनी प्रमुखता मिली कि वह वस्तुतः नाट्यशब्द का मुख्यार्थ बन गया।[५] बात भी ठीक है । नाट्य है क्या चीज ? वह तो नाटकादि अन्यतम काव्य विशेष

५. तेन रस एव नाट्यम्—अभिनव भारती पृ० २६७

से द्योतित अर्थ ही तो है जिसका प्रेक्षक नटके अभिनय के प्रभाव से साक्षात्कार करता है और जिसके साथ उसका मानस एकतान हो जाता है। यह वह एक चित्तवृत्ति है जो स्व-पर-रूप से प्रतीयमान अनन्त चित्तवृत्तियों से विलक्षण ठहरती है और साधारणीभूत होने के कारण सामाजिकों को भी अपनी परिधि में समेट कर तदाकार रूप से भासित होती है और निर्विघ्न स्व-संवेदना मे ही विश्राम पाने वाले जिस व्यापार से यह गृहीत होती है उसी का नाम चर्वणा या रसना है, इसीलिए इस चित्तवृत्ति को रस कहते हैं। भरत ने रस की उत्पत्ति भी ब्रह्मा से ही बताई है। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में ही इसका संकेत कर दिया गया है कि समस्त लोक-वेदज्ञ ब्रह्मा ने चारों वेदों का चिन्तन किया और ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस का निचोड़ लेकर नाट्य की रूप-रेखा बना दी।[६] स्थूल रूप से बिना कुछ व्यक्त वचनों के नाट्य में तो काम चलता नहीं। शब्द नाट्य के शरीर हैं। वाचिक अभिनय की निष्पत्ति इनके बिना हो ही नही सकती अतः ऋग्वेद से पाठ्यांश का लेना आवश्यक ही है। पाठ्यांश में स्वरों की प्रसक्ति के कारण सामवेद से गीत लेना भी उतना ही आवश्यक है। बिना गीत के नाट्य में उपरंजकता आ ही नहीं सकती। दूसरी बात यह भी है कि नाट्य-प्रयोग के गीत प्राण हैं अतः संगीत के उद्गम-स्थल से उनका लिया जाना समुचित ही है। यजुर्वेद में अध्वर्यु के यज्ञीय क्रिया-कलापों में आंगिक एवं आहार्य अभिनय की प्रवृत्ति पूर्ण रूप से देखने को मिलती है अतः वहां से अभिनय का लिया जाना स्वाभाविक ही है। रही बात रस की, इस पर आगे विवेचन किया जा रहा है।

यही बात बिल्कुल इसी रूप में संगीत रत्नाकर में भी मिलती है।[७]

उक्त प्रसंग से मतलब की दो बातें निकलती हैं एक तो यह कि रस पर प्रथम विवेचन अथर्ववेद में मिलता है और दूसरी यह कि आवश्यक उपकरणों का समाकलन करके सर्वप्रथम द्रुहिण (ब्रह्मा) ने रस की सामान्य रूपरेखा स्थिर की। आवश्यकता इस बात की है कि नाट्य के आत्मतत्त्व रस का सम्बन्ध अथर्ववेद से कैसे सिद्ध किया जाय ? कुछ तो बाह्य प्रमाण ऐसे मिलते हैं जो अथर्ववेद के साथ रस के सम्बन्ध की ओर इंगित करते हैं। गोपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर यह कहा गया है[८] कि

---

६. जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥ —नाट्यशास्त्र १/१७

७. ऋग्यजु.सामवेदेभ्यो वेदाच्चाथर्वणः क्रमात्।
पाठ्य चाभिनयान् गीतं रसान् संगृह्य पद्मभूः॥
व्यरीरचत् त्रयमिदं धर्मकामार्थमोक्षदम्। —संगीतरत्नाकर ७/९. १०

८. एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वगिरसः।
येऽगिरसः स रसः। येऽथर्वाणस्तद् भेषजम्।
यद् भेषजं तदमृतम्। यदमृत तद्ब्रह्म। —गोपथ ब्राह्मण ३/४

अथर्ववेद ही ब्रह्म का सार है। उसी में वेदों का रस और अमृत निहित है। इस प्रकार अमृत-तत्व से परिपूर्ण एवं रसरूप अथर्ववेद से रस का उद्गम कोई असम्भव बात नहीं लगता। दूसरा प्रसंग ऐतरेय ब्राह्मण का है जहां यज्ञ की पावनता का वर्णन करते समय यज्ञ को रथ रूप में कल्पित करके वाणी और मन को उसके पहियों का रूप दिया गया है। वाणी और मन से यज्ञ सम्पन्न होता है। यज्ञ में अध्वर्यु को जहां उसकी सम्पन्नता के लिए वाचिक और शारीरिक क्रियाएं करनी पड़ती हैं, वहां उसके लिए कुछ मानसिक और आत्मिक क्रियाएं भी अनिवार्य रहती हैं। वाणी का पहिया अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) मार्ग पर चलता है जबकि मन का पहिया परोक्ष मार्ग पर। पहले को चलाने में त्रयी (ऋग्वेद और यजुर्वेद और सामवेद) का हाथ है और दूसरे को परिचालित करने में अथर्ववेद आवश्यक है। यहां मन के द्वारा संस्करण की बात से मनोभावों को रसात्मक रूप देने वाले रस-विधान की ओर स्पष्ट संकेत मिलता है।[९]

रही अन्तः प्रमाण की बात, उसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि अथर्ववेद में रस या मनोभावों का कोई सांगोपांग सुस्पष्ट चित्र मिलता है। हां, उसमें छुटपुट बिखरे हुए कुछ रसात्मक प्रसंगों के संग्रह से रस की एक सामान्य भावना अवश्य बनाई जा सकती है। अथर्ववेद में प्राप्त मन के चित्र को लीजिए। वैसे मन और उसकी सदसत् अनन्त शक्तियों का वर्णन तो अन्य वेदों में भी पर्याप्त मिलता है, पर उसकी संकल्पात्मक, कल्याणकारी एवं सर्वव्यापक विभूति काम का काव्यात्मक रूप से वर्णन अथर्ववेद में ही मिलता है। काम ही सबका अभिलषणीय, संकल्पमय एवं सर्वप्रथम उत्पन्न तत्त्व है जिसकी शक्ति के आगे देवगण, पितर, मनुष्य सभी झुकते है। वह वस्तुतः महान् है, ज्यायान् है।[१०] कान्तिमय काम की शक्ति जीव की शक्ति से भी कहीं बड़ी है। समान भाव से स्थिरता से खड़े रहने वाले वृक्ष-पर्वतादि से भी स्थिरता के सामर्थ्य में तथा जलवर्षक मेघ तथा जल को धारण करने वाले महान् समुद्र से भी सामर्थ्य में काम बहुत बड़ा है।[११] यहां संकल्पमय, महान् तेजस्वी काम के पद तक तो वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र तक नहीं पहुंच पाते।[१२]

---

९ अयं वै यज्ञो योऽयं पवते। तस्य वाक् च मनश्च वर्तन्यौ। वाचा च हि मनसा च हि यज्ञोऽवर्तत। इयं वै वाक्। अदो मनः। तद् वाचा त्रय्या विद्ययैकं पक्षं संस्कुर्वन्ति। मनसैव ब्रह्मा संस्करोति।

—ऐतरेय ब्राह्मण २५/८/३३

१० कामो जज्ञे प्रथमो नैन देवा आपु पितरो न मर्त्याः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि॥

—अथर्ववेद ९/२/१९

११. ज्यायान् निमिषतोऽसि तिष्ठतो ज्यायान् समुद्रादसि काम मन्यो।

—वही ९/२/२३

१२. न वै वातश्चन काममाप्नोति नाग्निः सूर्यो नोत चन्द्रमाः।

—वही ९/२/२४

संकल्प-रमणीय काम का यह प्रसंग रस की दृष्टि से विशेष महत्व रखता है। यह वह मूल उद्गम स्थान है जहां से सभी भाव उद्भूत होकर अपना रूप ग्रहण करते हैं, तथा जहां काम की विश्व-व्यापक शक्ति और उसकी कमनीयता में प्रमोदात्मा रति के दर्शन होते हैं। इस सूक्त के अतिरिक्त काण्ड छह में पांच सूक्त और मिलते हैं। दो सूक्त हैं काण्ड छह के आठ और नौ। दोनों सूक्तों का देवता काम है। विषय है पति-पत्नी की परस्पर रति और उसको धृति के साथ निभाने की कामना। रति के संयोग-पक्ष का पूर्णरूप इनमें मिलता है। अन्य तीन सूक्त हैं काण्ड छह के एक सौ तीस, एक सौ इकत्तीस और एक सौ बत्तीस इनका देवता स्मर है। इनमें रति का विशद चित्र अंकित मिलता है, रति को उदात्त बनाए रखने पर बल दिया गया है तथा उसके वियोग पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। इनमें मन की रागात्मिका वृत्तियों की स्मर रूप से कल्पना की गई है तथा जिसमें शृंगार के संयोग, अयोग एवं वियोग तथा उसके घटक अन्य भावों के सूक्ष्म परन्तु सुस्पष्ट चित्र मिलते हैं। विलासी नायक-नायिकाओं के द्वारा एक दूसरे के अनुकूल होकर दर्शन-स्पर्शन आदि का परस्पर किया जाना संभोग कहलाता है। यह यद्यपि चुम्बनालिंगनादि-भेद से अनेक प्रकार का होता है, तब भी कामिन्यारब्ध और कान्तारब्ध भेद से दो प्रकार का ठहरता है। अथर्ववेद के काण्ड छह सूक्त नौ में प्रेमी-प्रेमिकाओं की परस्पर दर्शन-कामना का चित्र देखिये। पुरुष कहता है,' हे प्रियतमे। तू मेरे हाथ, पैर, जांघ, आंख एवं समस्त शरीर को मन से चाह और प्रेम भरी दृष्टि से देख। मैं भी तेरे मोहक चक्षु और केशपाश आदि अंगों की प्रबलता से कामना करूं और उन पर सप्रेम दृष्टिपात करता रहूं।[१३] यहां वर-वधू में परस्पर एक दूसरे को देखने की आतुरता स्पष्ट है। दोनों की तरफ से दर्शन की कामना है अतः वह नायकारब्ध और नायिकारब्ध दोनों ही ठहरती है। संयोग शृंगार का दर्शन ही एक ऐसा पहलू है जिसमें पहल नायक और नायिका दोनों ओर से हो सकती है, परन्तु जिसकी सम्भावना चुम्बनआलिंगनादि में अपेक्षाकृत कम होती है। इसी प्रकार चुम्बन-आलिंगन का प्रसंग आता है। चुम्बन ही एक दूसरे को परस्पर बांधने वाला तथा परस्पर स्वीकार करने का उपाय है।[१४] प्रेमी हृदय में लगी अपनी प्रेमिका को अपनी भुजा पर चिपटाए रखने एवं उसे बाहुपाश में आबद्ध किए रखने की कामना करता है जिससे वह उसके हृदय की इच्छा के भीतर रहे और उसके चित्त में बस जाए।[१५] जिस प्रकार लता वृक्ष से सब ओर से लिपट

---

१३. वांछं मे तन्वं पादौ वांछाक्ष्यौ वांछ सक्थ्यौ।
अक्ष्यौ वृषण्यन्त्याः केशा मां ते कामेन शुष्यन्तु॥

—अथर्ववेद ६/६/१

१४. यासां नाभिरारेहणं (चुम्बनम्) हृदि संवननं कृतम्।

—वही ६/६/३

१५. ममत्वा दोषणिश्रिषं कृणोमि हृदयश्रिषम्।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥

६/६/२

जाती है, उसी का आश्रय लेती है इसी प्रकार प्रेमी चाहता है कि उसकी प्रियतमा प्रेम से उसका सब ओर से आलिंगन करे और उसका आश्रय ले।[१६] उक्त सूक्तों में रति के कुछ ऐसे बिखरे तत्त्व मिलते हैं जिनसे संयोग शृंगार की रूप-निष्पत्ति होती है। स्मर के स्वरूप का जो विश्लेषण मिलता है उसमें काव्याचार्यों द्वारा परिगणित सभी कामदशाओं[१७] की रूपरेखा मिल जाती है। उक्त दशाओं का सम्बन्ध शृंगार के एक भेद अयोग से होता है जो कि शृंगार की वह स्थिति है जहां नायक-नायिका परस्परानुरक्त रहते हैं और उनका चित्त एक दूसरे के प्रति पूरे तौर से आकृष्ट रहता है, परन्तु माता-पिता की परतन्त्रता के कारण या भाग्य के फेर से दोनों एक दूसरे से अलग ही रहते हैं और इसीलिए उनका संगम नही होता।[१८] यही पूर्वराग की स्थिति है अतः दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि शृंगार के पूर्वराग की बिना विशेष नाम-निर्देश के स्पष्ट भूमिका यहां विद्यमान है। इसी सूक्त के एक मंत्र में रति का अत्यन्त हृदयग्राही रूप मिलता है। प्रार्थना इस प्रकार है—'हे देवो! तुम हम प्रेमी-प्रेमिकाओं में इस प्रकार के परस्पर स्मरण करने वाले प्रेम भाव को जागृत करो जिससे हम एक दूसरे को एकचित्त होकर सदा स्मरण करते रहें और दूर देशस्थ होकर वियोग में भी स्मरण करें और एक दूसरे के दु.ख से दुःखी रहें।[१९] वस्तुतः रति इसके अतिरिक्त और है ही क्या? वह तो प्रेमी-प्रेमिकाओं की प्रेम नामक एक विशिष्ट चित्तवृत्ति ही तो है जो एक दूसरे की ओर प्रधावित होती रहती है।[२०] इसी सूक्त के अगले मंत्र में प्रसंग आता है कि देवताओं ने मानव-हृदय मे काम की इसीलिए प्रतिष्ठा की है कि प्रेमी अपनी प्रेमिका को कभी न भूले, प्रेमिका भले ही प्रणय या ईर्ष्या के कारण मान-प्रदर्शन करती रहे।[२१] इस मंत्र में भी रति की ही व्याख्या है, पर एक कदम आगे। यहां रति अपनी विशिष्ट प्रवृत्ति को आत्मसात् किए पूर्वराग से मान तक बढ़ी है। वही पर आगे स्मर की मादकता का

---

१६. यथावृक्ष लिबुजा समन्तं परिषस्वजे
एवापरिष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा अस. ६/८/१

१७ अभिलाषश्चिन्ता स्मृतिगुणकथनोद्वेगसम्प्रलापाख्याः।
उन्मादोऽथव्याधिः जड़तामृतिरिति दशात्र कामदशाः॥
साहित्यदर्पण ३/१९०

१८ तत्रायोगेऽनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयोः।
पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसगमः॥
—दशरूपक ४/५

१९. असौ मे स्मरतादिति प्रियो मे स्मरतादिति॥
देवाः प्रहिणुत स्मरमसौ मामनुशोचतु॥ अथर्व० ६/१३०/२

२०. स्त्रीपुरुषयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्य-चित्तवृत्तिविशेषो रति.।
—रसगंगाधर।

२१ यथा मम स्मरादसौ नामुष्याहं कदाचन।
देवा प्रहिणुत स्मरमसौ मामनुशोचतु॥
—अथर्व० ६/१३०/३

भी चित्र मिलता है जो कि विशेष उद्दीपक परिस्थितियों में प्रेमी को दीवाना बना देता है।[२२] यह प्रार्थना की गई है मरुत्, अन्तरिक्ष और अग्नि से। मरुत् के कृपा लवलेश से शीतल-मन्द-सुगन्ध समीरण सुलभ होते देर न लगेगी। अन्तरिक्ष के अनुकूल होने से सपरिकर ग्रह, नक्षत्र, चन्द्र, आदित्य, जलभरे झूमते जलद, हिरण्यवर्णा पुराणी युवती उषा, अरुणाभ संध्या एवं चन्द्रिका-धवलित रात्रि की मादकता मिल ही जायगी। अजरदीप्ति वाले अग्नि देव (अगम् ऊर्ध्वंगच्छति) से दीप्ति, ऊर्ध्वसंचरण शीलता (ऊँचाई), पावनता और उष्णता का संस्पर्श पाकर प्रेम चमक उठेगा। यहां रति-भाव की उच्चभूमि के साथ उसके उद्दीपन विभाव की ओर स्पष्ट संकेत मिलता है, परन्तु यहां जिस दीवानेपन की चर्चा है उसका सम्बन्ध प्रेमियों के चिरस्थायी प्रेम में निरत रहकर एक दूसरे की अभिलाषा करने से है, न कि विषय-लोलुपता में अंधे होकर दीवाना होने से। इसीलिये रस-विधान में सत्त्वोद्रेक की स्थिति आवश्यक ठहराई गई है। इसी सूक्त के प्रथम मंत्र में प्रेम के सम्बन्ध में एक बड़े मार्के की बात कही गई है, वह यह है कि रथजित् अर्थात् रमण–साधनों व वेगों पर वश करने वाले और राथजितेयी अर्थात् रमण–साधनों व वेगों पर रमण करने वाली स्त्रियों को यह स्मर अर्थात् परस्पर एक दूसरे को स्मरण कराने वाला सहज प्रेम उत्पन्न होता है।[२३] यह परस्पर दृढ़ प्रेम उन स्त्री-पुरुषों में ही उत्पन्न होता है जो एक दूसरे के वियोग में भी अपने रमणसाधन इन्द्रियों और कामवेगों पर वश करते हैं, अन्यथा वे कुत्सित काम-प्रवाह में बहकर राह भूल जाते और प्रेम को स्थिर नहीं रख सकते। यही रति-भाव भरत आदि आचार्यों को नाट्य एवं काव्यानुकूल जान पड़ा, केवल वासनात्मक यानी लैंगिक या यौन नहीं।

रति केवल प्रेमी-प्रेमिकाओं की दृष्टि से ही नहीं वर्णित हुई है, उसका कुछ पारिवारिक महत्व है। वह इकहरी न होकर दुहरी है और भारतीय भावना के अनुकूल है। घोड़े जैसी तीव्रगामी सवारी से चौबीस या साठ मील गये प्रियतम को न केवल प्रियतमा का आकर्षण ही शीघ्र खींच लाता है, बल्कि स्नेह के सहारे माता-पिता के परस्पर अन्तःकरण का बन्धन सन्तान रूप अटल, अनुपम आनन्दग्रन्थि भी अपना सहज एवं तीव्र आकर्षण रखती है।[२४] रति की यह एक व्यापक दृष्टि है जिसमें प्रेमी-प्रेमिकाओं की प्रमोदात्मा रति के साथ-साथ वात्सल्यमूलक रति भी विद्यमान है। काण्ड छह के एक सौ तेंतीस सूक्त में विवाह-बन्धन एवं परस्पर के प्रेमाभिलाष को दृढ करने के लिए कुछ नैतिक उपाय बताये गये हैं और साथ ही साथ कुछ मनचले

---

२२. उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्षमादय।
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनुशोचतु॥ 　　अथर्व० ६/१३०/४

२३. रथजितां राथजितेयीनामप्सरसामयं स्मरः।
देवाः प्रहिणुत स्मरमसौ मामनुशोचतु॥ 　　वही ६/१३०/१

२४. यद् धावसि त्रियोजनं पंचयोजनमाश्विनम्।
ततस्त्वं पुनरायासि पुत्राणां नो असः पिता॥ 　　—अथर्व० ६/१३१/३

लोगों के द्वारा आवश्यक बन्धन की अवहेलना किये जाने पर राज-नियम का सहारा लेने की बात की गई है जिससे स्त्री-पुरुष एक-दूसरे को आजीवन त्याग न करें।[२५] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रस का विवेचन भले ही अपने परिनिष्ठित रूप में यहां न मिले पर उसके मूलभूत शक्तिरूप भावों का संग्रह अवश्य मिलेगा जिनका वर्णन भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय में किया है।

मन्यु सूक्त में वीर-रस के स्थायीभाव उत्साह और उसके पोषक अनेक संचारियों के स्वरूपों के प्रस्फुटन के अतिरिक्त रौद्र और उससे सम्बद्ध भावों का रूप भी स्पष्ट दीखता है। यहां मन्यु शब्द उत्साह अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, क्रोध अर्थ में नहीं। वह तो उत्साह की प्रतिक्रिया के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। जब यह उत्साह अपने मन-रूपी रथपर (सरथम्)[२६] आरूढ़ होता है, उस समय मनुष्य (हर्षमाणाः)[२७] प्रसन्न चित्त होते हैं। उनका मन (हृषिताशः)[२८] कभी निराशायुक्त नहीं होता, आनन्द से सब कार्य करने में समर्थ होता है। उत्साह से (मर+उत्[२९]+वन्) मरने की अवस्था में भी उठने की आशा बनी रहती है। उत्साह से मनुष्य (अग्निरूपाः[३०] नरो) अग्नि के समान तेजस्वी बनते हैं। उत्साह से (उग्रं पाजः)[३१] विलक्षण उग्र बल बढ़ता है। यह उत्साह अन्त. शक्तियों का (नः सेनानी)[३२] सचालक सेनापति-जैसा बनता है। इसीलिए इस सूक्त में यह प्रार्थना की गई है कि उत्साह हमारे मन का स्वामी (अस्माकं अधिपा.)[३३] बने। वैसे ऋग्वेद के इन्द्र सूक्त विशेष रूप से उत्साहवर्धक है परन्तु अथर्ववेद में उत्साह एक प्रमुख भाव रूप में वर्णित हुआ है। उसके धर्मों, अंगों और उपांगों का भी पूरा हवाला मिल जाता है।

शत्रुओं के सामने पहुंचने पर यही उत्साह रौद्ररूप धारण करता है, सर्वनाश के लिए तुल जाता है। ऐसी स्थिति में रौद्र रस के स्थायीभाव क्रोध की समर्थ अभिव्यक्ति हो उठती है। यहां चित्त एक विशिष्ट प्रज्वलित स्थिति में हो जाता है।

---

२५. यं देवाः स्मरमसिंचन्नप्स्वन्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ —वही ६/१३२/१
वरुण का धर्म है व्यवस्थाओं को धारण कराना और सुपथ पर चलाना, देखिये ऋग्वेद मण्डल १/२५/१२
२६. अथर्ववेद ४/३/१
२७. वही ४/३/१
२८. वही ४/३/१
२९. वही ४/३/१
३० वही ४/३/१
३१ वही ४/३१/३
३२. वही ४/३१/२
३३. अथर्ववेद ४/३१/५

प्रार्थी कहता है कि ऐ मेरे उत्साह ! तुम अग्नि की तरह प्रज्वलित हो उठो । संग्राम में हम तुम्हारा आवाहन करते हैं । तुम्ही मेरे सेनापति हो जाओ । मेरे शत्रुओं का सर्वनाश कर दो और उनका पूरा-पूरा प्रतिशोध ले लो ।[३४]

मन्युदेव के उक्त स्वरूप की उद्दीप्ति में दुंदुभि सूक्त (५-२०-२१) भी विशेष महत्व रखता है । वीर रस के उद्दीपन विभाव की दृष्टि से उक्त सूक्त का अध्ययन आवश्यक है । संस्कृत के वीर–काव्यों के मूल उद्गम स्थल ये ही कहे जा सकते हैं ।

उक्त विवेचन से निष्कर्ष यह निकलता है कि रस के मूल में भाव की प्रतिष्ठा होती है । 'न भावहीनोऽस्ति रसो न रसो भाववर्जितः ।' भाव मूर्त नहीं, अमूर्त होते हैं । वे वस्तुतः मनुष्य के परिपक्व-चिन्तन के परिणाम हैं, अतः परम रमणीय हैं । यह परिपक्व-चिन्तन मानव को उसके अपने जीवन के प्रभात में नहीं मिला था । जगत् के विकास में मनुष्य की स्वाभाविक चिन्ताधारा का यही विकास-क्रम है कि पहले मनुष्य मूर्त-पदार्थों के सहारे ही व्यवहार में प्रवृत्त होता है । उसकी व्यवहार-सीमा में अमूर्त-पदार्थ नहीं आ पाते । अथर्ववेद से पूर्व वैदिक साहित्य में अमूर्त पदार्थों की स्थिति विरल ही थी । अग्नि, इन्द्र, वरुण, यम, रुद्र, उपस्, मरुत्, पर्जन्य मित्र आदि देवता मूर्त पदार्थ ही थे । स्मर, शम, काम, मन्यु रूप अमूर्त पदार्थ देवता अथर्ववेद में ही मिलते हैं । अमूर्त भावों को मूर्त बनाने की प्रक्रिया का विशिष्ट आरम्भ यहीं से हुआ है ।

इसी प्रकार अन्य रसों व भावों का मूल स्रोत भी अथर्ववेद मे देखा जा सकता है । वैसे तो सभी रसों और भावों से सम्बद्ध प्रसंग ऋग्वेद में भी प्राप्त होते हैं, पर वहां उनका वर्णन देव-विशेष से सम्बद्ध करके ही किया गया है, पर अथर्ववेद में तो तत्द्भावों को देवस्वरूप प्रदान करके भावों की दृष्टि से उनका वर्णन हुआ है । यही बात है कि 'रसानाथर्वणादपि' से भरत मुनि ने एक ऐतिहासिक तथ्य का उन्मीलन किया है ।

राजशेखर के इस कथन—'शृंगार उद्भूत् साम्नो वीरोऽभूद् वितनो ऋचः । अथर्ववेदतो रौद्रो बीभत्सो यजुषः क्रमात् ।।' में एक दूसरी दृष्टि अपनाई गई है । इसमें रस के प्रयोग-पक्ष को लेकर, सिद्धान्त-पक्ष को लेकर नहीं, चार रसों के मूल स्रोत

---

३४ अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व
सेनानीर्नः सहुरे हुत एधि ।
हत्वाय शत्रून् विभजस्व वेद
ओजोविमानो विमृधो नुदस्व ॥

—अथर्व० का० ४ सु० ३१

को देखने का प्रयत्न किया है। ऋग्वेद में इन्द्रसूक्तों की संख्या सबसे अधिक है, जिनमें इन्द्र की वीरता और ऊर्जस्विता का वर्णन विस्तार से मिलता है। अथर्ववेद में अभिचार से संबंध रखने वाले प्रसंग, उसकी क्रूर-परम्पराएं और उनका निर्वाह, मरण, उच्चाटन, शत्रुनाश आदि प्रसंग निश्चित रूप से रौद्ररस के जनक कहे जा सकते हैं। यजुर्वेद की यज्ञीय हिंसा का जहाँ तक सम्बन्ध है बलि के लिए लाए गए पशु का आलम्भन किस प्रकार से किया जाए, उसके अंगों के कितने भाग किए जाएं, किस रूप से उसकी आहुति दी जाए आदि प्रसंग शारदातनय की दृष्टि से बीभत्स का जनन करते हैं। वस्तुतः वैदिक याजक की दृष्टि से उनमें कहीं बीभत्सता नहीं मिलती पर शारदातनय के युग में उस दृष्टि पर उनके युग के चिन्तन का आवरण पड़ चुका था। बहुत-सी शास्त्रीय परम्पराएं लोक-विद्विष्ट होने के कारण अपना महत्व खो बैठी थीं। एक समय था कि अभ्यागत श्रोत्रिय को महोक्ष या महाज उपकल्पित किया जाता था, उसके लिए गवालम्भन का विधान था, लोकविद्विष्ट होने के कारण उनका अनुष्ठान बन्द कर दिया गया। विज्ञानेश्वर अपनी मिताक्षरा में इस बात को स्वीकार करते हैं।[३५] "शृंगार उद्भूत् साम्नः" पर पृथक् विचार मिलेगा। "रसानाथर्वणादपि" से उक्त श्लोक का कोई विरोध नहीं। भरत की भावना यदि सिद्धान्त-पक्ष के अधिक निकट है तो शारदातनय की भावना सामान्यतः प्रयोग-पक्ष को लेकर चली है।

शृंगार उदभूत्साम्नः

शारदातनय शृंगार की उत्पत्ति सामवेद से बताते हैं। वैसे काव्य एवं संगीत का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों कलाओं की सत्ता का आधार एक ही है। दोनों मानव-हृदय की रागात्मक वृत्ति से प्रसूत होती हैं और दोनों में प्रसंगानुकूल श्रवण-मधुर नाद की प्रधानता होती है। काव्य-संगीत-मर्मज्ञ किसी मनीषी का यह वचन है—"काव्य शब्दों के रूप में सगीत है और संगीत स्वर रूप में कविता।" रससिद्ध कवि और रसास्वादयिता सामाजिक दोनों इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि जिस पद्य में अर्थ एवं संगीत का सौन्दर्य नहीं मिलता, उसे कविता नहीं कहा जा सकता चाहे उसमें अन्य गुण कितने ही क्यों न हों। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि काव्य की आत्मा रस एवं संगीत बहुत कुछ अन्योन्याश्रित हैं। रस और संगीत के स्वरों का गठबन्धन संगीतशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में बड़े सुन्दर ढंग से प्रतिपादित हुआ है। शार्ङ्गदेव के संगीतरत्नाकर में यह विधान है कि वीर,

---

३५. 'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पते' इति।
विधानेऽपि लोकविद्विष्टत्वादननुष्ठानम्। यथावा 'मैत्रावरुणीं गां वशामनुबध्यामालभेत' इति गवालम्भन-विधानेऽपि लोकविद्विष्टत्वादननुष्ठानम्।

—याज्ञवल्क्यस्मृति—व्यवहाराध्याय
दाय विभाग ११७

अद्भुत और रौद्र में ऋषभ और षड्ज, वीभत्स और भयानक में धैवत, करुण में निषाद और गांधार, शृंगार और हास्य में मध्यम और पंचम स्वर प्रयुक्त किये जाने चाहिए।[३६] संगीत का प्रसग आने पर कविता में रसानुकूल प्रयुक्त छन्दों का स्मरण हो आना स्वाभाविक है। छन्दों में बहुत कुछ संगीत की लय एवं नाद-मधुरिमा प्राप्त होती है। कविता यदि हमारे प्राणों का संगीत है तो छन्द हृत्कम्पन। कविता वस्तुतः छन्द में ही लयमान होती है। जिस प्रकार नदी का तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखता है और उसे सुपुष्ट प्रवाह के रूप में वेग के साथ प्रवाहित होने देता है, उसी प्रकार छंद भी अपने बंधन से राग में एक विशिष्ट स्पन्दन-कम्पन तथा वेग प्रदान करता है तथा छन्द के बन्धन में आने से पूर्व जो शब्द नीरस और निर्जीव प्रतीत होते थे उनमें कोमलता और सरसता की प्रतिष्ठा कर देता है। इस तरह रस और संगीत का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। रस से भी यहां रसराज—शृंगार का ही ग्रहण किया जाना चाहिए। शारदातनय के शब्दों में मन के आह्लादजनक स्वाद को रस कहते हैं। रस शब्द का प्रयोग शृंगार के लिए ही अधिक उपयुक्त ठहरता है क्योंकि वह विशेष रूप से आह्लादात्मक है। उसके अन्य भेदों में रसत्व तो प्रायः किसी अन्य कारण से ही हुआ करता है।[३७]

जहां तक संगीत की उत्पत्ति का प्रश्न है वेदों से सगीत की उत्पत्ति मानी गई है जिसमें सामवेद मुख्य रूप से संगीतमय है। इसीलिए भरत मुनि ने नाट्यवेद के गीत अंग की योनि अर्थात् उत्पत्ति—स्थल सामवेद को माना है।[३८] इसके दो भाग हैं—आर्चिक एवं उत्तरार्चिक। आर्चिक में ५८५ ऋचाएं हैं। विंटरनित्स के कथनानुसार इसकी तुलना एक ऐसी गान—पुस्तक से की जा सकती है जिसमें गाने केवल एक ही पक्ष, लय या सुर की याद दिलाने के लिए संग्रह किए गए हों। उत्तरार्चिक एक ऐसा भाग है जिसमें संगृहीत गान एक ही पक्ष, लय या सुर की सभी आवश्यक विविधताओं से परिपूर्ण हैं और ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि संगीत की सूक्ष्म प्रक्रिया के पारखी को अधिकारी जानकर उसी के लिए निबद्ध किए गए हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सामवेद एक अत्यधिक समृद्ध संगीत—परम्परा का परिचायक ग्रंथ है। सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् में यह प्रसंग बड़े विस्तार से उठाया गया है। वहां

---

३६. स, री वीरेऽद्भुते रौद्रे धः बीभत्से भयानके।
कार्यों गनी, तु करुणे हास्यशृंगारयोर्मपौ॥

—संगीतरत्नाकर ३/५६

३७. मनसोऽह्लादजननः स्वादो रस इति स्मृतः।
शृंगारस्य स युज्येत तस्य ह्लादात्मकत्वतः।
अन्येषां रसता प्रायः सिद्धा केनापि हेतुना॥

भावप्रकाशन पृ० ४०

३८. सामभ्यो गीतमेव च······

—नाट्यशास्त्र १/१७

उद्गीथ—जो उच्च स्वर से गाया जाए—को ही सबका रस माना गया है। "समस्त चराचर भूतों का रस (सारभाग) पृथ्वी है और पृथ्वी का रस आप—जल—है, क्योंकि वह जल में ही ओत—प्रोत है। जल का रस औषधियां हैं, औषधियों का रस पुरुष है और पुरुष का रस वाणी है, क्योंकि पुरुष के समस्त अवयवों में वाणी ही सारभूत है। वाणी का सार ऋक् (ऋग्वेद) है और ऋचाओं का सार साम है और साम का रस उद्गीथ है।[३९] आगे इसी उद्गीथ को रसों का रसतम, परमात्म-प्रतीक होने के कारण परम तथा परमात्मा के समान उपास्य होने के कारण परार्ध्य अर्थात् परमात्म-स्थानार्ह कहा है।[४०] पंडितराज जगन्नाथ के काव्य-लक्षण "रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" में प्राप्त रमणीय शब्द वस्तुतः इसी प्रकार की रमणीयता की ओर संकेत करता है। इससे यह बात पूरे तौर से स्पष्ट हो जाती है कि उक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए सामवेद शृंगार का उद्गमस्थल है।

शारदा तनय ने शृंगार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक व्याग—प्रोक्त मार्ग अपने भावप्रकाशन में वर्णित किया है। जब भरत-पुत्रों ने शिव—पावती के सम्भोग का अभिनय किया तब कैशिकी आदि वृत्तियों के साथ शृंगारादि रस उद्भूत हुए। शृंगार उस समय शिव के पूर्व मुख से कैशिकी वृत्ति से उत्पन्न हुआ।[४१] नाटकों के लिए वृत्तियां अत्यन्त आवश्यक हैं। उन्हें तो "नाट्यमातरः" कहा गया है। वृत्ति से तात्पर्य नायक के उस व्यापार या स्वभाव से है जो नायक को किसी विशेष ओर प्रवृत्त करता है। वे वृत्तियां चार हैं—भारती, सात्वती, आरभटी और कैशिकी। भरत मुनि ने पहले नाट्य के लिए प्रथम तीन वृत्तियों का प्रयोग किया था। भारती "वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीविवर्जिता, संस्कृत-वाक्ययुक्ता" वृत्ति है।[४२] इसका भरत मुनि के निर्देशानुसार प्रयोग करने में भरत—पुत्रों को कोई कठिनता नहीं हुई। सात्वती "हर्षोत्कटा, संहृत-शोकभावा, वागंगाभिनयवती, सत्त्वाधिकारयुक्ता" वृत्ति है।[४३] भरत पुत्रों ने जैसे—तैसे इसे भी निभा लिया। आरभटी के अभिनय में भी भरत पुत्रों को किसी असुविधा का सामना नहीं करना पड़ा, क्योंकि उसमें कूद—फांद,

---

३९. एषा भूतानां पृथ्वी रसः पृथिव्या आपोरसः। अपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः।

—छान्दोग्योपनिषद् १/२

४०. स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः।

—छान्दोग्योपनिषद् १/३

४१. वृत्तिभिः सह चत्वारः शृंगाराद्याः विनिस्सृताः।
यदाभिनीतो भरतैः सम्भोगः शिवयोस्तदा॥
कैशिकीवृत्तितो जज्ञे शृंगारः पूर्वतो मुखात्॥

—भावप्रकाशन पृ० ५७

४२. नाट्यशास्त्र २०/२६

४३. वही २०/४१,४२

इन्द्रजाल, आक्रमण और युद्ध के अतिरिक्त हैं ही क्या? हां, कैशिकी का प्रयोग भरत-पुत्र नहीं कर सके। इसमें श्लक्ष्ण अर्थात् सुकुमार या हृदय में श्लिष्ट हो जाने वाली साजसज्जा, गीत-नृत्य, विलास, कामक्रीडा आदि से युक्त कोमल तथा शृंगारी व्यापारों की प्रधानता होती है, जो स्त्री-संयुक्त होती है तथा जिसका फल काम (पुरुषार्थ) होता है।[४४] इस कमी का अनुभव करते हुए ब्रह्मा ने कैशिकी वृत्ति भी इसमें जोड़ने की भरत मुनि को आज्ञा दी।[४५] भरत मुनि ने कहा कि यह वृत्ति पुरुषों के वश की नहीं है, इसे तो सफलता से स्त्रियां ही निभा सकती हैं। इसलिए भगवन्, कैशिकी के सम्प्रयोजक द्रव्य को प्रदान कीजिए। इस पर ब्रह्मा ने अप्सराओं की सृष्टि की, तब कहीं इसका अभिनय सम्पन्न हो पाया।[४६] कैशिकी वृत्ति के उक्त विवरण से पता लग गया होगा कि उसके बिना शृंगार को हृदयावर्जक रूप नहीं दिया जा सकता और इसी आधार पर "कैशिकीवृत्तितो जज्ञे शृंगारः" की संगति बैठ पाती है। आचार्य अभिनव ने नाट्यशास्त्र अध्याय एक, श्लोक पैंतालीस पर अभिनव-भारती में यह प्रश्न उठाया है कि कैशिकी नाट्योपयोगिनी कैसे है? उत्तर में उनका कहना है कि यदि कैशिकी श्लक्ष्ण नेपथ्य से युक्त होती है तभी उज्ज्वलवेषात्मक शृंगार रस संभव हो पाता है, अन्यथा नहीं। यहां नेपथ्य शब्द का ग्रहण इसलिए किया गया है कि जिससे सुकुमार आंगिक, वाचिक, आहार्य एवं सात्त्विक सभी अभिनय के प्रकार गृहीत हो सकें। शृंगार की अभिव्यक्ति के हेतु उक्त चतुर्विध सुकुमार अभिनयों की योजना हो जाने पर ही मधुर-मन्थर वलन, आवर्तन, भ्रूकटाक्ष आदि के सहारे शृंगार रस का आस्वाद हो पाता है। बिना इसके कुछ भी सम्भव नहीं। रौद्र रस आदि की अभिव्यक्ति के अवसर पर भी जो अभिनय अपनाया जाता है वह यदि अनुप्रास, वलन-आवर्तनादि रूप सुन्दर वैचित्र्य से हीन होता है तो श्लक्ष्णता के अभाव के कारण दुःश्लिष्ट या अश्लिष्ट रहता है, फलस्वरूप वहां रसाभिव्यक्ति नहीं हो पाती। इसलिए कैशिकी तो सर्वत्र ही प्राणरूपा है। उसके बिना शृंगार रस का तो नाम-ग्रहण भी नहीं किया जा सकता।[४७] वृत्ति का सम्बन्ध

---

४४. नाट्यशास्त्र २०/५३-५५

४५. वही १/४२

४६. वही १/४३-४५

४७. ननुसा नाट्योपयोगिनी कथम्। आह। सैव यदि श्लक्ष्णेन श्लिष्यतोचितेन नेपथ्येन सहिता भवति। यद्वक्ष्यति "शृंगार उज्ज्वलवेशात्मकः" (ना० शा० ६-५०) इति तन्नाट्योक्त-शृंगाररसः सम्भवति। नान्यथा। नेपथ्यग्रहणं सुकुमारस्यांगिकादेरप्युपलक्षणम्। तेन शृंगाराभिव्यक्ति-हेतौ सुकुमारे चतुर्विधेऽप्यभिनये योजिते मधुरमन्थरवलनावर्तनाभ्रूक्षेपकटाक्षादिना विना शृंगार-रसास्वादस्य नामापि न भवति।

एतदुक्तं भवति-रौद्रादिरसाभिव्यक्तावपि कर्त्तव्यायां योऽभिनय उपादीयतेऽसोऽप्यनुप्रास-वलनावर्तनाद्यात्मकसुन्दरवैचित्र्यस्यामिश्रणतया दुःश्लिष्टोऽश्लिष्ट एव वा न रसाभिव्यक्ति-हेतुर्भवतीतिसर्वत्रैव कैशिकी प्राणाः।......शृंगाररसस्य तु नामग्रहणमपि न तया विना शक्यम्।

अभिनव भारती (नाट्यशास्त्र ४४)

नायक-व्यापार से होता है, अतः रसपरक होने के कारण उनका स्वानुकूल रसों से सम्बद्ध होना स्वाभाविक है। इसीलिए आचार्यों ने कैशिकी का सम्बन्ध विशेष रूप से शृंगार से, सात्त्वती का वीर से तथा आरमटी का रौद्र और बीभत्स से माना है। भारती वृत्ति का (शब्द-वृत्ति होने के कारण) सभी रसों के साथ सम्बन्ध है।[४८] इतना ही नहीं वृत्तियों के विषय को देखते हुए प्रत्येक का सम्बन्ध किसी न किसी वेद से भी जोड़ा गया है। कैशिकी सामवेद से उद्भूत हुई है।[४९] इस कड़ी के मिल जाने से किसी को यह सन्देह अब नहीं बना रहना चाहिए कि शृंगार की उत्पत्ति किससे मानें, सामवेद से या कैशिकी से ? वस्तुतः शृंगार और कैशिकी दोनों अपनी अभिव्यक्ति के लिए परस्पराश्रित हैं और दोनों ही अपने मूल स्रोत साम से रस-ग्रहण करते हैं। इस तरह "शृंगार उद्भूत् साम्नः" का सत्य अपनी अक्षुण्णता के साथ वर्तमान रहता है।

---

४८. शृंगारे कैशिकी, वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती

—दशरूपक २/६२

४९. कैशिकी सामवेदाच्च······

—नाट्यशास्त्र २०/२५

चतुर्थ परिच्छेद

श्रृंगार की भावना और विकास

सिद्धान्त-पक्ष (परिभाषित)

रतिप्राण श्रृंगार का विवेचन शास्त्रीय और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से आलंकारिकों, रसिकाचार्य भक्तों और प्रेमपथ के पथिकों सभी ने अपने-अपने ढंग से किया है। आलंकारिक रस की शास्त्रीय मर्यादा, उसके घटक या उद्भावक तत्त्वों की समीक्षा, उसके नाना भेदोपभेदों की चर्चा करते हुए काव्य-रसों में श्रृंगार को रसराज मानकर मनुष्य की मौलिक और अत्यन्त प्रबल वृत्ति रति की परिव्याप्ति और उसके स्थायित्व की चर्चा करता है। भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ के रसगंगाधर तक के रस-सम्प्रदाय के नाना लक्षण-ग्रन्थ कुछ ऐसी ही सीमाओं में बंधकर चलते हैं। श्रृंगार के सिद्धान्त पक्ष का एक प्रकार इन लक्षणग्रन्थों में मीमांसित और प्रस्फुट हुआ है। उसमें पार्थिव श्रृंगार के लोकव्याप्त रूप की अलौकिक धरातल पर अवतारणा की गई है। श्रृंगार रस के सम्बन्ध में यह अलौकिकता सर्वमान्य-सी रही। कुछ आचार्यों ने आगे चलकर अलौकिक श्रृंगार के साथ-साथ लौकिक श्रृंगार रस का भी विवेचन किया है, परन्तु वह सिद्धान्त रूप में, उसके व्यवहार-पक्ष में यह दावा नहीं किया जा सकता, प्रमुखता न पा सका।

सिद्धान्त पक्ष में श्रृंगार का दूसरा रूप जिसे पार्थिव न कहकर अपार्थिव कहना ही उपयुक्त होगा, रसिकाचार्य भक्तों की रचनाओं में मिलता है। इन भक्तों ने श्रृंगार और प्रेम को ही अपना प्रधान विषय बनाया। श्रृंगार और प्रेम के स्थूल, पार्थिव प्रतीकों के सहारे इन रसिकों ने प्रेम का जो अत्यन्त उज्ज्वल, दिव्य अपार्थिव रूप प्रस्तुत किया, वह श्रृंगार रस के क्षेत्र में उनकी अमूल्य देन है। अबतक एक वर्ग ऐसा भी था जो पार्थिव श्रृंगार की उच्चतम (अलौकिक) अभिव्यक्ति का रस लेने में अपनी तौहीनी समझता था। उसके लिए वह हेय बना हुआ था। परन्तु मध्ययुग के प्रेमसाधकों ने रति—प्रेम के जिस रूप को अपनाया और जिस तरह से उसे प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग और अनुराग की स्थितियों को पार करके मधुर या महाभाव के रूप में प्रतिष्ठित किया, वह उन विरक्तों के लिए भी इतना आकर्षक प्रमाणित हुआ कि वे उसे अपना सर्वस्व मान बैठे। वह उनकी भावना का साध्य हो गया। इनमें से कुछ रसिक भक्त ऐसे थे, जिन्होंने भरत की रस-विवेचन-प्रणाली को आधार मानकर मधुर रस का विशद विवेचन प्रस्तुत किया और उस प्रणाली में अनेक

मौलिक परिवर्तन भी किए। इन रसिकाचार्यों ने भले ही मधुर नामक भक्तिरस की निष्पत्ति के लिए अपने समस्त भेदोपभेदों के साथ विभाव, अनुभाव, संचारी, सात्त्विक एवं नायक-नायिकाओं की रूढ़ वृहत्परम्पराओं को मान्यता दी हो, पर उनकी दृष्टि में ये बाह्य आवरणमात्र हैं, प्रमुखतत्व तो भगवद्‌विषयक रति ही है। यह कार्य सम्पन्न हुआ बंगाल के गौड़ीय वैष्णव समाज एवं चैतन्य-सम्प्रदाय में दीक्षित वृन्दावन के गोस्वामि-मण्डल द्वारा। कुछ रसिकाचार्य ऐसे भी थे जो शृंगार रस के शास्त्रीय पचड़े में अधिक नहीं पड़े, परन्तु राधामाधव की रह.केलि के विस्तार से उन्होंने शृंगार रस के अंगों एवं उपागों को समृद्ध किया तथा उसके संयोग और विप्रलम्भ पक्षों के सम्बन्ध में एक विशेष दृष्टि दी। इन रसिक भक्तों में मुख्य रूप से निम्बार्क, वल्लभ और हितहरिवंश का नाम लिया जा सकता है।

पार्थिव प्रेम के कुछ दीवानों ने प्रेम के और उसकी उद्‌भूति के शास्त्रीय पचड़े में न पड़कर नारी-सौन्दर्य और नारी-प्रेम का अवलंबन करके शृंगार रस के प्रवाह की जो प्रबल धारा प्रस्तुत की, वह बड़ी ही मनोरम और यथार्थ बन पड़ी है। हाल की 'गाहा सत्तसती', कवि अमरुक का शृंगारनिष्यन्दी प्रबन्धायमाण अमरुशतक, शृंगार रस के आराधनीय आचार्य गोवर्धन की 'आर्या सप्तशती' को जिन्हे ग्राम्य-जीवन के उन्मुक्त, सरल, स्वाभाविक प्रेम और यौवनोन्माद की सुरम्य चित्रशाला कहा जा सकता है, कौन नही जानता? स्त्री को सौन्दर्य का सर्वोत्तम प्रतीक सिद्ध करने के लिए काव्यात्मक दर्शन-ग्रन्थ के रूप में निबद्ध भर्तृहरि का शृंगार शतक किस पर अपना जादू नहीं डालता? आगे चलकर तो शृंगार शतक, दूतकाव्य, सन्देशकाव्य एवं विलास-ग्रन्थों का जाल-सा बिछ गया। कवीन्द्रवचन समुच्चय, सुभाषितावली, सदुक्तिकर्णामृत, सूक्तिमुक्तावली, शार्ङ्गधरपद्धति, सूक्ति रत्नहार आदि अनेक ग्रन्थ लिखे गए, जिनमें वयःसन्धि से लेकर प्रेम की प्रायः सभी अवस्थाओं के रुचिकर चित्र मिलते हैं।

प्रस्तुत अध्याय में आचार्यों की शृंगार रस के सिद्धान्तपक्ष से सम्बद्ध मान्यताओं का ही विस्तार से विवेचन किया जा रहा है। शृंगार के सर्वप्रथम शास्त्रीय रूप की मीमांसा भरत के नाट्यशास्त्र में हुई है। रस-सम्प्रदाय के उपलब्ध ग्रन्थों में आज वही सबसे प्राचीन ठहरता है। यह तो नही कहा जा सकता कि इससे पूर्व रस का विवेचन नहीं हुआ था। इनके पूर्व भी रस-विवेचन की एक लम्बी शृंखला वर्तमान थी। भरत ने स्वयं पूर्व रसाचार्यों में तुण्ड, वासुकि और नारद का उल्लेख किया है।[१] काव्यमीमांसाकार राजशेखर अपनी कृति में रसाचार्य नन्दिकेश्वर का आदर के साथ स्मरण करते हैं।[२] भावप्रकाशन में शारदातनय ने वासुकि, सदाशिव,

१. नाट्यशास्त्र पृ० १८,२४

२. 'रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः'—काव्यमीमांसा (हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, चौखम्बा) पृ० ५

नारद, कुम्भोद्भव, व्यास, आंजनेय, वृद्धभरत आदि पूर्व रसाचार्यों का उल्लेख किया है।[3] इनमें से किसी की कृति उपलब्ध नही होती। केवल कुछ आचार्यों के उद्धरण कहीं-कहीं परवर्ती आचार्यों के विवेचन-प्रसंग में मिल जाते हैं। ऐसी स्थिति में इन पर अपने विषय-विवेचन के लिए निर्भर नहीं रहा जा सकता। विषय-विवेचन के लिए तो आचार्यों के उसी सम्प्रदाय पर निर्भर रहा जा सकता है जो इतिहास-परिचित है तथा जिसकी रचनाएं भी सामने हैं। यही कारण है कि भरत को आदि रसाचार्य मानकर शृंगार रस का शास्त्रीय विवेचन किया जा रहा है और उसी को आधार मानकर लगभग दो सहस्राब्द में घटित शृंगार रस की भावना तथा उसके विकास की कहानी प्रस्तुत है।

भरत पर कुछ लिखने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि भारतीय कलादृष्टि क्या थी और उसकी मूलचेतना का आधार क्या था? कला की अभिव्यक्ति के किसी भी माध्यम को लीजिए, चाहे वह नृत्य हो, संगीत हो, काव्य हो या नाटक हो, एक धार्मिक उद्देश्य या अध्यात्म-चेतना सर्वत्र विद्यमान है। इस उद्देश्य को समझने के लिए आज की धर्म दृष्टि से काम न चलेगा। उस काल में धर्म जीवन का धारक तत्त्व था—जीवन के प्रत्येक कार्यकलाप में ओतप्रोत। आज के समान धर्म स्वतः तक सीमित परलोक से सम्बद्ध व्यवहारों का केवल पुलिन्दा नहीं था। वह जीवन के, लौकिक, पारलौकिक, सामाजिक, वैयक्तिक, नैतिक, रुक्षव्यावहारिक और कलात्मक (उत्सवादिक) सभी व्यवहारों में व्याप्त था। यही कारण है कि जीवन मर्यादित था और आर्य-सभ्यता के चारों महान् स्तम्भों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में धर्म का स्थान बहुत ऊँचा समझा जाता था। वैशेषिक दर्शन में कणाद मुनि बताते हैं कि जिससे अर्थ–काम सम्बन्धी लोकसुख की और मोक्ष सम्बन्धी परलोक-सुख की सिद्धि हो वही धर्म है-'यतोऽभ्युदय–निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'। यहां अभ्युदय शब्द का तात्पर्य लोक के वर्तमान नागरिक ऐश्वर्य से नहीं है, केवल उतने अर्थ और काम से है जितने के ग्रहण करने से शरीर-यात्रा और मनस्तुष्टि का निर्वाह हो जाए और अर्थ-काम में आसक्ति उत्पन्न न हो। धर्म का यह बहुत व्यापक लक्षण है। जीवन-विवेक के पारखी भारतीय मनीषी इस बात के लिए सदा से चिन्तित रहे हैं कि मानव के दुःख-भय का अभिघात कैसे किया जाए, उसे कैसे बदला जाए, उसका सांस्कृतिक और आध्यात्मिक परिष्कार कैसे हो। उन्हें इसमें अधिक अभिरुचि नहीं कि मानव-जीवन की भौतिक परिस्थितियों में कैसे सुधार हो। समाज की व्यवस्था में उनकी अभिरुचि साधारणतः उसी सीमा तक रहती है कि कैसे व्यक्ति की आध्यात्मिक प्रगति के लिए उपयुक्त परिस्थितियां प्रस्तुत की जाएं। भौतिकता की समृद्धि के इस युग में जबकि मानव जीवन-विवेक खो-सा बैठा है, धर्म की उक्त दृष्टि

३. भावप्रकाशन पृ० ३६,३७,५५,६६, १५२

को आत्मसात् करना कठिन ही नहीं, असम्भव-सा है। कठिन तो पहले भी था। तभी वेदव्यास ने शिकायत की थी कि मैं हाथ उठाकर चिल्ला रहा हूं कि अर्थ और काम को धर्मपूर्वक ग्रहण करने में ही कल्याण है, पर इसे कोई नहीं सुनता।[४] जीवन में आज जो संघर्ष दीखता है या वह जो अनेक समस्याओं का अखाड़ा बना हुआ है, इस दृष्टि के अभाव के कारण ही है। बड़े-बड़े अर्थशास्त्री और राजनीतिवेत्ता समस्याओं के समाधान में लगे हैं, पर वह मिलता नहीं। आगे चलकर कला के क्षेत्र में—विशेष रूप से काव्यकला—शृंगार-रस को लेकर जो छीछालेदर हुई है वह किसी से छिपी नही है।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में धर्म की उक्त दृष्टि को ही प्रमुखता मिली है। वह नाट्य, अभिनय, रस सबकी आधार-शिला है। उन लोगों का उद्धार करने के लिए ही नाट्यवेद निर्मित हुआ, जो ग्राम्यधर्म में प्रवृत्त हो चुके थे, कामलोभ के वश मे थे, ईर्ष्या-क्रोधादि से सम्मूढ थे तथा सुख-दुःख की चक्की में पिसते चले आरहे थे।[५] यह नाट्यवेद समस्त वेदों का सार लेकर निर्मित हुआ। आरम्भ में भरत ने ब्रह्मा और महेश्वर की वन्दना की है। ब्रह्मा नाट्यवेद और महेश्वर नृत्य के प्रवर्तक हैं। और नाट्य के अंग पाठ्य, गीत, रस और अभिनय का समाकलन चारों वेदों से हुआ है और नाट्यशास्त्र का अभिधान नाट्यवेद पड़ा है। ऋत और सत्य उसमे सहज रीति से अभिव्यक्त हुए। इसके ग्रहण, प्रयोग और धारण के लिए संशितव्रत, वेद-रहस्य के ज्ञाता ऋषियों को अधिकारी माना गया।[६] विलासी जीवन के प्रतिनिधि देवगण अशक्त और अयोग्य वताए गए।[७] ऐसे पंचमवेद नाट्य तथा उससे सम्बद्ध अभिनय एवं रस को उनकी स्वाभाविक पार्श्वभूमि से हटाकर केवल आज की नई मनोवैज्ञानिक उपपत्ति देने का प्रयत्न न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता। भारतीय आर्यो की समस्त चिन्तावारा की गंगोत्री यज्ञसंस्था एवं देवासुरकथा ही ठहरती है। यज्ञसंस्था से ही भारतीय दर्शन, ज्योतिष, भूमितिशास्त्र, नृत्य- संगीत, मूर्तिविज्ञान, काव्य व उनके नाना छन्द, दैवतविचार, उत्सव-व्रत और जातकर्म से लेकर अंत्येष्टिसंस्कार तक ही नहीं, राज्यसत्ता, वर्णाश्रमव्यवस्था तथा उत्तराधिकार के नियम तक उद्भूत हुए हैं। समय-समय पर पड़े विभिन्न प्रभावों ने इनका रूप भी बदला है और कहीं—कहीं तो आवश्यकता से अधिक भी, पर आरम्भ की कलाकृतियों में वह रूप बहुत कुछ अक्षुण्ण बना है। उस युग में अमृतमंथन, त्रिपुरदाह, कंसवध, रामचरित आदि प्रसंग ही नाट्यकाव्य के लिए उपयुक्त समझे जाते थे। प्रतिभावान् शिल्पकार भी,

---

४. ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष नहि कश्चित् शृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥
— महाभारत
स्वर्गारोहण पर्व ५/६२

५. नाट्यशास्त्र १/६ १/२६

६. वही १/२३

७. वही १/२२

शिवपार्वती विवाह, महिषासुरमर्दन, नटराज के ताण्डव आदि प्रसंगों को ही अपने शिल्प में उतारते थे। उस समय के समाजग्राह्य प्रतीक ही ये थे। इन्हीं के माध्यम से अभिव्यक्ति होती थी और उस युग का सहृदय या पाठक अनायास सोलहों आना उसका साझीदार होता था, भले ही आज का सामान्य पाठक उसमें समुचित रस न ले पाए। यदि वे (शिल्पी) चाहते तो समकालीन राजाओं, मंत्रियों, सुन्दरियों एवं उनकी विलास-भंगिमाओं के चित्र शिल्पित कर सकते थे और भौतिक ऐश्वर्य के पालने में पड़े रहकर अपने शेष जीवन को सुख और समृद्धि में बिता सकते थे, परन्तु ऐसी कलाकृति इतने शतानुशतक के शिल्प में किसी ने निर्मित नहीं की। जीवन के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि ही दूसरी थी। आरम्भ के कलाकारों का अध्ययन करते समय इस दृष्टि को बनाए रखना अत्यन्त आवश्यक है। कहने का तात्पर्य यह है कि आरम्भ में सौन्दर्य और धर्म को अलग-अलग नहीं किया जा सकता था। दोनों एक दूसरे में संग्रथित थे। उस युग का रहन-सहन और चिन्तन ही ऐसा था कि किसी वस्तु के साधारण रूप से ही व्यक्ति को तृप्ति नहीं मिलती थी। वह वस्तु के साधारण रूप के साथ उसके दिव्य रूप का भी दर्शन करना चाहता था। यही कारण है कि सृष्टि के आदिकाल में जब मनुष्य ने अपने चारों ओर फैले गहन-वन-कान्तार, क्षितिज तक फैली सागर की अगाध, अपार जलराशि और अनन्त अन्तरिक्ष के नीले आवरण को देखा तथा इनके बीच रहकर उसने निर्द्वन्द्व होकर स्वच्छन्दता के साथ जो जीवन-यापन किया उससे असीमता, अनन्तता और स्वच्छन्दता की भावना उसके जीवन में आई। धीरे-धीरे जीवन को उठाने के लिए नियम बने, मर्यादाएं स्थापित हुईं और वैदिक काल में आते-आते उसने जगत् के सत्य और विधायक तत्वों की छानबीन करने में प्रवृत्ति दिखाई। सूर्य उसके लिए केवल आग का गोला न रहकर वरेण्य भर्ग का प्रदाता और जगत् का संचालक देवता बन गया। अग्नि, वरुण आदि प्राकृतिक पदार्थों के संबंध में उसकी केवल भौतिक दृष्टि ही नहीं रही। चन्द्रमा उसके लिए सुधाकर, समुद्र वरुणालय, हिमालय देवतात्मा, उसके उत्तुंग शृंग क्रान्तदर्शी ऋषियों के आवास होने के कारण उनके तपस्तेज से अभिमंडित होगए। गंगा केवल जल का प्रवाह न रहकर ब्रह्मद्रव होगई। इतना ही नहीं, साधारण जल से स्नान करते समय उसमें गंगा-यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी का आवाहन करके स्नान करने में जीवन की पवित्रता समझी गई। इस प्रकार विराट् जीवन की अनुभूति ने उसे उच्चता और गौरव प्रदान किया। रामायण-महाभारत काल में उसके जीवन में राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक नाना परिस्थितियां आजाने से दृष्टिकोण में परिवर्तन अवश्य आगया, परन्तु उसकी गम्भीर आध्यात्मिक दृष्टि बनी रही। यह उसके जीवन का सम्बल थी। उसने भारतीय जीवन को लम्बे अरसे तक प्रभावित किया। यह दृष्टि उसके ऊर्ध्व-संचरण का एक प्रधान कारण थी। भरत से पूर्व इसी प्रकार की स्थिति थी। भरत के कलात्मक दृष्टिकोण को समझने के लिए यह दृष्टि अत्यन्त आवश्यक है। यह सब

कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय कलाशास्त्र का भारतीय दर्शन की भाँति व्यतिशयता विशेष गुण है। भारतीय कलाकार को रूप से अरूप की ओर, सान्त से अनन्त की ओर और ससीम से असीम की ओर संकेत करने में सन्तोष मिलता है। दूसरे जब इन्द्रियग्राह्य किसी कलाकृति का आंख खोलकर आनन्द उठाते हैं, वह निमीलित-नेत्र होकर इन्द्रियातीत रूप का अनुध्यायन करता है। उसका निर्माता सौन्दर्य और रस की निधि है। उस निर्माता की निर्मिति के कण-कण में सौन्दर्य है, रस है। वह विरुप और विकृत को सरूप और सुकृत समझता है। यह समझना उसका दृष्टिदोष नहीं, स्वस्थ और सन्तुलित दृष्टि का परिणाम है। इसीलिए वह साहित्य-संगीत-कलाविहीन व्यक्ति को पुच्छ-विषाण-हीन पशु कहता है और कला से 'चतुर्वर्ग फलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि' के सिद्धान्त को उद्घोषित करता है।

भरत

भरत मुनि शृंगार को रति स्थायीभाव से उद्भूत मानते हैं और उसका वेष उज्ज्वल बताते हैं। शृंगार ही विश्व के समस्त शुचि, मेध्य, उज्ज्वल और दर्शनीय पदार्थों का उपमान हो सकता है। उज्ज्वलवेष व्यक्ति शृंगारवान् कहा जा सकता है। जिस प्रकार पुरुषों के नाम गोत्र और कुल के आचार से उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार रसों, भावों और नाट्याश्रित पदार्थों के नाम भी आचारोत्पन्न और आप्तोपदेश-सिद्ध होते हैं। फलस्वरूप शृंगार रस भी हृद्य और उज्ज्वलवेषात्मक होने के कारण गुर्वाचार-सिद्ध है। यह उन स्त्री-पुरुषों के माध्यम से पैदा होता है जो उत्तम प्रकृति के होते हैं, अतः यह स्वयं प्रकृत्या उत्तम रहता है।[८] इसका वर्ण श्याम है[९] और विष्णु इसके देवता हैं।[१०] संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शृंगार गुर्वाचार–सिद्ध, उज्ज्वलवेषात्मक, शुचि, मेध्य, स्त्रीपुंसहेतुक, उत्तमयुवप्रकृति है और रति स्थायी भाव से उद्भूत होता है। इसका वर्ण श्याम है और विष्णु देवता हैं।

गुर्वाचार सिद्ध—

भारतीय मनीषी जीवन–विवेकी होने के कारण आचार-विज्ञान से भलीभांति परिचित रहा है, जो जीवन को सुचारू रूप से चलाने की एक कला है तथा जिससे

---

८. तत्र शृंगारो नाम रति-स्थायिभावप्रभवः। उज्ज्वलवेषात्मकः। यत्किंचिल्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते। यस्तावदुज्ज्वलवेषः स शृंगारवानित्युच्यते। यथाच गोत्रकुलाचारोत्पन्नानि आप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि भवन्ति तथैवेषां रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेश-सिद्धानि नामानि। एवमेष आचारसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेषात्मकत्वाच्छृंगारो रसः। सच स्त्रीपुंसहेतुक उत्तमयुवप्रकृतिः।

—नाट्यशास्त्र पृ० ९५,९६
(निर्णय सागर प्रेस)

९. श्यामो भवति शृंगारः। —वही ६/४२

१०. शृंगारो विष्णुदैवत्यः। —वही ६/४४

जीवन जीने योग्य बनता है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ के सामने पहुंच कर उसकी एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया होती है, जो उसे एक विशेष रूप प्रदान करती है तथा अन्य युगों के सजातीय पदार्थों से उसे भिन्न रखती है। उस युग की चेतना के अनुसार शृंगार की आचारोत्पन्नता उसका एक गौरवशाली स्वरूप है। 'शृंगं **प्राधान्यम्** इयर्ति' शृंगार की यह निरुक्ति उस युग की चेतना के अनुरूप ठहरती है। अमरसिंह शृंग का अर्थ प्राधान्य, उच्च शिखर या कूट बताते हैं।[११] मेदिनी कोश में भी शृंग के नाना अर्थों में उसका शिखर और उत्कर्ष अर्थ मिलता है।[१२] इससे प्रतीत होता कि शृंगार रस की अनुभूति के क्षण में व्यक्ति जीवन की एक उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित रहता है, जहां पशु-सुलभ आवेगों की पहुँच नहीं। ऐसी स्थिति में ही शृंगार गुर्वाचार-सिद्ध हो सकता है। शारदातनय ने अपने भावप्रकाशन में यह स्पष्ट कहा है कि भावों में जो उत्तम या श्रेष्ठ है उसे शृंग कहते हैं और सहृदय को उस उत्तम दशा तक शृंगार पहुँचाता है।[१३]

उज्ज्वलवेषात्मक, शुचि, मेध्य—

आचार्य अभिनव गुप्त की नाट्यशास्त्र की टीका अभिनवभारती में उज्ज्वल-वेषात्मक की व्याख्या द्रष्टव्य है। वेष का अर्थ उन्होंने विभाव, अनुभाव और संचारी भाव किया है। इस अर्थ की सिद्धि के लिए वेष शब्द की व्युत्पत्ति भी उन्होंने दो प्रकार से की है। पहली व्युत्पत्ति है—'वेषयति व्यापयति चित्तवृत्तिमन्यत्र ज्ञापनया संक्रामयति इति वेषो विभावानुभावात्मा।' जो चित्तवृत्ति को अन्यत्र व्याप्त करे अर्थात् अपने बोधन द्वारा रसरूप में संक्रान्त करे, वह विभाव अनुभाव रूप वेष है। इसमें वेष शब्द जुहोत्यादिगण के "विष्लृ्व्याप्तौ" धातु से प्रयोजक अर्थ में णिच् प्रत्यय करने के उपरान्त निष्पन्न हुआ है। दूसरी व्युत्पत्ति है—वेषयन्ति व्याप्नुवन्ति स्थायिनमिति वेषाः व्यभिचारिणः। अर्थात् जो स्थायीभाव में व्याप्त होते हैं, समा जाते हैं, वे व्यभिचारीभाव भी वेष कहलाते हैं। यहां उसी धातु से स्वार्थ में णिच् प्रत्यय के विधान के पश्चात् वेष शब्द बना है। इस प्रकार वेष शब्द का अर्थ विभाव,

---

११. शृं प्राधान्यसान्वोश्च— अमरकोश, नानार्थ वर्ग २६

१२. शृंगं प्रभुत्वे शिखरे चिह्ने क्रीडाम्बुयन्त्रके।
विषाणोत्कर्षयोश्चाथ·········
—मेदिनीकोश, तृतीय वर्ग २५,२६

१३. भावानामुत्तमं यत्तु तच्छृंगं श्रेष्ठमुच्यते।
इयन्ति शृंगं यस्मात्तु तस्माच्छृंगार उच्यते॥
—भावप्रकाशन, अधि० २, पृ० ४८

अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव होता है और उज्ज्वल वेषात्मक का अर्थ होता है वह शृंगार रस जिसमें उत्कृष्ट प्रकार के विभावानुभावसंचारिभावों का योग होता है।[१४]

उक्त व्याख्या को देखने के बाद ऐसा लगता है कि आचार्य अभिनव ने संस्कृत भाषा के लचीलेपन का यहां पूरा लाभ उठाया है। किसी रस की निष्पत्ति में विभाव–आलम्बनोद्दीपन की उत्कृष्टता तो कुछ समझ में आती है, पर अनुभाव और संचारियों की उत्कृष्टता से क्या तात्पर्य है यह समझ में नहीं आता। आलम्बन और उद्दीपन में भी आलम्बन अधिक महत्व रखता है। इस आलम्बन में विषयालम्बन और आश्रयालम्बन दोनों ही आते है। इनकी उत्कृष्टता का ही महत्व है। यदि ये उत्कृष्ट न हुए तो समस्त उद्दीपक पदार्थ—पीयूषप्रवाहिनी शरच्चन्द्रिका, कमनीय केलिकुंज, विकच-कमल-मण्डित पुष्करिणी, सुखद मलयज, मन्दमारुत, मनोन्मादक कलकंठकूजन एवं मधुर मुखरित मुरली प्रभावरहित प्रतीत होते हैं। इतना ही नहीं, आलम्बन की उत्कृष्टता के बिना भाव को न शक्ति मिल पाएगी न सबलता प्राप्त हो सकेगी। इसीलिए आचार्यो ने काव्य-नाटक में विभाव को ही रत्यायुद्बोधक माना है तथा विभावों में भी आलम्बन को मुख्यता दी है। दूसरे शुचि और मेध्य के सन्दर्भ में उज्ज्वलवेष की उक्त व्याख्या अपनी संगति नहीं बैठा पाती। कुछ प्रक्रमभग-सा लगता है। भरत ने वस्तुतः उज्ज्वलवेषात्मक का ही स्पष्टीकरण यह कह कर किया है कि लोक में जो कुछ शुचि, मेध्य, उज्ज्वल या दर्शनीय होता है उसकी शृंगार से उपमा दी जाती है तथा जो उज्ज्वलवेष होता है, वह शृंगारवान् कहा जाता है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि जिस शृंगार की शुचिता और मेध्यता बताई जा रही है, उसी के वेष की उज्ज्वलता की तरफ उसी संदर्भ मे संकेत किया गया है। केवल शृंगार के साथ ही विभावानुभावसंचारियों की उत्कृष्टता का क्या प्रयोजन? तो फिर क्या अन्य रसों में उनकी अनुत्कृष्टता समझी जाए? तीसरे जहां तक मेरा ज्ञान है, मुझे लक्षण-ग्रन्थों मे इस प्रकार की व्याख्या अन्यत्र देखने को नहीं मिली। अभिनव गुप्त स्वयं हास्य-रस के प्रसंग में विकृतवेष की व्याख्या करते हुए वेष शब्द का अर्थ केशादिरचना और उसका उपचारमूलक अर्थ चलना-फिरना और बोलचाल आदि बताते हैं। चौथे रस-प्रसग मे उसके घटक तत्त्वों पर प्रकाश डालते हुए आचार्यों ने विभावादि का परिगणन अवश्य किया है, परन्तु उनकी उत्कृष्टता की ओर वे पाठकों का ध्यान दिलाने का प्रयत्न नहीं करते। प्रत्येक रस की सहज एवं समर्थ अभिव्यक्ति के लिए उसके सन्दर्भ में आने वाली सभी सामग्री उत्कृष्ट होनी ही चाहिए। यदि अक्षम सामग्री का उपयोग किया गया तो रसाभिव्यक्ति और उसकी

---

१४ वेषयति व्यापयति चित्तवृत्तिमन्यत्र ज्ञापनया संक्रामयति इतिवेषो विभावानुभावात्मा। वेषयन्ति व्याप्नुवन्ति स्थायिनमिति व्यभिचारिण· तेचोज्ज्वला उत्कृष्टा यस्मिन्स्तथाभूत आत्मा यस्येति।

—अभिनवभारती पृ० ३०२,३०३

(नायकवाड ओरियन्टल सिरीज)

प्रतीति का प्रश्न ही नहीं उठता। पांचवां कारण यह है कि वेष शब्द से विभावादि सामग्री पकड़ने के लिए उसकी दो भिन्न व्युत्पत्तियां की जाएं, एक से विभावानुभाव को पकड़ा जाए, दूसरे से संचारि-भावों को और तब कहीं अर्थ-संगति बैठाई जाए, यह बात परम्परा और शास्त्र मर्यादा के प्रतिकूल ठहरती है।

उक्त कारणों को देखते हुए मुझे उज्ज्वलवेषात्मक का सीधा-सादा अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। वह यह है कि शृंगार रस वस्तुतः शुचि है, मेध्य है और उच्चैर्ज्वलन-प्रकाशन उसका धर्म है। रति-प्रेम इस रस के मूल में निहित होने के कारण उच्चैर्ज्वलन इसका धर्म समीचीन लगता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो उज्ज्वलता और शुचिता शृंगार रस के घटक तत्त्व ठहरते हैं। व्याप्ति की अनुभूति और तीव्रता के कारण उच्चैर्ज्वलन उसका स्वभाव है। रस की निष्कलुषता उज्ज्वल शब्द से व्यक्त होती है। शृंगार स्वयं उज्ज्वलवेषात्मक है और उसका वर्ण श्याम है, इन दोनों में परस्पर विरोध नहीं सोचना चाहिए। कारण यह है कि शुचि-पवित्र भाव वाली रति इस रस के मूल में है और यह उत्तमयुवप्रकृतिक है, अतः जुगुप्सा-रहित होने के कारण यह शुचि है। वस्तुतः उज्ज्वल और शुचि ये दोनों शब्द शृंगार के पर्यायवाचक बन गए हैं। विभिन्न कोषग्रन्थ इसके साक्षी हैं। अमरकोष में 'शृंगारः शुचिरुज्ज्वलः'[१५] से यही पता चलता है। हेमचन्द्र भी 'शुचिः शुद्धे सितेऽनले……शृंगारे' और 'उज्ज्वलस्तु विकासिनि। शृंगारे विशदे दीप्तेऽपि……'[१६] से यही सिद्ध करते हैं।

वास्तविकता यह है कि उज्ज्वलवेषात्मकता शृंगार रस के साथ ही घटित हो पाती है, अन्य रसों के साथ नहीं। हास्य विकृतवेषात्मक है। क्रोध में समस्त इन्द्रियों का औद्धत्य, भयानक में समस्त इन्द्रियों का विक्षोभ और बीभत्स में समस्त इन्द्रियों का संकोच होता है। इष्टनाश और अनिष्ट की प्राप्ति के कारण करुण में इन्द्रियग्लानि देखी जाती है। वीररस में सर्वेन्द्रिय-प्रहर्ष की स्थिति में भी व्यक्ति विशेष प्रयत्नपूर्विका चेष्टा और अध्यवसाय के कारण स्थेयान् संरम्भ-उत्कट आवेश-की स्थिति में रहता है। अद्भुत रस में सम्पूर्ण इन्द्रियों की तटस्थता होती है। तात्पर्य यह है कि किसी रचना में विस्मय स्थायीभाव के पूर्णतः प्रस्फुरित हो जाने पर समस्त इन्द्रियां उससे अभिभूत होकर निश्चेष्ट-सी हो जाती हैं। उक्त विशेषताओं के कारण अन्य रसों में शृंगार की उज्ज्वलता, रति की रम्यदीप्ति से उद्भूत उज्ज्वल मनः प्रसाद और उसके परिणामस्वरूप गात्रों में भी परिव्याप्त हृदयावर्जक उज्ज्वलता के लिए अवकाश नहीं होता। वह तो शृंगार का ही प्राण है।

---

१५. अमरकोष-नाट्यवर्ग १७

१६. अनेकार्थसंग्रह पृ० २/६१,३/६३३

स्त्रीपुंसहेतुक, उत्तमयुवप्रकृति—

शृंगार रस उत्तम प्रकृति के स्त्री–पुरुषों के माध्यम से उत्पन्न होता है। काम के अंकुरित होने के लिए दो भिन्नलैंगिक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। वे यदि उत्तम प्रकृति के हों तभी रतिभाव रसरूप में परिणत हो पाता है। परन्तु इस बात से हमें सतर्क रहना चाहिए कि हम स्त्रीपुंसहेतुक शृंगार को आधुनिक परिभाषा वाला सेक्स–जो मैक्डूगल, शैन्ड फ्रायड आदि की दृष्टि में एक सहज प्रवृत्ति है–न समझ बैठें। भारतीय परम्परा से स्त्रीपुंसहेतुक का तात्पर्य है शुभ मिथुनभाव जिसमें शारीरिक और मानस सभी भावों का मेल है और जो इसीलिए शुभ है। स्त्री–पुरुष के सम्बन्ध में आज जो द्वैत दीखता है, वह पहले नहीं था। आज उस सम्बन्ध में विशुद्ध मानसिक (प्लेटोनिक) और शुद्ध शारीरिक दो गुट बन गए हैं। पहले की दृष्टि में दूसरा केवल शरीर–सम्बन्ध के कारण हीन और पाशविक ठहरता है और दूसरे की दृष्टि में पहला मन से सम्बन्ध होने के कारण केवल काल्पनिक। यह द्वैत कृत्रिम है और शृंगार के स्वस्थ दृष्टिकोण के लिए बाधक भी है। पहले यह बात नहीं थी। प्राचीन आर्य अनंग की पूजा करते थे। अनंग-प्रेम मानस-प्रेम का ही द्योतक है। तात्पर्य यह है कि मानसभावों को प्रधानता दी जाती थी और उसके सामने शरीर-सम्बन्ध और तज्जन्य विकार को गौण समझा जाता था। अनंग शब्द मन का पर्याय है। उसमें अंग (शरीर) के लिए नकारात्मक प्रवृत्ति की अपेक्षा मन के अभिधान के लिए विध्यात्मक प्रवृत्ति अधिक है। उसकी व्युत्पत्ति भी इसी ओर संकेत करती है। व्युत्पत्ति है–'नास्ति अंगमवयवो यस्य तत् अनंगं मनः।' मेदिनी कोष उक्त अर्थ की पुष्टि करता है–'अनंगो मदनेऽनंग आकाश-मनसोरपि'।[१७] न्याय–वैशेषिक–मत में भी मन निरवयव और अणु होने के कारण अनंग ठहरता है। अनग का वाचक एक दूसरा शब्द और है–'अंगभू'। यह शब्द भी शारीर और मानस दोनों सम्बन्धों का प्रत्यायक है। अंग शब्द शरीर और मन दोनों का वाचक है। यह शब्द शरीरादि के एक देश में रूढ़ है ही और 'अंग्यते विषयो बुध्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति से करण में घञ् प्रत्यय करके जो अंग शब्द निष्पन्न होता है, वह मन का वाचक भी है। माघ ने 'अंगभू' का मानसपुत्र के अर्थ में प्रयोग किया है।[१८] हलायुधकोष में भी अंग का अर्थ मन मिलता है।[१९] इस प्रकार अंगभू की व्युत्पत्ति होती है–'अंगात् गात्रात् मनसो वा भवति इति अंगभूः।' इसमें शारीरिक और मानस दोनों भावों का सम्मिलन है। यही शुभमिथुनभाव है जिसके लिए उत्तम प्रकृति के आलम्बनों की आवश्यकता समझी गई है। यह मिथुनभाव ही शृंग है और इसी में शृंगार की पूर्णता है। इसके पीछे हृदयधर्म की उदात्तता है, आत्मविलोपन, सेवा और आत्मबलिदान की भावना

---

१७. मेदिनी कोष–तृतीय वर्ग २८

१८. हिरण्यगर्भांगभुवं मुनिं हरिः। शिशुपाल वध — सर्ग १।१

१९. अंगं मनसि काये च। —हलायुध पृ० १८

है, यही विभावानुभाव-व्यभिचारि से निष्पन्न होता है तथा मूलतः भोग-प्रधान होते हुए भी हृदयधर्म की रासायनिक क्रियाओं मे भावना-प्रधान बन जाता है। इस गौरव-बुद्धि को यदि ध्यान में न रखा गया तो शृंगार रस के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टि स्पष्ट न हो पाएगी।

आचार्य अभिनव अभिनवभारती में 'उत्तमयुवप्रकृति' की व्याख्या करते हुए उत्तमयुव शब्द से परस्परानुरक्त उत्तम युवक और युवतियों की संवित्—संवेदनशक्ति का ही ग्रहण करते हैं, उनके यौवनोन्मादपूर्ण शरीर का नहीं। क्योंकि उत्तमत्व रूप विशेष धर्म संवित का ही हो सकता है, काय का नहीं। उत्तम युवक-युवति की रति-संवित् ही आस्वाद-योग्य होने के कारण शृंगार रस बन पाती है। अनुत्तम और अयुवक स्त्री-पुरुषों में क्षणिक आवेश की स्थिति भले ही हो, उसे रति-संवित् नहीं कहा जा सकता। संवित् की स्थिति तक पहुंचने के लिए रति की चिरस्थायिनी प्रवृत्ति आवश्यक है क्योंकि शृंगार रस अवियुक्त-संवित्प्राण माना जाता है।[२०]

रति स्थायीभाव से उद्भूत—

नाट्यशास्त्र की दृष्टि से रति एक प्रमोदात्मक भाव है जो इष्टार्थ-विषय की प्राप्ति से उत्पन्न होती है। उसके लिए ऋतुमाल्य, अनुलेपन, आभरण, भोजन, वरभवन आदि अप्रतिकूल विभाव और स्मित वदन, मधुर कथन, भ्रू-क्षेप, कटाक्ष आदि अनुभाव चाहिएं।[२१] मानव-दाम्पत्य-जीवन इस रति के लिए समुचित क्षेत्र है। यहां यह न भूलना चाहिए कि मानव जीवसृष्टि के विकास की सर्वान्तिम परिणति है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मानव उक्त विकास की केवल सर्वान्तिम परिणति है। विकास के पूर्व की सभी अवस्थाएं उसमें यत्किंचित् रूप में विद्यमान हैं। उसमें विकास की आदिम अवस्था—अजीवदशा—जड़दशा भी है, पशुभाव भी है और अन्तिम विकास की बुद्धि और हृदय की उच्चभूमियां भी प्रतिष्ठित हैं। यही कारण है कि उसे जड़चेतन-ग्रन्थि कहते हैं। लेकिन रसोदय के समय मानव-वृत्तियां प्रमुख स्थान ले लेती हैं और पशुबुद्धि का बुद्धि और मन के सहारे बहुत कुछ उन्नयन हो जाता है। मेरा मतलब यह है कि रति स्त्री-पुरुष के केवल कामवासनामय हृदय की परस्पर रमणेच्छा ही न रहकर दोनों के परस्पर नैसर्गिक आकर्षण के प्रमोदात्मक भाव के

---

२०. उत्तमयुवशब्देन तत्सविदुच्यते। नतुकायः। चैतन्यस्यैव परमार्थत उत्तमयुवत्वं विशेषः। सा संविदास्वादयोग्यत्वात् शृंगाररसो भवति। अनुत्तमत्वे तु (न) दार्ढ्यमयुवत्वेचेति न सा रतिसंवित्। वियोगस्य संभावनात्। अवियुक्तसंवित्प्राणस्तुशृंगारः।

—अभिनवभारती ६/३०२

२१. रतिर्नाम प्रमोदात्मिका ऋतुमाल्यानुलेपनाभरणभोजनवरभवनानुभवनाप्रातिकूल्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तामभिनयेत् स्मितवदनमधुरकथनभ्रूक्षेपकटाक्षादिभिरनुभावैः।

—नाट्यशास्त्र ७/३५०

रूप में विद्यमान रहती है। वह दैहिक-सम्पर्क की संकुचित सीमा का अतिक्रमण करके मनुष्य जीवन के सम्पूर्ण प्रेय और श्रेय की नियामिका प्रवृत्ति बन जाती है। भरतमुनि इसीलिए इस रति के अभिनय में सतर्कता अपनाने को कहते हैं। वह चाहते हैं कि वाङ्माधुर्य और अंगचेष्टाओं से इसका अभिनय बड़ी सौम्यता के साथ किया जाए।[22] यह सौम्यता रति का प्राण है। इससे विच्छिन्न रति शृंगार रस का उपादान नहीं हो सकती।

श्यामोभवति शृंगारः—

शृंगार का वर्ण श्याम है। सामान्यतः लोग श्याम से भ्रमवश कृष्ण या नील समझते हैं। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। तभी भरत ने शृंगार का श्याम, भयानक का कृष्ण और बीभत्स का नील वर्ण बताया है। ये तीनों एक नहीं हैं। श्याम की भावना नीलाम्बुज, नीलजलद, केकी-कण्ठ की आभा से हृदयंगम हो जाती है। जलद की नीलिमा आकर्षक होने के साथ-साथ सौदामनी की उज्ज्वल दीप्ति अपने में समाहित किए रहती है। शृंगार आकर्षक एवं हृद्य होने के नाते श्याम तो है ही, उसके भीतर जीवन की मूलचेतना—काम की दीप्ति के दर्शन भी होते हैं जो मानव के शरीर, मन, बुद्धि आदि में विभिन्न रूपों से प्रतिष्ठित है एवं जिसका विराट् एवं पारमार्थिक रूप शृंगार रस में उदित होता है।

भारतीय परम्परा में श्यामवर्ण का विशेष महत्व है। राम, कृष्ण, द्रौपदी का श्यामवर्ण माना गया है। इसके देवता विष्णु का वर्ण भी श्याम है जो अपनी शक्ति रमा के साथ रमण में प्रवृत्त रहकर विश्व की स्थिति का विधान करते रहते हैं, अतः शृंगार का वर्ण में श्याम होना ठीक ही है।

शृंगारो विष्णुदैवत्यः—

शृंगार का देवता विष्णु माना गया है, काम नहीं। शृंगार की पावनता बनाए रखने का यह भी एक यत्न है। इससे शृंगार की उक्त दृष्टि परिपोष पाती है। इस स्थान पर अपनी टीका अभिनवभारती में अभिनवगुप्त ने विष्णु का पर्याय काम दिया है। प्रकरण और प्रसंग को देखते हुए यह कुछ चिन्त्य-सा लगता है। सम्भव है अद्वैतमूलक शैवधर्म के प्रतिष्ठापक होने के नाते उनकी शिवनिष्ठा आड़े आई हो या विष्णु की व्युत्पत्ति विश्व में व्याप्त होने के कारण काम पर भी घटित हो जाती है, अतः ऐसा किया हो। व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'वेवेष्टि व्याप्नोति

---

२२. इष्टार्थ-विषयप्राप्त्या रतिः समुपजायते।
सौम्यत्वादभिनेया सा वाङ्माधुर्यांगचेष्टितैः।

—नाट्यशास्त्र ७/६

विश्वं यः स विष्णुः ।' अथवा 'विषति सर्वभूतानि, विशन्ति सर्वभूतानि यत्र वा ।'[२३] महाभारत में भी 'बृहत्वाद् विष्णुरुच्यते' कहकर उनके विभुत्व और व्याप्ति की ओर संकेत किया है। यह व्याप्ति, विभुत्व और सर्वभूतप्रवेश काम का भी धर्म है। अभिनवगुप्त के द्वारा दिया गया विष्णु का पर्याय काम उसकी व्यापक भावभूमि को ध्यान में रखकर ही किया गया होगा। आचार्यों की स्वीकृति भी इसी के साथ है। काम के देवतात्व का कथन 'अन्ये' या 'अपरे' कहकर ही किया गया है।[२४]

नाट्यशास्त्र के दशरूपक प्रकरण में समवकार के प्रसंग में भरत ने शृंगार के संयोग और विप्रलम्भ दो प्रचलित भेदों के अतिरिक्त तीन अप्रचलित भेद और किए हैं। वे हैं धर्म शृंगार, अर्थ शृंगार और काम शृंगार।[२५] इसे यों भी कह सकते हैं कि जब मनुष्य अपनी एषणा को मूल में रखकर धर्म, अर्थ, काम इन पुरुषार्थों को पाने के लिए प्रयत्न करता है, तब उक्त तीनों प्रकार के शृंगार प्रकाश में आते हैं। जिस काम का हेतु धर्म हो और फल भी धर्म हो, वह धर्म शृंगार कहलाता है। इसमें व्रत, नियम, तप का अनुष्ठान अभीष्ट–सिद्धि के लिए किया जाता है।[२६] जब गृहस्थ धर्म के प्रति अपनी उदात्त निष्ठा से प्रेरित होकर विवाह करता है तथा एक पत्नीव्रत होकर पत्नी के सहयोग से धर्मानुष्ठान के प्रति अपनी प्रकृष्ट रति को व्यावहारिक रूप देता है, तभी उसकी एषणा (काम) धर्म शृंगार का रूप पाती है। इस धर्म शृंगार के उदाहरण आज के भारतीय जीवन में भले ही न मिलें, पर पहले के भारतीय जीवन में ऐसे उदाहरण विरल नहीं थे जबकि धर्मैकप्राण पुरुष सहधर्माचरण के लिए ही पत्नी को आवश्यक समझता था, काम की परितृप्ति अथवा अन्य भौतिक स्वार्थों की परिपूर्ति के लिये नहीं। ऐसी बात नहीं थी कि उनमें कामादिवृत्तियां जगती ही नहीं, वे अवश्य जगती थीं, पर धर्म की अनुयायिनी होकर ही। जिस एषणा के मूल में अर्थ ही हेतु और अर्थ ही फल (साध्य) हो—अर्थात् नायिका–लाभ में अर्थदृष्टि ही प्रमुख हो, राज्य, भूमि, गोसुवर्णादि को ध्यानमें रखकर ही रति की जाए, वहां अर्थशृंगार होता है।[२७] भौतिक लाभ को ध्यान में रखकर रति को प्रवाहित करने वालों की

---

२३. यस्माद्विश्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः ।
तस्मादेवोच्यते विष्णुर्विशधातोः प्रवेशनात् ॥
—विष्णुपुराण

२४. शृंगारे देवतामाहुरपरे मकरध्वजम् । —संगीतरत्नाकर ७/१३७९

२५. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़ ओरि० सिरीज़) १८/७२

२६. यस्मिन्धर्मप्रापकमात्महितं भवति साधनं बहुधा ।
व्रतनियमतपोयुक्तो ज्ञेयोऽसौ धर्मशृंगारः ॥
—नाट्यशास्त्र १८/७३

२७. अर्थस्येच्छायोगाद् बहुधा चैवार्थतोऽर्थशृंगारः
स्त्रीसंप्रयोगविषयेष्वर्थार्थां वा रतिर्यत्र ॥
नाट्यशास्त्र १८/७४

कभी इस दुनियाँ में न कमी रही है और न रहेगी। जमीन–जायदाद को ध्यान में रखकर विवाह-सम्बन्ध स्थिर होते आज भी देखे जाते हैं। आशा से कम मिलने पर दुष्परिणाम भी देखने को मिल जाता है। इसमें भी उत्तम, मध्यम और निकृष्ट श्रेणियाँ हो सकती हैं। अर्थ की यह एषणा नायक और उसके पक्ष एवं परिवार के लोगों में भी हो सकती है, पर बालिग नायक में इस एषणा का होना अनिवार्य है। अन्यथा वह प्रसंग अर्थशृंगार के विशुद्ध उदाहरण के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। जहां नायक नायिका के प्रति अनुरागी है, केवल उसके पक्ष के लोग या घरवाले अर्थ की एषणा से प्रेरित होकर सम्बन्ध स्थिर करते हैं, उसे अर्थ-शृंगार का उदाहरण नहीं समझना चाहिए। पद्मावती के साथ उदयन का विवाह भी अर्थ को ध्यान में रखकर कराया गया था, पर यह अर्थ–दृष्टि उदयन के मन्त्रिमण्डल की थी, उदयन की नहीं। वह तो पद्मावती में पूर्ण अनुरक्त था, अतः यह उदाहरण अर्थ-शृंगार नहीं समझा जाना चाहिए। जिस रति का काम ही मूल कारण और काम ही फल होता है तथा जिसमें परोढा या कन्या को अपने अनुकूल बनाकर अपने निभृत और सावेग काम की परितृप्ति अभीष्ट समझी जाती है, वही काम-शृंगार का क्षेत्र है।[२८] इसका आलम्बन परदारा या परकन्या कोई भी हो सकती है। परदारा से रति के सम्बन्ध में समाज की मर्यादाएं एवं मान्यताएं भले ही साथ न दें, पर उक्त रति को काम–शृंगार की सीमा में आने से कोई नहीं रोक सकता। भक्ति के क्षेत्र में तो परकीया रति को पावनतम माना गया। यहां उसका इतना उन्नयन हुआ कि उसके सारे कलुष धुल गए और वह दिव्य दीप्ति से अभिमण्डित हो गई। भक्तिरस की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति उसी के सहारे मानी गई। आचार्यों ने सामान्य काम-शृंगार का उदाहरण देते समय यही लिखा है—'यथाशक्रस्याहल्या'। इन्द्र और अहल्या का प्रसग परकीय-प्रेम का उदाहरण अवश्य है, पर प्रेम के स्थायित्व और प्रेमपात्र के प्रति निष्ठा की कमी के कारण इसे उत्तम कोटि का उदाहरण नहीं कहा जा सकता। इसमें 'गजेड़ी यार किसके, दम लगाया खिसके' की नीति का ही अधिक परिपालन दीखता है। परकीया और उसके प्रणयी में सच्चे प्रेम की वही अतल गहराई और निष्ठा हो सकती है, उसी प्रकार दोनों एक दूसरे के सुख और सुविधा के लिए अपने सुख और सुविधा को तिलाँजलि दे सकते हैं जैसा कि किसी भी पतिप्राणा स्वकीया और पत्नीप्राण पति में देखने में आता है। जहां तक परकन्या के साथ काममूला रति का प्रश्न है, उसके बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं उदयन वासवदत्ता, दुष्यन्त-शकुन्तला, मालविका-अग्निमित्र, मालती-माधव आदि उदाहरण इसी कोटि के हैं।

---

२८. कन्या-विलोभनकृत प्राप्तो स्त्रीपुंसयोस्तु रम्यं वा।
निभृतं सावेग वा यस्यभवेत् कामशृंगारः॥

—नाट्यशास्त्र १८/२५

भरत ने धर्ममूला, अर्थमूला और काममूला रति के आधार पर शृंगार के उपर्युक्त जो तीन अप्रचलित भेद प्रस्तुत किए हैं, उस सम्बन्ध में यह विवेचन आवश्यक है कि उनमें से किसका कितना शृंगार रससे सम्बन्ध है। इसको परखने की कसौटी मेरी समझ में तो यही ठहरती है कि यह देखा जाए कि दोनों की रति दोनों की ओर प्रधावित हो रही है—वह उभयनिष्ठ है, उसमें स्थायित्व है, ऐसा तो नहीं कि सब कुछ एकतरफ़ा हो रहा है—स्वीकर्ता ने अपनी रति-पूर्ति के लिए स्वीकृत को मात्र साधन बना रखा है। धर्म, अर्थ, काम इन तीनों में काम मूल-प्रवृत्ति होने के कारण सभी के जीवन में जितना गहरा बैठा है, धर्म और अर्थ की वह स्थिति नहीं है। यह आवश्यक नहीं कि यदि एक धर्म या अर्थ को सबकुछ समझता हो तो दूसरा भी वैसा ही समझे, पर काम के साथ ऐसी बात नहीं है। वह सभी में व्याप्त है, भले ही उसमें तारतम्य दीखे। यदि धर्म के आकर्षण के कारण दोनों एक-दूसरे की ओर प्रधावित हुए हैं, तो दोनों ही उसका लाभ उठाते हैं और दोनों में उभयनिष्ठ रति हो सकती है। पर यह स्थिति विरल होती है। ऐसी दशा में पुरुष ही लाभ उठाता है, नारी तो बलि-पशु भर रह जाती है। मेरी समझ में ऐसे विरल स्थलों को रस का विषय नहीं बनाना चाहिए। दूसरे ऐसे प्रसंग शृंगार की मूल चेतना के अनुकूल भी नहीं ठहरते। शृंगार के मूल में काम प्रतिष्ठित है, वह भी सामान्य काम नहीं, वह है काममूलक काम–रतिप्रकर्ष काम, जोकि भिन्नलैंगिक व्यक्तियों में आकर्षण का कारण होता है तथा जिस आकर्षण से पूर्णतया बच पाना मानव के वश की बात नहीं। अर्थशृंगार को, यदि सच पूछा जाए, तो शृंगार कहने की तबियत नहीं होती। एक तो अर्थ-मूला रति उभयनिष्ठ नहीं होती, दूसरे इसमें परार्थ का ध्यान बिल्कुल नहीं, स्वार्थ-सिद्धि का ही प्रयत्न दीखता है। परशोषण के ऐसे प्रसंगों में रसराज शृंगार के एक प्रकार को देखने की बात दुराग्रहमात्र है। यदि तुष्यतुदुर्जनन्याय से इस रति को उभयनिष्ठ मान भी लिया जाए तो भी क्या एक दूसरे के शोषण में प्रवृत्त दोनों की नोंच-खसोट को उत्तमयुवप्रकृतिक, शुचि, मेध्य और उज्ज्वल शृंगार कहा जा सकता है? और यदि कहा जा सकता है तो वस्तुत: यह जीवन का कैन्सर है, कोई भी विशदीभूत मनोमुकुर में वर्णनीय-तन्मयीभवन की योग्यता रखने वाला सहृदय सामाजिक इससे हृदय-संवाद करना नहीं चाहेगा। इन्हीं सब कारणों से मैं धर्मशृंगार, अर्थशृंगार इन दोनों प्रकारों को शृंगार रस के प्रकार के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं समझता। काममूला रति ही शृंगार रस के लिए उपयुक्त ठहरती है, बशर्ते यदि उसमें स्थायित्व हो, सावेग स्थूल काम की परितृप्ति के बाद भी रति बनी रहे। रति की अविच्छिन्नता शृंगार रस के लिए एक अनिवार्य शर्त है। यह दूसरी बात है कि कभी स्त्रीपुरुष रूपी उभय तटों के बीच रतिधारा उमड़–घुमड़ कर अप्रतिहत वेग से लोकलोचनगोचर होती हुई प्रवाहित होती रहे या 'गंगायमुनयोर्मध्ये यत्र गुप्ता सरस्वती' की भांति अन्तर्धारा बनकर केवल उन्ही दोनों को स्पर्श करती रहे, पुलकित करती रहे और प्रमुदित करती रहे। तभी शृंगार रस की अवियुक्त–संवित्प्राणता

अक्षुण्ण रह सकेगी। ऐसा लगता है कि भरत ने यहां यह सब विवेचन रस की दृष्टि से नहीं किया है, बल्कि समाज में शृंगार के क्षेत्र में उभरती हुई या उन्मेषोन्मुख प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए सारा विवेचन प्रस्तुत किया है। शृंगार की शुचिता, मेध्यता और उज्ज्वलता के अभिनिवेशी भरत से ऐसे प्रमाद की आशा कैसे की जा सकती है।

भरत ने आगे चलकर सामान्याभिनय के प्रसग में इसी से मिलता-जुलता वर्णन प्रस्तुत किया है, जहां धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुपार्थों के मूल में स्थित काम का उल्लेख मिलता है। काम को यहां भरत ने व्यापक भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ काम के अतिरिक्त हैं ही क्या ? भरत समस्त भावों की निप्पत्ति काम से ही मानते हैं। काम इच्छागुण-सम्पन्न होकर नाना रूप धारण करता है।[२९] वह इच्छा (एपणा) धर्मपरक हो सकती है, अर्थपरक हो सकती है, कामपरक हो सकती है, मोक्षपरक हो सकती है। इसीलिए भरत ने धर्मकाम, अर्थकाम, मोक्षकाम और काम-काम ये चार भेद काम के किए हैं[३०]काम इच्छा के अतिरिक्त है ही क्या ?सुख या सुख के साधन के सम्बन्ध में इच्छा का होना स्वाभाविक हैं। यदि गौर से देखा जाए तो धर्म और अर्थ स्वयं सुखरूप नही ठहरते, न उनमें सुख-साधनता है। इन दोनों से तो सुख-साधनों का उपार्जन होता है। मोक्ष को यद्यपि बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं होती और परमानन्द-विश्रान्ति-लक्षण होने के नाते सुखात्मक ठहरता है, तथापि दुर्लभ होने के कारण लोकहृदय उसमें सम्मोहित नहीं हो पाता। भरत स्त्री-पुरुप-संयोग को सुख का साक्षात् साधन मानते हैं। वह मानव की इच्छा का विषय भी है और वही निरुपपद काम पद का वाच्य भी है। इसी से विश्व के समस्त अर्थो में दीप्ति आती है। यही काम यदि उत्तम युवप्रकृतिक होता है तो शृंगार कहा जाता है।[३१] काम के सम्बन्ध में यह भावना भरत की ही हो, ऐसी कोई बात नहीं। वृहदारण्यक काम को पुरुषमय मानता है।[३२] मनु पुरुष के कार्य-कलाप को काम की ही चेष्टा बताते हैं।[३३] शिवपुराण में पुरुषों के अपने

---

२९. प्रायेण सर्वभावाना कामान्निष्पत्तिरिष्यते।
सचेच्छा-गुणसम्पन्नो बहुधा परिकीर्तितः॥

—नाट्यशास्त्र २२/९५

३०. धर्मकामोऽर्थकामश्च मोक्षकामस्तथैव च।
स्त्रीपुंसयोस्तु योगो यः स तु काम इति स्मृतः॥ —नाट्य शास्त्र २२/९६

३१. यः स्त्रीपुरुषसंयोगः रतिसम्भोगकारकः।
स शृंगार इति ज्ञेयः उपचारकृतः शुभः॥

—नाट्यशास्त्र २२/९८

३२. काम एवायं पुरुपः —वृहदारण्यक ४/४/५

३३. यत्यद्‌हि कुरुते किंचित् तत्तत् कामस्य चेष्टितम्।
अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नहिं कुत्रचित्॥

—मनुस्मृति २/४

संकल्प से समुद्भव काम को सर्वमय बताया है।[३४] वात्स्यायन कामसूत्र की टीका जयमंगला भी काम को धर्म-अर्थ का हेतु होने के कारण फलभूत एक प्रकृष्ट पुरुषार्थ मानती है।[३५] महाभारतकार काम को धर्म और अर्थ से श्रेष्ठ बताते हैं।[३६] इस संकल्पात्मक काम का गुणगान सभी ने किया है। यही काम भरत की दृष्टि में समस्त भावों का मूल है, रति इसी काम-कल्पद्रुम का अंकुर है जो कि सभी भावों के मूल में व्याप्त है, इसीलिए वह समस्त भावों में प्रकृष्ट ठहरती है। इसी रति के सहारे शृंगार रस की अभिव्यक्ति होती है।

शृंगार के मूल में काम अवश्य प्रतिष्ठित है, परन्तु रस की दशा में भरत ने जिस विश्रान्ति की ओर संकेत किया है, उससे यह पता चलता है कि उन्हें शारीरिक एवं ऐन्द्रियस्तर पर किए गए कामुकता के वर्णन अभीष्ट नहीं थे। क्योंकि उनसे विश्रान्ति न मिलकर स्वाभाविक शक्ति का अपव्यय और ह्रास ही पल्ले पड़ता है।

रस के संबंध में भरत की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने रस-सिद्धान्त को उस समय मनोवैज्ञानिक भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया, जबकि मनोविज्ञान को लोग एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में जानते ही न थे। इसके अतिरिक्त शृंगार की शारीरिक और ऐन्द्रिय स्तर पर उद्दाम अभिव्यक्ति की जो प्राचीन परम्परा चली आरही थी, उसे उन्होंने उज्ज्वल और ठोस मानसभूमि प्रदान करके लौकिक स्थूलता से मुक्ति दिलाई। लोगों की समझ में आया कि काम-रस ही शृंगार-रस नहीं है। शृंगाररस के मूल में काम ज़रूर है, पर रसदशा तक पहुंचते-पहुंचते उसका इतना उन्नयन एवं रूपान्तरण हो जाता है कि उसकी समस्त स्थूल चेतना तथा जीवन को विकृत तथा कुण्ठित करने वाली उसकी समस्त प्रतिक्रियाएं समाप्त हो जाती हैं, फिर वह मेध्य, उज्ज्वल और शुचि रूप में अभिव्यक्त होकर जीवन की दिव्य दीप्ति को प्रस्तुत करता है।

भरत की यह चिन्तन-प्रणाली उस युग के कलामर्मज्ञों की चिंतन-प्रणाली है। शृंगार के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण भरत को परम्परा से प्राप्त हुआ है। 'गुर्वाचार-सिद्ध' और 'आचारोत्पन्न' शब्द इस ओर संकेत करते हैं। परम्परा बनने में

---

३४. कामः सर्वमयः पुंसां स्व-संकल्प-समुद्भवः।

—शिवपुराण

३५. तत्र धर्मार्थयोर्हेतुत्वात् कामएव फलभूतः प्रकृष्टः
पुरुषार्थ इति कामवादिनः।

—कामसूत्र-जयमंगला, पृ० १

३६. श्रेयः पुष्पफलकाष्ठात् कामोधर्मार्थयोर्वरः।
कामो धर्मार्थयोर्योनिः कामश्चाथ तदात्मकः॥

—महाभारत

पर्याप्त समय लगता है, तब कहीं जीवन के उन्नायक तत्त्वों तथा कला एवं संस्कृति की उच्च चिन्तनभूमियों के साथ उनका सयोजन हो पाता है। भरत यथार्थवादी कलाकार अवश्य है, पर उनकी यथार्थवादिता उक्त पार्श्वभूमि से उन्हें विच्छिन्न करके नहीं अनुभव की जा सकती। ऐसा करना उनके साथ घोर अन्याय होगा।

आचार्य अभिनवगुप्त

शृंगार रस की मूलचेतना का जहां तक प्रश्न है, उसमें कहीं कोई अन्तर नहीं दीखता। वही स्त्री-पुरुष का माध्यम, वही उनकी एक दूसरे के प्रति नैसर्गिकी आसक्ति, वही विभावादिकों द्वारा रतिभाव के पूर्णतया रस्यमान होने पर मन की उसमें विश्रान्ति—ये ही उसकी मूलचेतनाएं हैं, जो सर्वत्र अपेक्षित होती हैं। आचार्य अभिनव इसके अपवाद कैसे हो सकते हैं। परन्तु रस के सम्बन्ध में उनकी एक विशिष्ट देन है। वह भरत की तरह रस को आस्वाद्य-आस्वाद का अधिष्ठान न मानकर आस्वादरूप ही मानते हैं। उनका अभिव्यक्तिवाद जिसे आगे के सभी आचार्यों ने स्वीकार किया—भले ही कुछ ने अंशतः स्वीकार करके उसमें कुछ अपनी बात या इधर-उधर की बात मिलाई हो या उसे पूर्णतः स्वीकार किया हो—कश्मीर के अद्वैतमूलक शैवदर्शन पर आधारित है। इसने रस-सिद्धान्त को एक कलात्मक दार्शनिक दीप्ति दी है और यह बताया कि रसास्वाद ब्रह्मास्वाद-सहोदर होता है। उक्त दर्शन की आनन्दवादी धारा ने उसमें और चार चाँद लगा दिए। उक्त पार्श्वभूमि में रखकर जब शृंगार रसको देखते हैं तो वह अपने रूप और आस्वाद दोनों मे नई चेतना से अभिमण्डित दीखता है। इतना ही नहीं, अपनी अभिनवभारती और लोचन टीकाओं में शृंगार रस का विवेचन करते हुए उन्होने व्यावहारिक, दार्शनिक और साहित्यिक मान्यताओं पर नया प्रकाश डाला है। उनके ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी, तंत्रालोक और परात्रिशिका आदि कुछ दार्शनिक और तन्त्र-ग्रन्थ भी उस प्रकाश को कुछ और स्पष्ट कर देते हैं। मूल मे सूत्ररूप में कही गई बात को अपनी व्याख्या में वह इतने विशद और मौलिक ढंग से सुस्पष्ट करते है कि उस दृष्टि पर उनकी अपनी मुहर लग जाती है। इसे हृदयंगम करने के लिए शृंगार रस के सम्बन्ध में उनकी मान्यताओं का संकलन और विवेचन आवश्यक हो जाता है।

शृंगार रस के स्थायीभाव रति का आचार्य अभिनव ने अपनी अभिनव भारती में अत्यन्तविशद और मौलिक विवेचन किया है। लौकिक रति से शृंगार-रति किन मानों में भिन्न ठहरती है, इसका उन्होंने बड़ा ही सुस्पष्ट विवेचन किया है। उनकी दृष्टि में लौकिक रति इन्द्रियग्राह्य होती है तो शृंगार-रति बुद्धिग्राह्य। लौकिक रति में यदि स्थायित्व का अभाव है तो शृंगार-रति में एक स्थिरता प्रारम्भादिफलप्राप्तिपर्यन्त विद्यमान है। लौकिक रति अपूर्ण सुख देती है तो शृंगार-रति परिपूर्ण-सुखैकफला होती है। लौकिक रति कामावस्था का अनुवर्तन

करती है अतः उसकी प्रतिक्रिया प्रधानतः शरीर और इन्द्रियों पर रहती है इसी से उसे लोकधर्मी रति कहते हैं, परन्तु शृंगार-रति नाट्यधर्मी या काव्यधर्मी होती है अतः उससे विलक्षण ठहरती है, और उसका इन्द्रियों से सम्बन्ध न होने के कारण हव अतीन्द्रिय कही जाती है। लौकिक-रति के लिए हेतु होते हैं युवा-युवती तथा लौकिक विषय-सम्भार, पर शृंगार रति का हेतु है कवि स्वयं। कविगत रस ही उस रति का बीज है जिसको वह विभावानुभाव संचारियों के सयोग मे उद्भिन्न करता है।[३७]

इस सबंध में आचार्य अभिनव का वीर्य-विक्षोभ का सिद्धांत भी बड़े महत्व का है। उनकी दृष्टि में वीर्य-विक्षोभ जनसाधारण की सम्पत्ति नहीं, वह सहृदय सामाजिकों की निधि है। विषय-सम्भार की पूर्णता होने पर जिनमें भावयित्री प्रतिभा होती है उन्हीं में यह वीर्य-विक्षोभ हो पाता है। वीर्य विक्षोभ वस्तुतः सौन्दर्य की कसौटी है। इसीलिए शृंगार रस को उत्तमयुवप्रकृति कहा है। उत्तम युवक-युवती में रति अनवसर कभी जाग्रत नहीं होती। इसके लिए प्राकृतिक सौन्दर्य और विषय-सौन्दर्य की पूर्णता अपेक्षित होती है, शृंगार रति की पीठिका के रूप में परिपूर्ण सौन्दर्य का उन्मीलन उपयुक्त होता है। तब कहीं वीर्यविक्षोभ हो पाता है। यह केवल विषय-सौन्दर्य का ही मापक नहीं, बल्कि व्यक्ति की सहृदयता का भी मापक है। व्यक्ति में इसकी जितनी मात्रा होती है, वह उसी मात्रा मे आनन्द का अनुभव कर सकता है, चाहे वह आनन्द काव्य में प्राप्त हो, प्रकृति के किसी रमणीय दृश्य में मिले या बाह्य जगत् के किसी अन्य व्यापार में। वीर्यविक्षोभ की वेला भावों की प्रखर जागृति होती है, व्यक्तित्व के सभी तलों और पार्श्वों में नवीन आभाओं के जागरण से एक विशेष चमत्कार पैदा होता है, तभी रति की रसरूप में पुष्ट अनुभूति होती है। वीर्य-विक्षोभ का अभाव इस बात का प्रमाण है कि या तो सौन्दर्य अपूर्ण है या व्यक्ति वीर्यहीन है।[३८]

---

३७. परस्पराभिलाष–संभोगलक्षणया लौकिक्या······तेनाभिलापमात्रसारायाः कामावस्थानुवर्तिन्याः······विलक्षणैवेयंस्थायिरूपा प्रारम्भादिफलप्राप्तिपर्यन्ता व्यापिनी परिपूर्णसुखैकफला रतिरुक्ता भवति।······रतिः क्रोडा। साच परमार्थतः कामिनोरेव। तत्रैव सुखस्य धारा–विश्रान्तेः। अपरस्य तु माल्यादिविषयसौन्दर्यस्य कविना कृतस्य संकल्पत्वात् संवेदनद्वितयान्योन्यनिमज्जनात्मकमीलनाख्यो हि परमोभोगः। संविदएव प्रधानत्वात्। अन्यत्रतु जडस्य भोग्यत्वात्।

—अभिनवभारती। पृ० ३०२

(नाट्यशास्त्र) गायकवाड ओरियन्टल सिरीज)

३८. नयनयोरपि हि रूपं तद्वीर्यविक्षोभात्मकमहाविसर्गविश्लेषणयुक्त्या एव सुखदायि भवति। श्रवणयोश्चमधुरगीतादि।······सर्वतो हि अचमत्कारे जडतैव। अधिकचमत्कारावेश एव वीर्यविक्षोभात्मा सहृदयता उच्यते।

—परात्रिंशिका ४७–४९

अभिनव के शृंगार-दर्शन के मूल में प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का आनन्दवाद प्रतिष्ठित है जो उसे एक विशिष्ट भावभूमि प्रदान करता है। प्रत्यभिज्ञादर्शन में परम शिव की पाँच शक्तियां मानी जाती हैं, ये हैं—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया। परमशिव में जब चित् शक्ति की प्रधानता होती है, वह शिवतत्त्व कहलाता है; जब आनन्द शक्ति की प्रधानता होती है, शक्तितत्त्व कहलाता है । इच्छाशक्ति की प्रधानता होने पर उसी को सदाशिव तत्त्व कहते हैं, ज्ञान शक्ति की प्रधानता होने पर ईश्वर तत्त्व और क्रियाशक्ति की प्रधानता होने पर वही विद्यातत्त्व नाम से अभिहित होता है।[३९] उक्त पाँचों तत्त्वों में चित्शक्ति और आनन्द-शक्ति को सर्वप्रमुख माना गया है। चित्शक्ति ही सृष्टि का मूल है और आनन्दशक्ति से ही विश्व में आनन्द का स्फुरण होता है। यह शिव के साथ सर्वदा अविनाबद्धभाव–आलिंगनमुद्रा में अवस्थित रहती है, अतः इसे समवायिनी शक्ति भी कहते हैं। उक्त दर्शन के अनुसार चेतनता और आनन्दमयता आत्मा के विशिष्ट धर्म हैं।[४०] यह जगत् के समस्त पदार्थों में अनुस्यूत है। इसी का नाम चैतन्य, परासंवित्, अनुत्तर परमेश्वर, परमशिव है। यह नामरूपात्मक, नानाविचित्रतासंवलित जगत् परमशिव से नितान्त अभिन्न तथा उसका स्फुरणमात्र है। यही परमेश्वर—परमशिव स्वेच्छा से स्वभित्ति पर विश्व को उन्मीलित करता है, अतः यह समस्त विश्वप्रपंच आनन्दशक्ति का स्फार विस्तार है।[४१] परन्तु जीव कला, विद्या, राग, काल, नियति नामक पांच कंचुकों से आवृत रहता है, जो उसकी शक्ति को परिच्छिन्न किए रहते हैं। उक्त पांचों कंचुक—उपाधियां मायाजनित हैं। जीव को इन्हीं के कारण जगत् जो शिव की कला होने के कारण आनन्दमय है, दुःख रूप प्रतीत होने लगता है। अभेद में भेद-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। परन्तु यह जगत् परमानन्दमय परमशिव का ही व्यक्त रूप है, यह ज्ञान हो जाने पर अपरिमित आनन्द की उपलब्धि होती है। चेतना का यह रूप स्फुरत्ता, विमर्श, आनन्द नाना नामों से अभिहित होता है और यही वस्तुतः परमशिव का हृदय है।[४२] इसकी कृपा से जड़जन भी सचेतन कहा जाता है और इस हृदय को धारण करने वाला सहृदय। हृदय की इसी स्पन्दमानता–स्फुरद्रूपता के सहारे व्यक्ति लौकिक दुःखादि भावनाओं में भी आनन्दमय रहता है, क्योंकि आनन्द की मूलचेतना जो विश्व को परिव्याप्त किए हुए है, स्फुरित हो उठती है। फिर तो उसे भयानक,

---

३९. चित्प्राधान्ये-शिवतत्त्वम्, आनन्द प्राधान्येशक्तितत्त्वम्, इच्छा-प्राधान्ये सदाशिव-तत्त्वम्, ज्ञानशक्ति-प्राधान्ये ईश्वर–तत्त्वम्, क्रियाशक्ति-प्राधान्ये विद्यातत्त्वम्।

—तन्त्रसार, पृ० ७३–७४

४०. चैतन्यमात्मा आनन्दमयः।

—शिवसूत्र १/१

४१. सर्वएवायं विश्वप्रपंच आनन्दशक्तिस्फारः।

—तन्त्रालोक–आ० ३, पृ० २०१

४२. सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥

—वही, आ० ३/२१०

बीभत्स, रौद्र और करुण रस के वर्णनों से उद्विग्नता न होकर आनन्दानुभूति ही होती है। उक्त आनन्दानुभूति होती है अनुत्तरावस्था में पहुँचने पर।[४३] वहीं परमशिव की विसर्गशक्ति आनन्द-रसका स्फुरण करती है। फिर तो हृदय में आनन्द का स्पन्दन आरम्भ हो जाता है, उसकी तटस्थता जाती रहती है, साधक समरसता की स्थिति में हो जाता है और हृदय-संवाद के लिए उसे उपयुक्त अवसर मिल जाता है।[४४] आचार्य अभिनव स्वयं इस बात को मानते हैं कि व्यक्ति जब आनन्दशक्ति में विश्राम पाता है तो उसमें समरसता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।[४५] समरसता की स्थिति प्राप्त हो जाने पर चित्त का द्वैत विलीन हो जाता है और तब व्यक्ति अद्वैत की स्थिति में हो जाता है।[४६] इस स्थिति में पहुंचकर योगी आनंदघन शिवस्वरूप हो जाता है। योगी के शिवानन्द की इस स्थिति से यदि सहृदय के रसानन्द की तुलना की जाए तो स्थिति पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है। दोनों ही अपनी लघुता की सीमा—जीवात्मभाव को छोड़कर भूमा—परमात्मभाव की सीमा में प्रवेश पाते हैं, इसीलिए आनन्दभागी होते हैं।[४७]

जगत् में जितना आनन्द है वह पूर्ण आनन्द के कणमात्र विकास के कारण ही है, वह उसी की विभूतिमात्र है, उसी की छायामात्र है। वह एक पूर्ण आनन्द ही मानो अकेला न रह सकने के कारण काल के ऊपर महाकाल के ऊर्ध्व में प्रस्फुटित हो पड़ा है।

जो जगत् सामान्य प्राणी को अभिशाप-सा लगता है, जिसे वह ज्वालाओं का मूल मानता है, वही शैवदर्शन की दृष्टि से परमशिव का रहस्यमय वरदान है, भूमा का मधुमय उत्स है। इस दृष्टि से वैसे तो सभी रसों में आनन्द का अंश प्रधान ठहरता है, पर शृंगार रस में तो अन्य रसों की अपेक्षा अधिक स्फुट और कहीं आनन्दमय हो जाता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यहां आध्यात्मिक आनन्द

---

४३. अनुत्तरंपरात्वैकं तच्चैवानन्दसूतये।

—वही, १/३/१६०

४४. तथाहि मधुरे गीते स्पर्शे वा चन्दनादिके।
माध्यस्थ-विगमे यासौ हृदये स्पन्दमानता।
आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतः सहृदयोजनः॥

—तन्त्रालोक २/३/२०९–२१०

४५. आनन्दशक्ति—विश्रान्ते योगी समरसोभवेत्।

—तन्त्रालोक ११/२६/२७४

४६. चित्ते समरसीभूते द्वयोः स्थितिः।

—तन्त्रालोक भाग १, पृ० २६

४७. नाल्पे सुखमस्ति। भूमा वै सुखम्।

—छान्दोग्य० ७/२३

लौकिक आनन्द का व्यतिक्रमण नहीं करता।[४८] दोनों में भेदबुद्धि आ ही नहीं पाती। माया से विभ्रान्त व्यक्ति को भले ही एक अमृत और दूसरा हालाहल प्रतीत होता हो, पर हैं दोनों एकरस, एक ही उत्स से उद्भूत और एक ही तत्त्व को अपने में समाहित किए हुए। नारी-पुरुष का मिलन जो हम सृष्टि में देखते हैं, वह तो केवल एक बाहरी प्रतिक्रिया मात्र है। वास्तव में आनन्दशक्ति ही उद्वेलित होकर अपने आपको प्रकाश में लाती है। यहां आनन्द ही निमित्तकारण है और आनन्द ही उपादान कारण है।[४९]

शृंगार रस के मूल में काम की प्रतिष्ठा होने पर कामानुकूल नाना चेष्टाएं, रूप-रस-गन्ध-स्पर्श की ओर तीव्र आकर्षण एवं तज्जन्य उन्माद आदि जो देखने में आते हैं, आचार्य अभिनव की दृष्टि में उनका वही चरम महत्त्व नहीं है। जगत् की इन स्थूल प्रवृत्तियों के सहारे उनके मूल में विद्यमान आनन्द चेतना की ओर बढ़ने का जीव का यह प्रयास मात्र है। जिस प्रकार कामिनी के रूप को देखकर कामुक स्पर्शादि की इच्छा करता है, उसी प्रकार स्थूल रूपों के सहारे मनुष्य उनके मूल में स्थित चेतना की ओर बढ़ता है। क्या कारण है कि प्राणी रूप, रस गन्ध, स्पर्श आदि भोगों को भोग करते हुए भी उन्हें भोग नहीं पाता, बल्कि स्वयं उनसे भुक्त हो जाता है। कारण यह है कि इन आभासों के पीछे स्थित शुद्ध चेतना की जबतक प्राप्ति नहीं होती तबतक ये रूपरसगन्धस्पर्शादि क्षोभकर ही होते हैं, वास्तविक तृप्ति नहीं देते।[५०] परन्तु आनन्द की मूलचेतना के प्राप्त हो जाने पर इन्हीं तत्त्वों से परमशान्ति मिलती है। यही स्थिति शृंगारावस्था में देखी जाती है। वहां पर इनसे किसी प्रकार का क्षोभ नहीं मिलता। कारण यह है कि उस स्थिति में उनका मूल सम्बन्ध आनन्द के मूलस्रोत से हो जाता है। मूलस्रोत से संलग्न होना तो सामान्य का अत्युदात्त स्थिति में पहुंच जाना है, उनका पूजा का उपकरण बन जाना है।[५१] इसीलिए शैवदर्शन लोलिका—भोग की लालसा को बहुत बड़ा व्यवधान मानता है। क्योंकि लोलिका की स्थिति में अल्पता की ही अनुभूति होती है, भूमा की नहीं। अल्पता की अनुभूति की अभिव्यक्ति को और कुछ भले ही कहलें, पर कला नहीं कह

---

४८. परस्पर-प्रेम-प्रदर्शनं रतेरानन्दात्मिकाया उल्लासनं करोति।
लौकिकदर्शनेन आनन्द एव स्फुटीकृतः। तंत्रा० ३ य आगम

४९. आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना
—विज्ञान भैरव, श्लोक ६१ (क्षेमराज की टीका से उद्धृत)।

५०. प्रच्छन्न-कामिनीकान्त-प्रतिबिम्बित-सुन्दरम्।
दर्पणं कुचकुम्भाभ्यां स्पृशन्नपि न तृप्यति॥
—तंत्रालोक, ३ य आ०, पृ० ६.

५१. यत्किंचिन् मानसाह्लादि यत्र क्वापीन्द्रियस्थितौ।
योज्यते ब्रह्म सद्धाम्नि पूजोपकरणं हि तत्॥
—तंत्रालोक ४ र्थ आ०, १२२, १२३

सकते। इसीलिए भारतीय साहित्य में रहस्यात्मक अभिव्यक्ति, स्फोटवाद, ध्वनि, और व्यंजना का इतना महत्त्व है, क्योंकि वे स्थूल के सहारे सूक्ष्मचेतना तक पहुंचा देने के सफल साधन हैं। जिस महान् लक्ष्य के लिए उन्हें उपकरण बनाया गया है, वे वहां तक ले जाते हैं।

इसी आनन्दरूपा शक्ति को जो विश्व में अभिव्याप्त है, शैवदर्शन में कामकला कहते हैं। यही मूलशक्ति है। इसी का दूसरा नाम महात्रिपुरसुन्दरी है। शिव ही काम हैं और उनकी शक्ति कामेश्वरी है। दोनों के सामरस्य से सृष्टि का विकास होता है।[५२] इस अद्वैतवादी शैवदर्शन को रससिद्धान्त के साथ संलग्न कराकर आचार्य अभिनव ने उसे जो दार्शनिक गम्भीरता और गुरुत्व प्रदान किया है वह उनकी भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के सम्बन्ध में बहुत बड़ी देन है। यहां पर शृंगार रस ने एक विशिष्ट भावभूमि पाई है। वह न कोरा पार्थिव है न अपार्थिव, यहां न स्थूलता का चक्कर है न सूक्ष्मता का, वह न वासना-मूलक है और न उसमें उदात्तीकरण का कहीं कोई प्रयत्न दीखता है। वह तो स्वाभाविक जीवन की सहज अभिव्यक्ति मात्र है। यहां दार्शनिक दृष्टि भी कोई ऐसी नहीं जो जीवन की सहज धारा को दबा दे। उसका उतना ही सहारा लिया गया है जिससे कि जीवन अपने सहज व अकृत्रिम रूप में प्रकाश में आ जाए। इसीलिए आचार्य अभिनव की रसदृष्टि पूर्णतः आनन्दमय है—शृंगार रस में तो वह और भी आनन्दमय हो गई है। इस सन्दर्भ में मेरा पूर्वकथन कि आध्यात्मिक आनन्द लौकिक आनन्द का व्यतिक्रमण नहीं करता पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। विश्व-सृष्टि के मूल में ही यह रसतत्त्व प्रतिष्ठित है। म० म० कविराज जी के शब्दों में—"परमशिव के स्वांग से पराशक्ति का स्वान्तस्थ प्रपंच उनसे निर्गत होता है। इसी का नाम विश्व है। सचमुच भगवान् अपने रूप को देखकर आप ही मुग्ध हैं—सौन्दर्य का स्वभाव ही यही है। यह चमत्कार ही पूर्णाहन्ता का चमत्कार है, काम या प्रेम इसी का प्रकाश है। यही शिवशक्ति-सम्मिलन का प्रयोजक और कार्यरूप है, आदिरस अथवा शृंगार रस है।"[५३]

---

५२. सितशोण-बिन्दुयुगलं विविक्तशिवशक्तिसंकुचत्प्रसरम्।
वागर्थसृष्टि-हेतुं परस्परानुप्रविष्टविस्पष्टम्॥

—पुण्यानन्दः कामकलाविलास ६

५३. भारतीय संस्कृति और साधना—पृ० २०

पंचम परिच्छेद

शृंगार की भावना और विकास

भोज

भोज ने शृंगार रस के सम्बन्ध में एक बिल्कुल नवीन दृष्टि दी है, फलस्वरूप उन्होंने शृंगार रस को एक व्यापक भावभूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया है। यह दृष्टि मूलरूप में तो सरस्वतीकण्ठाभरण में मिलती है, पर इस पर विस्तार से विवेचन शृंगार-प्रकाश में उपलब्ध होता है। भोज कहते हैं—काव्य कमनीय तभी होता है, जब उसमें रस रहता है। कमनीयता के उस मूल तत्त्व को चाहे रस कहो, चाहे अभिमान कहो, अहंकार कहो या शृंगार कहो, कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह अभिमान—दृष्टि--रस छोटा—दृष्टिशृंगार-दृष्टि न जाने कितने जन्मों के पुण्यकर्मों और अनुभवों से प्राणी को सुलभ हो पाती है। यही वह अंकुर है जिससे आत्मा के सभी श्रेष्ठ गुण उद्भूत होते हैं। जिसके पास यह होती है—जो शृंगारी होता है, उसके लिए समस्त जगत् रसमय हो जाता है। यदि वह अशृंगारी हुआ तो सब कुछ नीरस ही रहता है।[1] यहां भोज की रस—परिभाषा भी द्रष्टव्य है। उनके अनुसार मनोनुकूल दुखा:दि भावों में भी आत्मस्थित सुखाभिमान की प्रतीति को ही रस कहते हैं।[2]

यहाँ अभिमान, अहंकार, शृंगार शब्द रस के पर्यायवाची बनकर आए हैं। वे उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त नहीं हुए हैं, जिन अर्थों में सामान्यतः प्रयुक्त हुआ करते हैं। अहंकार व्यक्ति की वस्तुतः वह अहंकार—भावना (Sense of ego) है जिसके आधार पर उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होता है तथा जिसके सहारे व्यक्ति अपनी आत्मचेतना को विशोधित कर लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह अपनी आत्मीयता की बाहें फैलाकर विश्व के कण-कण का आलिंगन करने लायक हो जाता है। भोज इस अहंकार को अभिमान इसलिए कहते हैं क्योंकि यह अभित:मत—अनुकूल

---

१. रसोऽभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते।
योऽर्थस्तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते॥
विशिष्टादृष्टजन्मायं जन्मिनामन्तरात्मसु।
आत्मसम्यग्गुणोद्भूतेरेको हेतुः प्रकाशते॥
शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव चेदशृंगारी नीरसं सर्वमेव तत्॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण ५/१-३

२. मनोऽनुकूलेषु दुःखादिषु आत्मनः सुखाभिमानो रसः।

—शृंगार प्रकाश ५१७

होता है—अर्थात् यहां पर जगत् की समस्त सुखदुःखात्मक अनुभूतियां आनन्दप्रद होने के कारण अभिमत हो जाती हैं। और इसे शृंगार इसलिए कहते हैं क्योंकि यह मनुष्य को शृंग तक पहुँचा देता है—'येन शृंगं रीयते स शृंगारः'—अर्थात् उक्तभाव भूमि को पाकर मनुष्य अपनी सांस्कृतिक पूर्णता की चरमसीमा पर पहुँच जाता है। यह शृंगार स्त्री–पुरुष की रति का प्रकर्ष नहीं—वह तो इसका एक छोटा-सा अंश है जो इसीसे उद्भूत होता है इसी में लय हो जाता है। यहां शृंगार का अभिप्राय है निरपेक्ष प्रेम—आत्मनिष्ठ प्रेम—निर्विषय प्रेम। भोज का काम यौन आकर्षण नहीं, उनका शृंगार स्त्री–पुरुषों का वासनात्मक प्रेम नहीं और उनका अभिमान उत्तेजनाजन्य मिथ्यागर्व नहीं। वह तो आत्मस्थित गुण विशेष है, रस्यमान होने के कारण रस है। इस गुण–विशेष से युक्त प्राणी को ही वे रसिक मानते हैं।[3] भट्ट नृसिंह अपनी टीका में इसी दृष्टि को स्पष्ट करते हैं।[4] भोज की यही अहं–भावना समस्त भावों का मूल है। यहीं से समस्त भाव अपना रूप ग्रहण करते हैं।

भोज की दृष्टि से यह शृंगार की पराकोटि है। यहां रस अपनी मूल एवं व्यापक स्थिति में रहता है। इसी भावभूमि में पहुंच कर प्राणी मे आत्मरति उदित होती है फिर वह आत्माराम हो जाता है। पर उनकी यह आत्मा पांच, छह फुट की सीमा में बधी हुई नहीं है, वह विभु है। भोज के इस समस्त विवेचन को जो दार्शनिक आभा से अभिमण्डित है, देखकर स्पष्ट प्रतीत होता है कि भोज यह कहना चाहते हैं—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादातमतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टो जानाति रसमर्म सः ।

इसके बाद भोज शृंगार की मध्यमावस्था पर आते हैं। आत्म–रति अपने ही तक केन्द्रित नहीं रह सकती। अपने से सम्पर्क रखने वाले बाह्य विषयों में भी वह उतर आती है। तभी वे विषय प्रिय लगते हैं, हृद्य हो जाते हैं, क्योंकि यह प्रकृति का नियम है—"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।" अहंकार के इस अनुप्रवेश के कारण केवल आठ स्थायीभाव ही नहीं, उनचास भाव (आठ स्थायी, तेंतीस संचारी, आठ सात्विक) प्रकृष्ट अवस्था को पहुंचकर इसी अहंकार–शृंगार को उसी तरह प्रकाशित

---

३. आत्मस्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य
शृंगारमाहुरिह जीवितमात्मयोनेः।
तस्यात्मशक्ति–रसनीयतया रसत्वं
युक्तस्य येन रसिकोऽयमितिप्रवादः॥

—शृंगार प्र०, पृ० ५१३

४. येन रस्यते, येन अनुकूलवेदनीयतया दुःखमपि सुखत्वेन अभिमन्यते, येन रसिकैरहंक्रियते, येन शृंगम् उच्छ्रयोरीयते, स खलु तादृशोऽस्ति।

—भट्ट नृसिंह की टीका
सरस्वती कण्ठा०, ५–१

करते हैं जैसे अग्नि से उत्पन्न उसकी उद्भासमान अनन्त ज्वालाएं अग्नि की ही शोभा बढ़ाती हैं।[५] मध्यमावस्था के प्रकर्ष को प्राप्त ये सभी भाव भाव ही रहते हैं, रस नहीं कहे जा सकते।[६] रस तो पराकोटि में वर्णित अहंकार की स्थिति को ही कहते हैं। इसीलिए मध्यमावस्था शृंगाररस नहीं, भाव है। उसे तो उपचार से ही रस कहा जा सकता है, क्योंकि मूल-शृंगार अपने गुण-विशेष को रतिप्रकर्ष वाले शृंगार में अनुप्रविष्ट कर देता है। भाव और रस में भोज की दृष्टि से एक विशेष अन्तर होता है। भाव भावना-पथ पर विचरण करता है, उसको रति, हास आदि नाना नामों से पुकारा जा सकता है और उसकी अपनी एक सीमा होती है। परन्तु रस भावना-पथातीत होता है, वह एकरूप होता है, वहाँ नाना रूपों और नाना नामों का प्रश्न ही नहीं उठता तथा आत्मा का सारभाग होने के कारण वह उसी तरह सर्वातिशायी और असीम होता है।[७]

इसके बाद रसकी अन्तिम कोटि आती है जिसे भोज प्रेमन् रस कहते हैं। वे समस्त भाव जो मूल-रस-शृंगार से उद्भूत होकर रति, हास आदि रूप में प्रकर्ष को प्राप्त हुए थे, भावना की स्थिति को पारकर पुनः प्रेमन् में अपना लय कर देते हैं। नानात्व का स्थान एकत्व लेलेता है, सप्रकारक, ससीम आनन्द निष्प्रकारक असीम आनन्द में परिवर्तित हो जाता है। रत्यादि विभिन्न भावों का सिर्फ प्रेम में पर्यवसान हो जाता है। तभी तो विभिन्न भावों के लिए प्रेमपरक ही प्रयोग किए जाते हैं– जैसे शृंगारी के लिए रतिप्रिय, वीर के लिए रणप्रिय, हास्य और रौद्र के

---

५. रत्यादयोऽर्धशतमेकविवर्जिता हि।
भावाः पृथग्विधविभावभुवो भवन्ति॥
शृंगारतत्त्वमभितः परिवारयन्तः।
सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्धयन्ति॥
—शृंगार प्रकाश ५०८

६. (क) रत्यादिभूमनि पुनर्वितथा रसोक्तिः। — वही ५१४
(ख) न रत्यादिभूमा रसः। किन्तर्हि शृंगारः।
—वही ५१७

७. (क) आभावनोदयमनन्यधिया जनेन यो भाव्यते मनसि भावनया स भावः।
यो भावनापथमतीत्य विवर्तमानः साहंकृतौ हृदि परं स्वदते रसोऽसौ।
—शृंगार प्रकाश ५१४

(ख) ते (रत्यादयः) तु भाव्यमानत्वात् भावाएव न रसाः। यावत्सम्भवं हि भावनया भाव्यमानो भावएवोच्यते, भावनापथमतीतस्तु रसः। मनोऽनुकूलेषु दुःखादिषु आत्मनः सुखाभिमानो रसः। सतु पारम्पर्येण सुखहेतुत्वात् रत्यादिभूमसु उपचारेण व्यवह्रियते। अतो न रत्यादीनां रसत्वम्, अपितु भावनाविषयत्वात् भावत्वमेव।
—शृंगारप्रकाश ५१७

आश्रय के लिए क्रमशः परिहासप्रिय और अमर्षप्रिय ।[८] लगता है जैसे कोई राजपथ से चलकर बीच की गलियों, कूचों और पगडण्डियों को पार करता हुआ अन्त में अपने आखिरी पड़ाव पर पहुंच कर चैन की साँस ले रहा हो । अद्वैत से द्वैत की ओर बढ़कर 'एकोऽहं बहुस्याम्' की भावना का साक्षात्कार करके जैसे किसी ने अद्वैत में पर्यवसान कर लिया हो । पारमार्थिक सत्ता का उपासक व्यावहारिक सत्ता को उसी की लीला समझ कर उसके पास गया हो, उसका मन वहाँ न रमा हो, अतः वहाँ से लौटकर अपनी मूल आराधना में फिर से रत हो गया हो । यह है अव्यक्त से व्यक्त की ओर यात्रा और पुनः उसकी अव्यक्त में समाहिति । यह वस्तुतः

"अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि·····
अव्यक्त-निधनान्येव·····················"

इस तथ्य का आत्मीकरण है । यद्यपि पराकोटि और उत्तराकोटि ये दोनों कोटियां मूलतः एक प्रतीत होती हैं, फिर भी उत्तराकोटि को पराकोटि की पुनरुक्ति नहीं समझना चाहिए । पराकोटि मध्यमावस्था में पाए गए समस्त भावों का उद्गम-स्थान है, परन्तु उत्तराकोटि मध्यमावस्था में पाए जाने वाले समस्तभावों का ऊर्ध्वसंचरण है, अतः उक्त तीनों कड़ियां अत्यन्त आवश्यक है ।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि भोज जिस अहंकार-रति आत्मरति की बात करते हैं, वह प्रकृष्टावस्था को प्राप्त स्मरकरम्वितान्तःकरण स्त्री-पुरुषों की परस्पर रिरंसात्मक रति से भिन्न है । कहने का तात्पर्य यह है कि भोज का अहंकारशृंगार अन्य बहुत-से आचार्यों द्वारा वर्णित रतिप्रकर्ष शृंगार से भिन्न है । इस भिन्नता को देख कर लोग यह कह उठते हैं कि भोज ने जिस शृंगार का पल्ला पकड़ा है, वह बिल्कुल दूसरा है, अतः सामान्यजनाभिनन्दित शृंगार के कक्ष में इसे स्थान नहीं मिलना चाहिए । पर यहां कोई ऐसी बात नहीं है । भिन्नता होना और बात है, विजातीयता का होना बिल्कुल दूसरी बात है । शृंगार के उक्त दोनों रूपों में कोई विजातीय तत्त्व नहीं दीखता अतः दोनों के बीच में लौह-दीवार खड़ी करने का प्रश्न ही नहीं उठता । अहंकार-शृंगार ही वास्तविक रस है, उसे आप चाहें, परमार्थ-शृंगार कहलें या उच्चतरशृंगार कहलें । पर यह ध्यान रखना न भूलिए कि मन्मथ को उद्भिन्न करने वाले शृंगार ने भी इसी अहंकार-शृंगार से रस लिया

---

८. समस्तभावमूर्धाभिषिक्ताया रतेः परप्रकर्षाधिगमात् भावनाधिगमे भावरूपतामुल्लंघ्य प्रेमरूपेण परिणताया उपादानात् भावान्तराणामपि पर प्रकर्षाधिगुमे रसरूपेण परिणतिरितिज्ञापयन् अहंकारस्योत्तरां कोटिमुपलक्षयति । सर्वेषामपि रत्यादि-प्रकर्षाणां रतिप्रियो रणप्रियः परिहास-प्रिय अमर्षप्रिय इति प्रेम्ण्येव पर्यवसानं भवति ।

—सरस्वतीकण्ठाभरण–६१३

है, तब कहीं वह अपनी प्रकर्षता प्राप्त कर सका है। भले ही यह उसका सहस्रांश हो, पर इसे विजातीय द्रव्य नहीं कह सकते, यह उसकी लघुतर अवस्था जरूर है। यदि वह विजातीय होता तो अहकार-शृंगार में समाहित कैसे हो पाता? भोज ने तो मूलचेतना को महत्त्व दिया है, उसी के सहारे उसकी अवान्तर शाखा-प्रशाखाओं को समझना चाहा है और सहृदय पाठक को भी समझने के लिए बाध्य किया है। इस भावना के मूल में तो उपनिषद् की वह मनःस्थिति काम करती है जिसमें साधक केवल मूलाधिष्ठान को पकड़कर उसके अंगों-उपांगों तक पहुँचता है और उसके विवर्त को भी समझ जाता है—"येनैकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।" इसीलिए मैं पहले कह चुका हूं कि शृंगार रस के विवेचन में भोज की दृष्टि साहित्य और दर्शन की गंगा-यमुना का सुन्दर संगमस्थल रही है। दोनों को उन्होंने महत्त्व दिया है। यही कारण है कि वह शृंगार के विवेचन में हीन काम से कहीं उलझे नहीं दीखते।

भोज 'मूलतः रस एक है' इस सिद्धान्त को मानकर चले हैं। 'येनैकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति' यह सत्य उनकी आँखों के सामने हमेशा बना रहा। संख्या की समस्या तो उनके दिमाग में कभी उठी ही नहीं। वह तो आरम्भ में ही अपने सिद्धान्त का उद्घोष कर देते हैं। वे कहते हैं कि कुछ सुधी शृंगार, वीर, करुण, अद्भुत, रौद्र, हास्य, बीभत्स, वत्सल, भयानक और शान्त रूप से दस रस मानकर चलते हैं, माना करें। मैं तो शृंगार को ही रस मानना उचित समझता हूं, क्योंकि रसन उसी का होता है।[९] यह शृंगार—अहंकार नामक मूलचेतना सर्वसाधारण को सुलभ नहीं होती। यह तो कुछ पुण्यात्माओं का भाग्य है जो कि वे इस आत्मसंपत्ति को अपने प्राक्तन पुण्यकर्मों और अनुभवों के बल पर प्राप्त कर पाते हैं।[१०] यह चेतना—अहंकार—जिसे मयस्सर हो जाती है, वह रसिक बन जाता है। इसके अभाव में तो वह काष्ठकुड्याश्मसन्निभ, असंस्कृत एवं नीरस ही रहता है।[११]

---

९. शृंगार-वीर-करुणाद्भुत-रौद्र-हास्य—
बीभत्स-वत्सल-भयानक-शान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो
वयं तु शृंगारमेव रसनाद् रसमामनामः॥

—शृंगारप्रकाश ५१२

१०. सत्वात्मनाममलधर्म-विशेषजन्मा
जन्मान्तरानुभव-निर्मित-वासनोत्थः।
सर्वात्म-संपदुदयातिशयैक-हेतुः
जागर्ति कोपि हृदि मानमयो विकारः॥

शृंगारप्रकाश ५१२

११. शृंगारो हि नाम आत्मनोऽहंकार-विशेषः सचेतसा रस्यमानो रस इत्युच्यते। यदस्तित्वे रसिकोऽन्यथात्वे नीरस इति।

—शृंगारप्रकाश ५१७

जहाँ अहंकार अपनी विकसित अवस्था में होता है, व्यक्ति के भावनात्मक व्यक्तित्व का पूर्ण विकास देखा जाता है, उसमें दूसरे के भावना-क्षेत्र में प्रवेश करने की क्षमता पाई जाती है, वहीं कारयित्री और भावयित्री दोनों प्रतिभाएं अपना काम करने के लिए सतर्क दीखती हैं और इसके फलस्वरूप वहीं वह उर्वर भूमि तैयार होती है, जहां महनीय संस्कृति को प्रकाश में लाने वाली नाना कलात्मक चेतनाएं अपना जन्म ग्रहण करती हैं। इसीलिए यह अहंकार कवियों, अभिनेताओं, सहृदय सामाजिकों एवं ललितकला के उपासकों की सम्पत्ति समझा जाता है। यह विशेष कारण है कि भोज अन्य आचार्यों की तरह रत्यादि से रसकी उत्पत्ति-'स्थायीभावो रस स्मृत:'—नहीं स्वीकार करते। वे तो अहंकार-शृंगार से ही इत्यादि की उत्पत्ति मानते हैं।[१२] इसीलिए भोज यह भी स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं कि भावों में आठ या नौ स्थायीभाव हैं, तेंतीस संचारी-भाव हैं और आठ सात्त्विक-भाव हैं। उक्त सभी भाव एक ही मूल–अहंकार से उत्पन्न हुए हैं अतः स्थायीभाव हो सकते हैं, परिस्थिति के अनुसार संचारी भी हो सकते हैं, और 'सत्व–रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः'-से उत्पन्न होने के कारण सात्त्विक भी हो सकते हैं।[१३]

भोज का कहना है कि मनुष्य में जो धर्ममूलक, अर्थमूलक, काममूलक और मोक्षमूलक एषणाएं पाई जाती हैं, उनके मूल में यही अहंकार–अभिमान–शृंगार प्रतिष्ठित है। यही चतुर्वर्गैककारण है। इस आधार पर उन्होने शृंगार के धर्मशृंगार, अर्थशृंगार, कामशृंगार और मोक्षशृंगार ये चार भेद किए हैं। शृंगारप्रकाश के तेरहवें अध्याय में पहले उन्होंने इनका संक्षिप्त विवेचन किया है, फिर आगे चलकर उन्होंने विस्तार के साथ उक्त चारों प्रकारों का विवेचन क्रमशः अध्याय अठारह, उन्नीस, बीस और इक्कीस में किया है। इस प्रकार का विवेचन भरत ने भी किया है, पर उन्होंने शृंगार के त्रिवर्गमूल तीन ही भेद किए हैं। भोज ने उसमें मोक्षशृंगार को जोड़कर चतुर्वर्गमूलक चार भेद कर दिए। वे इस प्रसग में भरत के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते और न उनका कुछ प्रभाव स्वीकार करते हैं। परन्तु भोज ने भरत का विवेचन जरूर देखा होगा और उन्होने उसमें कुछ अतिरिक्त विवेचन और परिवर्धन करके अपने अभिमान के विवेचन और विस्तार मे उसका अभीप्सित उपयोग भी अवश्य किया होगा।

---

१२. रत्यादीनामयमेव प्रभव इति। शृंगारिणो (अहंकारिणो) हि रत्यादयो जायन्ते, न अशृंगारिणः। शृंगारी हि रमते, रमयते, उत्सहते, स्निह्यतीति।

—शृंगारप्रकाश ५१७

१३. ननु अष्टौ स्थायिनः, अष्टौ सात्त्विका, त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणः इति ब्रुवते, न तत् साधु। यतोऽमीषामन्यतमस्य एतैरेव परस्परं निर्वर्त्यमानत्वात् कश्चित् कदाचित् स्थायी, कदाचित्तु व्यभिचारी। अतोऽवस्थावशात् सर्वेऽप्यमीर्व्यभिचारिणः, सर्वेऽपि च स्थायिनः, सात्त्विका अपि सर्व एव, मनःप्रभवत्वात्; अनुपहतं हि मनः सत्वमुच्यते।

—शृंगारप्रकाश ५१७

अहंकार को समस्त भावों का मूल सिद्ध करते हुए, अहंकार-शृंगार को रतिप्रकर्ष शृंगार से उच्चतर ख्यापित करते हुए और रति-प्रकर्ष शृंगार—काम-शृंगार को उपचारतः ही रस कहा जा सकता है–यह उद्घोषित करते हुए भी भोज अन्त में कामशृंगार को अभिमानशृंगार का रूप दे बैठते हैं और पुरुषार्थ-चतुष्टय का मूल भी उसी को बताने लगते हैं। उनका सीमित अर्थ को रखने वाला काम अहंकार का समानार्थक होकर, अपने में व्यापक भावभूमि को समेटते हुए सामने आ खड़ा होता है। यह भोज के विवेचन की त्रुटि है, इसमें दो राय नहीं हो सकतीं। विवेचन की वैज्ञानिकता के लिए पारिभाषिक पदावली का एक निश्चित अर्थ में प्रयोग आवश्यक होता है। भोज ऐसा नहीं कर सके। इस विवेचन के प्रसंग में ऐसा लगता है कि उनके अहंकार शृंगार पर उनका रतिप्रकर्षशृंगार—कामशृंगार हावी हो गया हो। इतना ही नहीं, भोज ने जितना गुणोत्कीर्तन अहंकारशृंगार का किया उससे कम वह रतिप्रकर्ष शृंगार का नहीं करते। लगता है कि जैसे कोई किसी से कम न हो। अध्याय बीस में कामशृंगार का विवेचन करने के पश्चात् भोज को यह लगा कि उस सम्बन्ध में उन्होंने कुछ कम कहा। फिर बाइसवें अध्याय में वे उसके गुणानुवाद में प्रवृत्त होगए। इस कामशृंगार की रति को अध्याय ग्यारह में समस्तभाव-मूर्धाभिषिक्ता बताकर अध्याय तेरह में वे उसका और विस्तार से गुणानुवाद करते हैं। उनके शब्दों में रतिभाव कामकल्पद्रुमांकुर है, सौहृदांकुरकन्द है, समस्त अन्य भावों से वह प्रकृष्ट भाव है, इसीलिए समग्र कविवर्ग उसे अपनाते अघाता नहीं।[१४] इस रति के आलम्बन उद्दीपन विभाव, अनुभाव और संचारिभाव सबका विस्तार से विवेचन अलग-अलग अध्यायों में उन्होंने किया है।

शृंगार रस की पूर्वाकोटि को मूल और मध्याकोटि को उससे जन्य बताकर फिर मध्यकोटि के रतिप्रकर्ष शृंगार को सबका मूल बताने में क्या सार है? प्रश्न उठता है– यह सब गड़बड़ी हुई क्यों? हो सकता है आरम्भ से ही रतिप्रकर्षशृंगार की सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थिति ही इसके लिए जिम्मेदार रही हो। शृंगार की सार्वभौमिकता पर आज तक किसी ने आपत्ति नहीं की, उसकी प्रियता और उसका माधुर्य बेजोड़ समझा जाता रहा है। बात यहां तक बढ़ी कि लोग रस शब्द से रतिप्रकर्ष शृंगार को ही समझते रहे हैं। प्राकृत लोक-साहित्य में तो शृंगार की धारा उद्दाम और अत्यन्त स्थूलरूप में प्रवाहित दीखती है, क्योंकि वहां सम्भोग को प्रधानता मिली है और प्रेम का रूप अत्यन्त स्थूल बन गया है। सामान्य जन की चेतना ऐसे ही प्रसगों से रस ग्रहण करती थी। भोज ने अपने विवेचन के

---

१४. सैषभावो रतिर्नाम कामकल्पद्रुमांकुरः।
सौहृदांकुरकन्दश्च द्विप्रकारोऽपिदर्शितः॥
भावान्तरेभ्यः सर्वेभ्यो रतिभावः प्रकृष्यते।
कविवर्गः समग्रोऽपि तमेनमनुधावति॥

—शृंगारप्रकाश भाग ३/प ३३

उदात्त क्षणों में अहंकारशृंगार की उज्ज्वल भूमिका अवश्य प्रस्तुत की, पर वह सनातनकाल से मानव-हृदय में पूर्ण रूप से जड़ जमाकर बैठे हुए, सभी कवियों द्वारा असीम वेग के साथ अभिव्यक्त तथा सभी साहित्य-शास्त्रियों द्वारा बिना ननुनच के पूर्ण सम्मान के साथ स्वीकृत रसराज शृंगार से अपने को विच्छिन्न न कर सके। इसमें केवल लोकरूचि के अनुवर्तन का ही प्रश्न नहीं है। वह भी इन्सान हैं, उनकी अपनी भी तो रुचि है। पालिश की डिब्बी लिए हमेशा कैसे कोई बैठा रह सकता है ? मूल-भावना को संस्कृत करने का प्रयत्न इन्सान करता है, करना भी चाहिए। परन्तु अक्सर मूलभावनाएं अपने ऊपर आरोपित आवरणों को चीर कर खुलकर सामने आही जाती हैं। भोज के उपर्युक्त चिन्तन को देखते हुए यह लगना स्वाभाविक है कि वह दोनों ही सन्दर्भों में रस लेते रहे हैं, पर जो कुछ भी है, सब समझ-बूझ कर किया-कराया लगता है। भोज ने कहां तक लोकरुचि का अनुसरण किया और किस सीमा तक वह अपनी रुचि से अभिप्रेरित हुए, इसके अनुपात के सम्बन्ध में कुछ इदमित्थं तो नहीं कहा जा सकता, पर किसी न किसी रूप में दोनों ही रहे हैं, यह मेरा अपना विश्वास है।

उपर्युक्त तथ्यों को देखते हुए यह निर्भ्रान्ति रूप से कहा जा सकता है कि भोज ने जिस मूलभूत एक रस की प्रतिष्ठा की, जिसे उन्होंने अहंकार–अभिमान–शृंगार नामों से अभिहित किया और अपनी स्थापनाओं द्वारा जिसका व्यापक और उदात्त रूप प्रस्तुत किया, भले ही कुछ लोग उस ऊँचाई तक न पहुंच पाने के कारण उस पर बेजा टीका-टिप्पणी कर बैठे, पर वह उनकी रस के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण देन है। उनका यह सिद्धान्त जीवन और उसके क्रियाकलापों को ठीक से समझने एवं संस्कृति, सुरुचि, कलात्मक कल्पना आदि सौन्दर्यशास्त्रीय तत्त्वों की परख का निकषोपल है तथा 'कामस्तदग्रे समवर्तत' 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति', 'सोऽकामयत' आदि उच्च वैदिक दार्शनिक मान्यताओं का मूलाधार है।

अग्नि–पुराण

साहित्य के क्षेत्र में नवीन एवं मौलिक सिद्धान्त की उद्‌भावना का जहां तक प्रश्न है, अग्निपुराण को महत्त्व नहीं दिया जा सकता। अग्निपुराण ने इस दृष्टि से कोई स्वतन्त्र चिन्तन नहीं दिया। हां, समकालीन तथा पूर्ववर्ती आचार्यों की चिन्तन-सामग्री का उसमें समाहरण अवश्य हुआ है, जिसमें कहीं–कहीं दो भिन्न दृष्टियां भी एक साथ निबद्ध हो गई हैं। वह एक स्वतन्त्र सिद्धान्तग्रन्थ न होकर अपने समय तक हुए समग्र मुख्य चिन्तनों का विश्वकोष मात्र है। रस के क्षेत्र में अग्निपुराण की मान्यता भोज से कुछ अंशों में मिलती–जुलती है। शृंगार रस को अन्य रसों का मूल वह भी मानकर चलता है, अतः भोज के साथ ही अग्निपुराण में विवेचित रस–दृष्टि की मीमांसा आवश्यक है।

अग्निपुराणकार का कथन है, वेदान्त में परब्रह्म को अक्षर, सनातन, अज, विभु, चैतन्य, ज्योति, ईश्वर नाम से पुकारते हैं, आनन्द उसका सहज स्वभाव है। इस आनन्द की अभिव्यक्ति यदाकदा होती है और उसे चैतन्य, चमत्कार, रस कुछ भी कह सकते हैं। उसका प्रथम विकार अहकार है। अहंकार से अभिमान उत्पन्न होता है और अभिमान से रति की उत्पत्ति होती है जो व्यभिचार्यादि-संयोग से परिपोष पाकर श्रृंगार रस के रूप मे सहृदयों के अनुभव का विषय होती है। परिपोषावस्था को प्राप्त हास्यादि इसी रति–श्रृंगार के ही अवान्तर भेद हैं।[१५]

भरत के प्रकृति–रस के सिद्धान्त को अग्निपुराण मानकर चलता है। उसके रसाध्याय में इस सम्बन्ध का भरत का पद्य सिद्धान्त रूप से उद्धृत मिलता है जिसके अनुसार श्रृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्‌भुत और बीभत्स से भयानक की निष्पत्ति होती है।[१६] अग्निपुराण ने इसमें यह नई बात और जोड़ दी कि उक्त चारों प्रकृति-रस रति से ही उद्‌भूत होते हैं। अग्निपुराण में रति के चार रूप माने गए है। वे है राग, तैक्ष्ण्य, अवष्टम्भ और सकोच। राग से श्रृंगार, तैक्ष्ण्य से रौद्र, अवष्टम्भ--(महान् कार्यो के आरम्भ मे चित्त का स्थिर संरम्भ) से वीर और संकोच से अद्‌भुत उत्पन्न होता है, यह उसकी मान्यता है।

रति–श्रृंगार को समस्त रसों और भावों का मूल मानने के कारण लगता है कि अग्निपुराण का मत भोज के मत से मिलता–जुलता है, क्योंकि भोज भी श्रृंगार को ही मूलरस मानकर उसी से रत्यादि भावों की उद्‌भूति मानते हैं, परन्तु दोनों की दृष्टि में पर्याप्त अन्तर है। भोज तो श्रृंगार–अहंकार–अभिमान को एक बताकर उससे समस्त भावों की उद्‌भूति मानते हैं। फिर उसका प्रेमन् रस में पर्यवसान कर देते हैं। पर अग्निपुराण की कुछ भिन्न श्रृंखला है। वह ब्रह्मसे चलकर, उसका

---

१५. अक्षर परमं ब्रह्म सनातनमज विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य-चमत्कार-रसाह्वया॥
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहकार इति स्मृतः।
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्त भुवनत्रयम्॥
अभिमानाद् रतिः साच परिपोषमुपेयुषी।
व्यभिचार्यादि-सयोगात् शृंगार इति गीयते॥
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकश.।

अग्निपुराण–अध्याय ३३९, श्लोक १–५

१६. शृंगाराज्जायते हासः रौद्रात्तु करुणो रस।
वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद्बीभत्साद् भयानकः॥

अग्निपुराण

सहज धर्म आनन्द बताकर अहंकार को उसका प्रथम विकार मानता है। अहंकार से अभिमान उत्पन्न होता है और अभिमान से रति। यह रति ही अन्य रसों और भावों का मूल है। भोज में एक तोइतनी लम्बी शृंखला नहीं मिलती और न वह अग्निपुराण की तरह अहंकार और अभिमान को दो भिन्न तत्त्व स्वीकार करते हैं। अग्निपुराण के अनुसार शृंगार रस का एक प्रमुख भेद है, जबकि भोज शृंगार को मूलरस—रस का पर्याय बताते हैं। भोज शृंगार—आत्मरति से समस्त भावों की उद्‌भूति बताकर उन्हें प्रेमन् (व्यापक रति—आत्मरति) में समाहित कर देते हैं। जबकि अग्निपुराण में रति से—व्यापक आत्मरति से नहीं—अन्य रसों की उत्पत्ति मानी गई है, फलस्वरूप उन रसों का लय भी इसी में माना जा सकता है।

डा० राघवन अपने शृंगार प्रकाश में भोज और अग्निपुराण के रस-सिद्धान्त का तुलनात्मक विवेचन करते हुए लिखते हैं कि भोज का मत मुख्यतः सांख्य-सिद्धान्त पर आधारित है, उसके प्रतिपादन में न्याय—प्रक्रिया का सहारा लिया गया है इसीलिए उसमे अद्वैत-दृष्टि नहीं दीखती। अग्निपुराण कश्मीर के शैवदर्शन की अद्वैत-भावना से प्रभावित है, सांख्यदृष्टि भी कुछ अंश तक उसने अपनाई है। दोनों दृष्टियां अपना अलग-अलग अस्तित्व न बनाए रखकर मिलजुल गई हैं, परिणामतः अद्वैत-दृष्टि प्रमुख हो गई है।[१७]

मैं जहां तक समझ पाया हूं, उसके आधार पर यह कह सकता हूं कि अभिनव गुप्त, शारदातनय प्रभृति कुछ आचार्यों ने कश्मीर के शैवदर्शन की मूलचेतना के आधार पर अपने रस-सम्प्रदाय की रूपरेखा स्थिर की है। कुछ ने अद्वैत-वेदान्त का सहारा लिया है तथा कुछ आचार्य अपने मत की प्रतिष्ठा के लिए सांख्य-सिद्धान्त की शरण मे गए हैं। उक्त तीनों दर्शनों का ही रस-सम्प्रदाय पर विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। परन्तु इन तीनों दर्शनों के आधार पर रस की व्याख्या करने वाले आचार्यों ने भी—मूल सिद्धान्तरूप से न सही—अपने युग की अन्य दर्शन से प्रभावित चिन्तन-परम्परा की स्वाभाविकता तथा लोकप्रियता को देखते हुए अपने मत के विवेचन में उनका भी चलताऊ हवाला दे दिया है। अभिनवगुप्त स्वयं रसानुभूति को ब्रह्मानन्दानुभूति के सदृश बताते हैं।[१८] शारदातनय भी रसानुभूति के क्षण में सत्त्वादि गुणों के उपकार को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं।[१९] कुछ आचार्य ऐसे भी हैं जिन्होने किसी विशेष दर्शन-चिन्तन को अपने सिद्धान्त का आधार तो नहीं बनाया, परन्तु अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए विभिन्न चिन्ताधाराओं के

---

१७. शृंगारप्रकाश—(राघवन) पृ० ५०७

१८. ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्............रसः।

—काव्यप्रकाश उल्लास ४

१९. उपकुर्वन्ति सत्वादिगुणास्ते तत्तत्त तु।

—भावप्रकाशन, पृ० ५३

आवश्यक तथ्यों का संचयन करके अपनी बात कह दी है। आचार्य विश्वनाथ के रस-लक्षण को देखिए। वह सत्त्वोद्रेक का हवाला देते हैं, रस को आनन्दचिन्मय, ब्रह्मास्वाद-सहोदर, स्वाकारवदभिन्नत्वेनास्वाद्य बताते हैं। इस प्रकार के आचार्य किसी दार्शनिक चिन्तन के आधार पर अपने मत का बीड़ा नही उठाते, बल्कि अपने युग के प्रमुख चिन्तनो के आधार पर समन्वित रूप में अपनी बात कह जाते हैं। अधिकतर लक्षण-ग्रथों में इसी परिपाटी को अपनाया गया है। अग्निपुराण को इसका अपवाद नही माना जा सकता।

अग्निपुराण पर मुझे तो ऐसा लगता है कि अद्वैतमूलक वेदान्त और सांख्य का प्रभाव है। अध्याय तीनसौ उन्तालीस के आरम्भ से यह बात स्पष्ट हो जाती है। पहले ब्रह्म का प्रसंग आता है। उसके बाद ब्रह्म के नाना नाम बताए जाते हैं। उन नामों की सूची में कोई ऐसा नाम नहीं दीखता जो कश्मीर शैवदर्शन में शिव के लिए व्यवहृत उनके प्रमुख नामों में से कोई हो। इसके बाद ब्रह्म के सहज आनन्द की बात कही गई है। यह आनन्द भी ब्रह्म के संदर्भ में वर्णित होने के कारण मुझे उपनिषद् में वर्णित ब्रह्मानन्द ही लगता है। इसके बाद अहंकार, अभिमान और सत्त्वादि गुण-सन्तान के प्रसंग सांख्य के प्रभाव को सूचित करते हैं। इन दो प्रभावों के परिवेश में ही अग्निपुराण ने अपनी बात कही है। मुझे उनके विवेचन के मूल में प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। मुझे ऐसा लगता है कि डा० राघवन ने अपना उक्त निष्कर्ष निकालने में शीघ्रता की है।

भोज के सिद्धान्त में अद्वैतमूलक प्रवृत्ति के न पाए जाने के सम्बन्ध में मेरा तो यह विचार है कि भोज ने किसी भी दर्शन का, चाहे वह कश्मीर का शैवदर्शन हो या अद्वैत वेदान्त, सहारा अवश्य नहीं लिया है, पर व्यावहारिक सिद्धान्त की दृष्टि से अद्वैत की प्रतिष्ठा तो उसमें हो ही गई है। अद्वैत का अभिप्राय ही है द्वैत का विलोप, वह उनके रस-विवेचन मे स्पष्टतः विद्यमान है क्योंकि जिस एकतत्त्व से समस्त भावों की उद्भूति हुई, उसी में उनका लय दिखाया गया है, भले ही उनका यह अद्वैत कश्मीरदर्शन पर आधारित न हो, पर अग्निपुराण की दृष्टि की अपेक्षा कहीं अधिक मनोवैज्ञानिक है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

षष्ठ परिच्छेद

श्रृंगार की भावना और विकास

अन्य आचार्य

इतिहास इस बात का साक्षी है कि निरन्तर गम्भीर चिन्तन के फलस्वरूप जो एक उदात्त दृष्टि बनती है, कुछ काल तक तो उसे सिद्धान्त और व्यवहार–पक्ष दोनों में मनसा, वाचा, कर्मणा अमल में लाया जाता है, समस्त व्यवहार उसी से परिचालित होते रहते हैं तथा समस्त कृतियों में उसी का प्रतिबिम्ब प्रतिफलित दीखता है। पर जैसे–जैसे समय बीतता जाता है, दृष्टि की मूलचेतना मन्द पड़ती जाती है। एक समय ऐसा आ जाता है कि उसका नाममात्र अवशिष्ट रह जाता है और उसका सारभाग विलुप्त हो चुका होता है। ऐसा लगता है कि जिस चित्र को अमूल्य समझकर, उसकी रक्षा के लिए उसमें एक अच्छा-सा फ्रेम लगवा कर कलात्मक साजसज्जा के साथ सुरक्षित करना चाहा था, उसमें से वह चित्र कहीं खिसक गया है और आगे आनेवाली पीढ़ी उस फ्रेम को ही चित्र समझ कर उसी की पूजा में अपने समय और शक्ति का अपव्यय करती चल रही है। भारतीय रस-सिद्धान्त ही इसका अपवाद कैसे हो सकता है।

आरम्भ में भरतमुनि ने शृंगार रस के सम्बन्ध में जो दृष्टि दी थी वह इस प्रकार है। उनकी दृष्टि में शृंगार था–गुर्वाचार-सिद्ध, हृद्योज्ज्वलवेषात्मक, शुचि, मेध्य, विष्णुदेवताधिष्ठित, स्त्रीपुंसहेतुक और उत्तमयुवप्रकृति। वह मैक्डूगल, शैंड, फ्रायड की सेक्स नामक सहज वृत्ति न थी, वह था एक शुभ मिथुनभाव जिसमें शारीरिक और मानस दोनों ही भावों का मणि-कांचन-संयोग था तथा जिसके लिए उत्तम प्रकृति के आलम्बनों की आवश्यकता समझी गई थी। वह दृष्टि इसी रूप में कबतक चलती रहती ? दो–चार शताब्दियों बाद ही उसका रूप बदलना आरम्भ हो गया। पहले उस पर दार्शनिक आवरण पड़े–एक नहीं अनेक–पर वे भी आगे चलकर व्यवहार की दृष्टि से कुछ हद तक सारहीन हो गए। हां, दार्शनिक पदावली का प्रयोग थोड़ा बहुत तब भी होता रहा और आगे चलकर तो वह भी विलुप्त होता चला गया। 'स्त्रीपुंसहेतुक' ने स्थूलता के साथ प्रमुखता पाली। 'उत्तमयुवप्रकृति' का स्थान 'उत्तमप्रकृतिप्रायः' ने ले लिया। यह प्रायत्व भी धीरे-धीरे विलुप्त हो गया, वहां केवल बची दीखी 'स्त्रीपुंसयोर्मिथोरागवृद्धिः'। रति के स्थूल व्यापारों को प्रमुखता दी जाने लगी। आचार्य अभिनव के अनुयायी भी उनकी शृंगार के मूल में प्रतिष्ठित आनन्दवादी धारा को भूल गए। उन्हें सिर्फ उनका अभिव्यक्तिवाद याद रहा, पर क्या अभिव्यक्त होता है इसकी उन्होंने कोई चिन्ता न की। कुछ कारणों

से भोज की दृष्टि भी लोकप्रिय न हो पाई। बाद के आचार्य दार्शनिक पदावली का प्रयोग जरूर करते रहे, पर व्यावहारिक रूप में उनकी दृष्टि शृंगार के स्थूल पक्ष की ओर ही अधिक टिकी रही।

आवश्यकता है कि पूरी गम्भीरता से इस बात की छानबीन की जाए कि वह कौनसी दुराधर्ष शक्ति है जो अनुशासन में संयत किए जाने पर भी बार-बार उभर कर आ जाती है, रोके नहीं रूकती। उपर्युक्त शृंगार के रूपों के अतिरिक्त प्राचीन काल से ही उनका एक अत्यन्त लोकप्रिय रूप और मिलता है जो पूर्ण उन्मुक्त हैं, स्वस्थ हैं, विदग्ध की अपेक्षा अधिक ग्राम्य हैं तथा जिसकी जड़ें सृष्टि के मूल तक गई हुई हैं। प्राणिमात्र में स्त्री–पुरुष का एक दूसरे की ओर आकर्षण सृष्टि के आरम्भ से ही दीखता है। यह स्वाभाविक भी है–'द्विधाकृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्, अर्धेन नारी……' इस वस्तुस्थिति को देखते हुए एक का अपने दूसरे अभिन्न भाग से मिलने के लिए आतुर होना समझ में आता है। सृष्टि ने इस आकर्षण को इतना उन्मादकारी बनाया है कि इसके आगे मनुष्य का सारा संयम, धैर्य, सयानापन व्यर्थ हो जाता है। विश्व की प्राचीनतम रचना ऋग्वेद के यम–यमी–संवाद, उर्वशीपुरूरवा-संवाद इसके साक्षी हैं। शृंगार का यह रूप प्राकृत रचनाओं में बहुत पहले से चला आ रहा था। हाल की गाथा सप्तशती, उसके अनुकरण पर गोवर्धन की आर्यासप्तशती और कवि अमरुक का अमरुशतक आदि इसी परम्परा के प्रतिनिधि अमर प्रेमकाव्य है, इनकी एक लम्बी परम्परा है। इनमें उन्मुक्त प्रेम की सम्पूर्ण मनः स्थिति पूरी प्रेम-समृद्धि के साथ चित्रित हुई है। प्रेमियों के हर्ष-विषाद, उनकी अभिलाषा, कल्पना, उनकी वक्रोक्तियां और व्यंग्य, उनकी कूट चालें, उनकी संयोग–विप्रलम्भ की नाना स्थितियां, उनके प्रेम के सुखान्त एवं दुःखान्त पहलू, उनके रहस्यमय मधुर क्षणों के हृदयावर्जक चित्र, उनकी अपनी पूरी विविधता के साथ यदि देखना हो तो उक्त रचनाओं की शरण में जाइए। वहाँ आपको मिलेगी सहज प्रेमाग्नि और उसका असह्य ताप तथा दीखेंगी उस ताप को शमन करने के लिए उपयोग में लाई गई मुक्तामालाएं, आर्द्रबसन, कोमल कमल-किशलय और उनके मृणाल–जाल एवं हिमांशु की शीतल किरणें। यहाँ पाठक एक ऐसे अभिनव जगत् में प्रवेश करता है जहां न आध्यात्मिकता का झमेला है, न कुश और वेदिकाओं का नाम सुनाई पड़ता है, न स्वर्ग और अपवर्ग की परवाह की जाती है और न इतिहास-पुराण की दुहाई दी जाती है। इन चित्रों में मिलेगा आपको ऐन्द्रियता तथा मानसिकता का समन्वय। कहीं पर ये चित्र होंगे पूरे ऐन्द्रिय या पूरे मानसिक और कहीं पर केवल शारीरिक। प्रेम और काम की है यह अप्रधर्ष्य सहज शक्ति जो दबाए नहीं दबती, बशर्ते इन्सान एबनार्मल न हो। इनमें से अनेक स्थल उत्तम प्रेम-काव्य के और उत्कृष्ट रतिप्रकर्षशृंगार के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। परन्तु इस प्रकार के प्रेम-काव्यों में बहुत सी बकवास ऐसी भी आ जाती है जो रस की सीमामें समाहित नहीं हो पाती। यही वे स्थल हैं

जहां अभिव्यक्ति का भद्दापन और उसकी अनावर्जक नग्नता काव्य का दोष बन जाती है। इनमें शृंगार का गम्भीर रूप नहीं दिखाई पड़ता, ऊहात्मक एवं अत्यन्त सस्ती कोटि की कामुक शृंगारी चेष्टाओं की विवृतिमात्र मिलती है। भारतीय सहृदय के लिए यह स्थिति असह्य हो उठती है फिर वह इसका रस की सीमा से बहिष्कार करने में ही कला का कल्याण समझता है। उसने तो कविकुलगुरु कालिदास तक की ख़बर ली है। उसने अपनी दृष्टि से—वैसे चाहे वे न हुए हों—उन्हें शिव—पार्वती के उन्मुक्त सम्भोग—वर्णन के कारण कोढ़ी बना दिया। मैं इसकी ऐतिहासिक सत्यता पर तो विश्वास नहीं करता, परन्तु इसके द्वारा अभिव्यक्त तथ्य को महत्त्व ज़रूर देता हूं। विद्वानों की धारणा है कि प्राकृत में चली आती हुई इस लौकिक शृंगार-परम्परा में चौथी और पाँचवीं शताब्दी में विभिन्न जातियों के मिश्रण और उत्तर-पश्चिम से आई हुई विदेशी जातियों की संस्कृति के सम्पर्क के कारण और उन्मुक्तता आगई।

ये विदेशी जातियां बहुत बड़ी संख्या में यहां आई थीं। वे यहीं बस गईं—बस ही नहीं गईं, बल्कि भारतीयों में घुलमिल गईं। अधिकतर वे जातियां ऐसी ही थीं, जिनका अपना कोई साहित्य नहीं था, दर्शन नहीं था, कोई सुपुष्ट संस्कृति नहीं थी। किस बल पर वे अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखतीं। ब्राह्मणों की कठोरता और उनकी क्रियाबहुल आचार—परिपाटी के कारण वे उनके घेरे में न आसकीं। वह घेरा भी उनकी रुचि के अनुकूल न पड़ता अतः उनके लिए उसमें प्रवेश पाने का कोई आकर्षण भी नहीं था। अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार वे अन्य वर्णों में समा गईं। शूद्रों में अधिकों को स्थान मिला। इसका परिणाम यह हुआ कि निम्न वर्गों ने—विशेषकर शूद्रों ने—इन आक्रान्ता जातियों का बल पाकर सर उठाया, चिरकाल से चली आती हुई दासता और उपेक्षा से ही मुक्ति नहीं चाही, संस्कृत जीवन की आचार-परक कठोरता के प्रति, जो असस्कारी होने के नाते उन सबको कृत्रिम एवं अनावश्यक प्रतीत हो रही थी, स्पष्ट अवहेलना आरम्भ करदी। इससे भारत की युक्ताहारविहार की परिपाटी शिथिल हो गई—बहुत अंशों में टूट भी गई। उस युग का लोक-साहित्य और बहुत बड़े अंशों में संस्कृत-साहित्य भी इस बात का साक्षी है।

हूणों, आभीरों और यवनों के भारत आगमन के बाद उनके स्वच्छन्द शौर्य और रोमान्स की प्रवृत्ति ने इस लोक—साहित्य को और प्रभावित किया। अन्तिम प्रेमकाव्यों पर तो कामशास्त्र का इतना खुला प्रभाव पड़ा है कि वे रतिशास्त्र की पुस्तिकामात्र रह गए हैं और उनका प्रेम भी कुछ अजीब उन्मुक्त और मर्यादाहीन होता चला गया है। सामाजिक और साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में इन रोगों की चिकित्सा की आवश्यकता थी। उक्त उन्मुक्त प्रवृत्ति को मर्यादा में बांधने का प्रयत्न मानव आरम्भ से ही करता आ रहा है। परिणामस्वरूप नाना विवाह—पद्धतियाँ निर्मित हुईं, काम को सब तरफ बिखरने से रोका गया, उसकी एक निश्चित सीमा और दिशा निर्धारित की गई और उसके उन्नयन के लिए न जाने कितने कलात्मक प्रयत्न किए

गए। उन्होंने मानव जीवन में ज्योतिस्तम्भ का काम किया, जिसके प्रकाश में मानव ठोकर लगने पर भी ऊर्ध्वसंचरण करता रहा। रस-प्रक्रिया भी इसी प्रकार का एक कलात्मक प्रयत्न है।

इस प्रक्रिया के प्रचारक देहधारी होने के नाते देहधर्म से बंधे हुए थे और उसके आकर्षण को भलीभांति पहचानते थे। भूखप्यास उन्हें भी लगती थी, काम उन्हें भी सताता था, पर उनको कला में स्थान देना ये उचित नहीं समझते थे। यही कारण है कि नाट्यकारों ने भोजन एवं भोग–प्रधान शृंगारी चेष्टाओं को खुल्लमखुल्ला प्रदर्शित करना वर्जित कर दिया था। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे वैराग्य-वृत्ति की आवश्यकता समझते थे। मनुष्य में यथेष्ट संस्कारिता होनी चाहिए, यह उनका विश्वास अवश्य था। इसीलिए भरत ने शृंगार को मेध्य और शुचि बताया, देहधर्म और मनोधर्म दोनों को समन्वित करके शृंगार में शुभ मिथुन की कल्पना की और केवल शारीरिक स्तर पर कर्मोन्मेष को अनुपादेय ठहराया। यही कारण है कि शृंगार का देवता विष्णु माना गया है और वह (शृंगार) प्रिय और हृद्य होने के साथ-साथ श्रेष्ठ भी समझा जाता है।

परन्तु शृंगार रस के मूल में काम प्रतिष्ठित है ही और जैसा पहले कहा जा चुका है कि उसका आकर्षण रोक पाना सामान्यतः मानव के वश की बात नहीं है। वह उसके प्रवाह में पड़कर आपाद–मस्तक डूबने में आनन्द का अनुभव करता है तथा शृंगार रस में काम-वृत्ति कितने अनुपात में और किस रूप मे होनी चाहिए कभी-कभी जानबूझ कर भुला देता है। भरत का युग बहुत पीछे छूट चुका था। युगानुरूप दृष्टि भी बदल चुकी थी। धर्म और अर्थ की अपेक्षा काम–वह भी अपने सीमित अर्थ में–साधीयान् समझा जाने लगा। पहले काम धर्म और अर्थ से अनुशासित होकर चलता था। अब उक्त दोनों पुरुषार्थों ने काम का दासत्व स्वीकार कर लिया। कामशास्त्र का अध्ययन लोकप्रिय हो गया। साहित्यशास्त्र और उसके सिद्धान्तो पर भी उसका प्रभाव पड़ता गया। आगे चलकर ध्वनिसिद्धान्त भी अप्रत्यक्ष रूप से इस प्रवृत्ति में कुछ सहायक हुआ। वह इस तरह कि कवियों को अपनी शृंगार सम्बन्धी रचनाओं मे प्रतीयमान वस्तु को ध्वनित करने की जितनी चिन्ता रहती थी, उतनी क्या ध्वनित हो रहा है और उसका लोकजीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसकी नहीं। पार्थिव प्रसंग के प्रेमको जाने दीजिए, अपार्थिव प्रेम के प्रसंग भी उक्त अतिशयता से कलुषित मिलेंगे। जयदेव का गीतगोविन्द उदाहरण के लिए प्रस्तुत है। जयदेव कहते तो यह हैं :—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो
यदि विलास–कलासु कुतूहलम्।
मधुर—कोमलकान्त—पदावलीम्,
शृणु तदा जयदेव–सरस्वतीम्।

किन्तु गीतगोविन्द में 'हरिस्मरणे सरसं मनः' की अपेक्षा 'विलासकलासु कुतूहलम्' का पक्ष ही स्थान-स्थान पर महत्त्व पा गया है। उत्प्रेक्षावल्लभ का 'भिक्षाटन' काव्य कवि के कामशास्त्र के सूक्ष्मज्ञान का अच्छा परिचायक है, जिसमें शिव भिक्षाटन के लिए संन्यासी के रूप मे निकलते हैं और इन्द्र की अप्सराएं उन्हें देखकर सरेआम विकृत कामचेष्टाएं प्रदर्शित करती हैं। किसी देवता को निशाना बनाकर ऐन्द्रियता का इससे बढ़कर विकृत रूप और क्या हो सकता है? हैरत होती है लक्ष्मणाचार्य की 'चंडी कुच पचाशिका' को देखकर जिसमें पचास पद्यों में चण्डी के कुचों के सौन्दर्य का अत्यन्त उद्दाम एवं विक्षोभक चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसीलिए मै कहता हूं कि यह युग ही दूसरा है, युगदृष्टि ही बदल गई है। कालिदास को तो उनके युग ने कोढ़ी बना दिया था, पर आज किसमें दम है जोकि इन कविपंगुवों की तरफ उंगली भी उठा सके। यह है उस युग की देवाश्रित प्रेमकविता जिसके अन्तर्गत प्राकृतप्रेम और अप्राकृतप्रेम में लोहे और सोने का-सा स्वरूप-भेद नहीं हो पाया था। यह स्वरूप-भेद आया है बहुत आगे चलकर जिसका श्रेय भक्त आचार्यों और कवियों को विशेष रूप से चैतन्य महाप्रभु और उनके अनुयायी वृन्दावन के गोस्वामिमण्डल को दिया जा सकता है जिनका प्रसंग अगले अध्याय में आएगा। उक्त तथ्यों को देखकर यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि शृंगाररस की परवर्ती परिभाषाओं में कामवृत्ति की सीमा के सम्बन्ध में जो कुछ और छूट मिल गई, उसके कारण ये सब हैं। परिभाषाओं का स्तर ही परिवर्तित हो गया। मन्मथोभेद ने कुछ और प्रमुखता पाली। परस्परानुरक्त स्त्री-पुरुषों की रत्युत्थचेष्टा, सुखानुबन्धी विकार, विषयाक्ता रति आदि पदावली विशेषणरूप से शृंगार के लिए आवश्यक समझी जाने लगी। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों में विषय की दृष्टि से विशेष परिवर्तन हो गया। संयोग में तो और भी दृष्टि संकुचित होगई, उसमें वासना का रंग गहरा हो गया। अनुभूत्यात्मक प्रेम के प्रसंगों का वर्णन न करके उनका वासनाप्रधान तथा भोगपर्यवसायी चित्र प्रस्तुत किया जाने लगा तथा उसमें परस्परावलोकन, आलिंगन, अधरपान, परिचुम्बन को ही विशेष महत्त्व मिलने लगा। वियोग में भी ऊपरी हायतोबा और ऊहात्मक परिपाटी का ही विशेष सहारा लिया गया। कहने का तात्पर्य यह है कि शृंगार अपने संयोग और वियोग दोनों पक्षों में जितना शारीरिक हो गया उतना मानसिक और बौद्धिक न रहा। इस युग के कुछ आचार्य—धनंजय, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति—ऐसे भी हैं जो पिछली टोन को, युगानुरूप जहाँ तक सुरक्षित रखना सम्भव है, रखने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु उनका यह प्रयास रस की सामान्य दृष्टि तक ही सीमित रहता है, रसके शृंगारादि भेदों में वह दृष्टि उतर नहीं पाती। वे नाट्यधर्मी, काव्यधर्मी होने की अपेक्षा लोकधर्मी अधिक लगते हैं। कुछ आचार्य—रुद्रभट्ट, भानुदत्त, अकबरशाह प्रभृति—ऐसे भी हैं जो उच्च चिन्तन की परवाह न करके स्थूलदृष्टि से ही चिन्तन करते हैं और स्थूल प्रकार से ही सब कुछ अभिव्यक्त करते हैं। मेरी दृष्टि में इनमें

अन्तर मात्रा का ही है, प्रकार का नहीं। यही कारण है कि उक्त सभी आचार्यों को मैंने एक वर्ग में समाविष्ट कर लिया है।

नीचे शृंगार शब्द की कुछ निरुक्तियाँ और परिभाषाएं प्रस्तुत हैं। निरुक्तियाँ इस बात का जीवित प्रमाण होती हैं कि निरुक्तिकर्ता ने किसी शब्द के सम्बन्ध में किस ढंग से चिन्तन किया है और उसके किस अंग को उसने विशेष महत्त्व दिया है। परिभाषाओं में उन्हीं निरुक्तियों की बोधगम्य व्याख्या रहती है और परिभाषाकार अपने चिन्तन के साथ अपने युग के कुछ अन्य उन चिन्तनों का समाहरण कर लेता है जो उसकी रुचि के अनुकूल होते हैं अथवा प्रतिकूल नहीं होते, पर अपने में लोकरुचि की छाया रखते हैं। इसीलिए परिभाषाएं सर्वांगपूर्ण नहीं होतीं। उनमें तो किसी दृष्टि-विशेष का प्रतिफलन होता है। अन्यथा एक परिभाषा की एक रेखा खिंच जाने के बाद दूसरी की आवश्यकता ही न हो। इन्हीं कुछ निम्न निरुक्तियों और परिभाषाओं के प्रकाश में मैं उक्त निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न करूंगा।

निरुक्तियां:

'शृंगं प्राधान्यम्[1] इयर्ति इति शृंगारः'। शृंग कर्म उपपद रहते ऋगतौ धातु से 'कर्मण्यण्' सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ फिर वृद्धि के अनन्तर शृंगार शब्द की निष्पत्ति हुई। शृंग अर्थात् कूट—[2]भावना के उच्च शिखर पर पहुंचाने वाला रस शृंगार कहलाता है। नाट्यशास्त्र में इसी शृंगार को गुर्वाचर सिद्ध, उज्ज्वलवेषात्मक, शुचि और मेध्य कहा गया है। अमरसिंह भी शृंगार की शुचिता और उज्ज्वलता से सहमत हैं।[3] शुभमिथुनवाले इस रस में जो स्त्रीपुंसहेतुक और उत्तमयुवप्रकृति है, शारीरिक क्रियाएं भी होती हैं, पर वे आत्मानुभूति की अनुगामिनी बनकर आती हैं, उस पर छा नहीं जाती। शृंगार के उक्त अर्थ के सम्बन्ध में शृंगारिक का भी अर्थ होता है कूटस्थ अथवा उच्च पदस्थ। इसी बात को यदि और सफाई से कहें तो शृंग का तात्पर्य होता है सभी मिथुनों का शुभभाव तथा जो रस उस भावस्थिति तक ले जाए, वह शृंगार है। इसीलिए यह शृंगार हृद्य और प्रिय है, जीवन का रोग बनकर नहीं, उसकी शुभशक्ति बनकर प्राणियों से सम्बद्ध हुआ है। आज भी अनेक भारतीय भाषाओं में शृंगारित करने का अर्थ सजाना और शोभावान् बनाना ही होता है। इसे हम प्राचीन मूल अर्थ का प्रातिनिधिक अवशेष मान सकते हैं। उक्त निरुक्ति और उसकी व्याख्या से यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि इस प्रकार का—

---

१. शृंगं प्राधान्य-सान्वोश्च— —अमरकोष नानार्थ वर्ग/२६

२. शृंगे प्रभुत्वे शिखरे चिह्ने क्रीडाम्बुयन्त्रके। विषाणोत्कर्षयोः·········
—मेदिनी कोष ३/२५,२६

३. शृंगार : शुचिरुज्ज्वलः— —अमरकोश नाट्यवर्ग १८

चिन्तन-प्रवाह किसी समय लोकप्रिय था। नामलिंगानुशासन की अमरकोशोद्घाटन नामक टीका में भट्ट क्षीरस्वामी 'शृंगम् उत्तमत्वम् इयर्तिशृंगारः' ऐसी निरुक्ति करते हैं। यहां क्षीरस्वामी उत्तमता-उच्चभूमि की प्राप्ति से उक्त व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की ओर ही संकेत करते हैं।[४]

उपर्युक्त व्युत्पत्ति से मिलती-जुलती व्युत्पत्ति भावप्रकाशन में प्राप्त होती है। भावों में जो उत्तम—श्रेष्ठ है, वही शृंग है तथा जिसके आश्रय से भावों की श्रेष्ठ स्थिति-शृंग तक पहुँचा जा सकता है, उसे शृंगार कहते हैं।[५] शारदातनय ने भावप्रकाशन के चतुर्थ अधिकार में ऐश्वर्य-सुख-सम्पन्न, अशेष गुणयुक्त, श्लाघ्य-प्रकृतिक, नवयौवन एवं रूपसम्पत्ति से परिपूर्ण जिन सराग स्त्री-पुरुषों क जिस 'परस्परस्वसंवेद्य सुखसंवेदनात्मिका', 'परस्परा ह्लादरहोविश्रम्भकारिणी', 'उभय-प्रार्थनात्मिका', 'स्पृहाह्वया' तथा सुखात्मिका मनोवृत्ति–रति का वर्णन किया है तथा उसके प्रेम से अंकुरित होने, मान से पल्लवित होने, प्रणय से सकारक होने, स्नेह से कुसुमित होने, राग से फलवती होने और अनुराग से भोगयोग्य होने' की जो बात कही है,[६] उसमें वस्तुतः रति के शृंगत्व का निदर्शन ही हुआ है। शृंगार के द्वारा भाव की इस उत्कृष्टतम कोटि तक पहुंचना सुकर है। शृंगार की उपर्युक्त अर्थतः की गई निरुक्ति से उसकी उत्कृष्टभावात्मक मूल-चेतना स्पष्ट हो जाती है। शृंगार की पहली निरुक्ति और इस निरुक्ति में मुझे इतना ही अन्तर प्रतीत होता है कि प्रथम इसकी अपेक्षा कुछ अधिक सूक्ष्म है। दूसरी निरुक्ति के सन्दर्भ से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां रति को कुछ और साकारता प्राप्त हुई है, पर सराग स्त्रीपुरुष के कई प्रशस्त एवं भावगर्भ विशेषण रतिभाव की सभी दृष्टियों से श्रेष्ठता अव्याहत रूप से बनाए रखते हैं।

एक अन्य निरुक्ति है– 'शृंगं कामोद्रेकम् ऋच्छति इति शृंगारः'। यहां कामोद्रेकवाची शृंग कर्म के उपपद रहते गत्यर्थक–प्राप्त्यर्थक ऋधातु से कर्मण्यण सूत्र से अण् प्रत्यय विहित होने पर शृंगारशब्द निष्पन्न हुआ है आचार्य विश्वनाथ अपने साहित्यदर्पण में इसी दृष्टि को शृंगार से सम्बद्ध करते हैं। वे कहते हैं कि शृंग का अभिप्राय है कामोद्रेक–मन्मथोद्भेद और इस प्रकार शृंगार का अभिप्राय हुआ जो कामोद्रेक से सम्भूत हो। यहा शृंग शब्द का मन्मथोद्भेद तो अभिप्राय है ही, पर इससे रति की उत्तरोत्तर विकासावस्था–भले ही वह अधिक अंश तक पार्थिव हो–की भी सूचना मिलती है। क्योंकि रति प्रेम, मान, प्रणय, स्नेह, राग, अनुगग आदि

४, अमरकोशोद्घाटन, पृ० ५१, नाट्यवर्ग श्लोक संख्या १८

५. भावानामुत्तमं यत्तु तच्छृंगं श्रेष्ठमुच्यते।
इयन्ति शृंगं यस्मात्तु तस्माच्छृंगार उच्यते॥
—भावप्रकाश, पृ० ४८

६. भावप्रकाशन, पृ० ७८

नाना रूपों में विकसित होती हुई अपनी पूर्णावस्था को प्राप्त होती है। रति की यही प्रौढावस्था की प्राप्ति शृंग है और उसका अभिव्यक्ति को प्राप्त हुआ सम्पूर्ण स्वरूप ही शृंगार है। इस निरुक्ति में दूसरी निरुक्ति की अपेक्षा शृंगार और उसके रतिभाव पर कुछ अधिक पार्थिव आवरण देखने को मिलता है।

इसी बात को कुछ आचार्यों ने कई ढंग में कहने का प्रयत्न किया है, पर सर्वत्र कामोद्रेक की मूल प्रवृत्ति बनी हुई है। महामहोपाध्याय कविराज मुरारिदान-विरचित यशवन्त यशोभूषण में शृंगार शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है– "शृंग: कामोद्रेकः। ऋधातोरारशब्दो निष्पन्नः। शृंगारस्य आरः अस्मिन् इति शृंगारम्-अन्तःकरणं-मनः। शृंगारम् अस्य अस्तीति कामोद्रेक-प्राप्तिमतोऽन्तःकरणस्य सम्बन्धी रसः शृंगारः।" तात्पर्य यह है कि नपुंसक लिंग शृंगार शब्द का अर्थ अन्तःकरण हुआ, उसमें शृंगार—कामोद्रेक की आर—प्राप्ति होती है। ऐसे कामोद्रेक प्राप्तिमान् अन्तःकरण का सम्बन्धी रस शृंगार होता है।[७]

आगे चलकर शृंगार के मन्मथोद्भेदमूलक अर्थ को ही अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। रति से लोग मनोऽनुकूल विषयों में मन के प्रवणायित होने की अपेक्षा स्मरकरम्बितान्तःकरण–स्त्रीपुरुषों की परस्पर रिरंसा को अधिक आवश्यक मानने लगे। शृंगार में सूक्ष्म मनोभावों और अनुभूतियों की अपेक्षा स्थूल चेष्टाओं को अधिक महत्त्व मिलने लगा। इसे लोकप्रिय होते देर न लगी, क्योंकि पशुचेतना भी इस शृंगार के प्रसंगों को सुनकर हृदय-संवाद की अधिकारिणी होगई और पद-पद पर वाह-वाह कह उठी।

आचार्य अभिनवगुप्त 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इस पाणिनि-सूत्र के अन्तर्गत आए हुए 'शृंगवृन्दाभ्यामारकन्' इस वार्तिक से आरकन् प्रत्यय से निष्पन्न 'प्रशस्तं शृंगमस्यास्तीति शृंगारः' इस व्युत्पत्ति को बताने वाले आचार्यों का खण्डन करते हैं और "शृंगारभृंगारौ" इस उणादि सूत्र से इस शब्द को निपातित मानते हैं। उनकी खण्डन की दृष्टि तो समझ में आती है, क्योंकि उक्त प्रत्यय से शृंगारक बनेगा, शृंगार नहीं, परन्तु 'प्रशस्तं शृंगमस्यास्तीति' व्युत्पत्ति से शृंगार के सम्बन्ध में प्रचलित लोक-रुचि का अवश्य पता चल जाता है।

उणादि प्रक्रिया देखने से शृंगार की व्युत्पत्ति में दो दृष्टियां दीख पड़ीं। एक दृष्टि है नारायण (सोलहवीं शती का उत्तरार्ध) की जो उनकी उक्त सूत्र की प्रक्रियासर्वस्व टीका में व्यक्त हुई है। उसके आधार पर शृंगार की व्युत्पत्ति होती है–'शृंगति–(शृंगमिवाचरति) व्याप्नोति सामाजिक–हृदयमिति शृंगारः।' यह

७. यशवंतभूषण–द्वितीयावृत्ति पृ० १६६

उसका व्याप्तिमूलक अर्थ है। वर्णनीय-तन्मयीभवन की योग्यता रखने वाला सामाजिक इस व्याप्ति का अधिकारी होता है। इस व्युत्पत्ति को यदि कोई चाहे तो कामोद्रेक के पक्ष में भी खींच ले जा सकता है, पर मर्यादित रूप में किया गया कथन शृंगार की पावनभूमि की ओर इंगित अवश्य कर देता है।

दूसरी दृष्टि जो उक्त सूत्र के साथ उसकी वृत्ति में आबद्ध है, एक नई बात लेकर सामने आती है। वृत्ति है–'शृभृञ्भ्यामारन्नुम्, गुक् ह्रस्वश्च'। शृ हिंसायाम् क्रयादिगणी धातु से आरन् प्रत्यय करने पर उसमें नुम् और गुक् के आगम से शृंगार शब्द निष्पन्न होता है। इस आधार पर शब्द की व्युत्पत्ति होती है–'शृणाति स्तभ्नाति हृदयमिति शृंगारः'। इससे तात्पर्य यह निकला कि वह रस जो हृदय पर छा जाए, उसे दबा दे, अभिभूत करदे, शृंगार है। इस व्युत्पत्ति से लभ्य अर्थ शृंगार में काम की उदात्त रूप में प्रतिष्ठा स्वीकार न करके लौकिक एवं स्थूल रूप में उसकी प्रतिष्ठा को मान्यता देता है। इसी के फलस्वरूप काम के समस्त अधिष्ठान—इन्द्रिय, मन, बुद्धि एक विशेष प्रकार की कुण्ठा का अनुभव करते देखे जाते हैं। बाद के दिनों में शृंगार का कुछ इसी प्रकार का रूप लक्षणों एवं उनके उदाहरणों में दृष्टिगत होता है।

उक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शृंगार पद की उक्त नाना निरुक्तियाँ उसके सम्बन्ध में प्रचलित लोक-चेतनाओं की ओर इंगित करती हैं। आरम्भ में दृष्टि बहुत कुछ सूक्ष्म, मर्यादित, रसके उपयुक्त मानसिक भावभूमि को लिए हुए थी। धीरे-धीरे दृष्टि में परिवर्तन होता गया। कहीं वह परिवर्तन मर्यादा में बंधकर आया और कहीं अमर्यादित होकर। बाद में यह बहुत कुछ लक्षणकार की प्रकृति और उसकी मनोभूमि पर निर्भर रहा। कालक्रम से इसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं।

लक्षण-ग्रन्थों में शृंगार की जो परिभाषाएं मिलती हैं, उनसे भी उक्त निष्कर्ष पर पहुंचने में पूरी सहायता मिलती है। भरत, अभिनवगुप्त, भोज और अग्निपुराण के शृंगार-सम्बन्धी दृष्टिकोण का विवेचन उनकी परिभाषाओं के प्रकाश में पहले ही किया जा चुका है। अब शृंगार की कुछ अन्य प्रमुख परिभाषाओं का अध्ययन आवश्यक है जिससे शृंगार के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों की दृष्टि और उसके मूल में स्थित चेतना पर प्रकाश पड़ सके तथा परिभाषाओं में प्राप्त भिन्न दृष्टि समझ में आ सके। कुछ परिभाषाओं में शृंगार का कामोद्रेक-पक्ष प्रधान दीखता है, अन्य पक्षों का या तो चलताऊ हवाला दे दिया गया है, या उन्हें छोड़ दिया गया है। कुछ आचार्यों ने तो शृंगार की परिभाषा देना भी आवश्यक नहीं समझा–'अथ शृंगारः। स द्विविधः' कहकर प्रसंग को शीघ्रता से आगे बढ़ा दिया है। नीचे शृंगार की कुछ प्रतिनिधि परिभाषाएं उद्धृत की जा रही हैं जिनकी तुलनात्मक मीमांसा भी साथ-साथ प्रस्तुत है।

आनन्दवर्धन शृंगार को मधुर और सर्वाधिक प्रह्लादन मानते है।[८] इसीलिए इसमें हृदयसंवाद की सर्वाधिक क्षमता पाई जाती है। रसान्तर की अपेक्षा प्रह्लाद हेतु होने के कारण उसमें माधुर्य अधिक मिलता है। उन्होंने सम्भोग-शृंगार की अपेक्षा विप्रलम्भ को मधुरतर और विप्रलम्भ की अपेक्षा करुण को मधुरतम माना है, क्योंकि इनमे सहृदय का मन अपने स्वाभाविक काठिन्य का परित्याग करके उत्तरोत्तर आर्द्रता-चित्तद्रुति को प्राप्त होता जाता है। शृंगार रसराज है। ध्वनि के सर्वोत्तम प्रकार रसध्वनि में वह सर्वश्रेष्ठ ठहरता है, अतः ध्वन्यालोककार उसे ध्वन्यात्मा कहते हैं।

यद्यपि आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि के संदर्भ में ही श्रृंगार और उसके अनन्त भेदों की ओर सकेत किया है, फिर भी श्रृंगार के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि कुछ स्पष्ट हो जाती है। महाकवियों की वाणी में प्रतीयमान वस्तु के पक्षपाती ध्वनिकार ने रसानन्द को ऐन्द्रिय आनन्द के प्रति उदासीन बताकर बुद्धि और कल्पना के आनन्द के प्रति सचेष्ट कर दिया। इस सम्बन्ध में ध्वनिकार की यह बहुत बड़ी देन है। इसके परिणामस्वरूप लोगों की दृष्टि में जीवन के प्रत्यक्ष रस और काव्य के भावित रस के बीच का अन्तर स्पष्ट हो गया। श्रृंगार की समस्त भावविभूति और उसके अनुभूति-वैभव में एक आकर्षक गुरुत्व की प्रतिष्ठा होगई। विस्तार से विवेचित एवं अपनी अविकल साजसज्जा के साथ प्रस्तुत न होने पर भी श्रृंगार बहुत कुछ अपने मूल रूप में उपस्थित दीखता है।

जहाँ तक संयोग श्रृंगार की अपेक्षा विप्रलम्भ के मधुरतर और विप्रलम्भ की अपेक्षा करुण के मधुरतम होने का प्रश्न है, उससे श्रृंगार का गौरव अप्रत्यक्ष रूप से उद्घोषित होता है। उससे केवल दो निष्कर्ष निकलते हैं। पहला यह कि मानव हृदय को सुख की अपेक्षा दुःख अधिक तलस्पर्शी और द्रवणशील अनुभूति प्रदान करता है तथा अधिक गम्भीर एवं स्थायी आत्मिक एकता उत्पन्न करने की उसमें क्षमता होती है। दूसरी बात यह है कि यदि मूल में राग या रति न हो तो करुण रस अपना अस्तित्व ही खो बैठता है। करुण के स्थायीभाव शोक की सम्भावना तभी होती है,जब उसमें किसी न किसी रूप में राग या रति निहित हो। अनुभावों और संचारियों की दृष्टि से विप्रलम्भ श्रृंगार करुण के अधिक निकट पड़ता है, इसीलिए आचार्यों ने दोनों का मौलिक अन्तर स्पष्ट करने की ओर विशेष ध्यान दिया है। आचार्य भरत स्वयं करुण को निरपेक्ष और विप्रलम्भ को सापेक्ष बताकर दोनों का

---

८. शृंगार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥

—ध्वन्यालोक-२/७

भेद स्पष्ट करते हैं और बाद में शृंगार को सर्वभाव-संयुक्त बताकर उसे अधिक व्यापक भावभूमि पर प्रतिष्ठित कर देते हैं।[९]

आचार्य रुद्रट परस्परानुरक्त स्त्रीपुरुषों की कामानुविद्धा रति को लेकर प्रचलित व्यवहार को शृंगार मानते हैं।[१०] वह शृंगार को सभी रसों की अपेक्षा प्रधान बताते हैं, क्योंकि उसकी-सी रस्यता अन्य रसों में नहीं मिलती और वह आबालवृद्ध समस्त जगत् में व्याप्त दीखता है। उसका प्रयत्नपूर्वक काव्य में समायोजन जरूरी है, क्योंकि उससे हीन काव्य विरस-विगतरस हो जाता है।[११]

इसी से मिलती-जुलती दृष्टि रुद्रभट्ट की है। वे कहते हैं कि धर्म से अर्थ, अर्थ से काम और काम से सुखफल का उदय होता है। यह कामात्सुखफलोदय ही साधीयान् है। इसकी सिद्धि शृंगार से सम्पन्न होती है। शृंगार सब रसों का नायक है परस्पर अत्यन्त अनुरक्त स्त्रीपुरुषों की रत्युत्था-रति से उद्भूत चेष्टा शृंगार है।[१२] शिवराम त्रिपाठी भी स्त्रीपुरुषों की परस्पर रागवृद्धि को शृंगार मानते हैं।[१३]

धनंजय का कथन है कि परस्पर अनुरक्त युवक नायक-नायिका के हृदय में रम्यदेश, काल, कला, वेश, उपभोग आदि के सेवन के द्वारा आत्मा की जो प्रमुदित अवस्था जगती है, वह रति-स्थायीभाव है और यही रति जब नायक-नायिकाओं के

---

९. करुणश्च निरपेक्षभाव औत्सुक्य-चिन्ता-समुत्थः। सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणः अन्यश्च विप्रलम्भः।…………एवमेषसर्वभाव-संयुक्तः शृंगारो भवति।

—नाट्यशास्त्र ६/३५

१०. व्यवहारः पुन्नार्योरन्योन्यंरक्तयो रतिप्रकृतिः। शृंगारः………

—काव्यालंकार १२-५

११. अनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्यः
सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम्
तदिति विरचनीयः सम्यगेष प्रयत्नात्
भवति विरसमेवानेन हीनं हि काव्यम्॥

—काव्यालंकार-१४-३८

१२. धर्मादर्थोऽर्थतः कामः कामात्सुख-फलोदयः।
साधीयानेष तत्सिद्ध्यै शृंगारो नायको मतः॥
चेष्टाभवति पुन्नार्योर्यारत्युत्थातिरक्तयोः।
…………शृंगारो नायको मतः॥

—शृंगारतिलक परि १/२०,२१

१३. स्त्रीपुंसवोर्मिथोराग-वृद्धिः शृंगार उच्यते।

—रस रत्नहार श्लोकसंख्या ६

अंगों की मधुर चेष्टाओं द्वारा चर्वणा का विषय बनती है, शृंगार रस कहलाती है।[१४] उनकी दृष्टि से आठ सात्त्विक भाव, आठ स्थायीभाव और तेंतीस संचारी भावों का शृंगार के अंग के रूप में उपनिबन्धन हो सकता है। इस प्रकार का उपनिबन्धन शृंगार की पुष्टि करता है।[१५] इसके बाद धनंजय ने शृंगार के भेदोपभेद और उनकी विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन किया है। अन्त में सम्भोग शृंगार का वर्णन करते हुए शृंगार के उपासक के लिए वह यह प्रवचन देते हैं कि नायक को नायिका के साथ कलाक्रीड़ा आदि साधनों से रमण करना चाहिए। रमण करते समय नायक को नायिका की चाटुकारी करते रहना चाहिए तथा कोई ऐसा व्यवहार न करना चाहिए जिससे शृंगार में ग्राम्यता आने की सम्भावना हो। ये निषेध रंगमंच और काव्य दोनों के लिए लागू होते हैं।[१६]

धनंजय ने उपर्युक्त वातावरण के साथ रति और शृंगार का जो लक्षण प्रस्तुत किया है उसका धरातल पार्थिव अधिक लगता है। रम्यदेश, कला, काल, भोगादि के सेवन द्वारा जो उन्होंने प्रमोदात्मा रति की बात कही है उसका स्तर अपेक्षाकृत लौकिक है। धनंजय ने इस प्रसंग में शृंगारी के लिए जो हिदायतें छोड़ी हैं, वे भी उक्त निष्कर्ष में सहायक हैं। चाटुकारिता की बात तो अखरती भी है। जो है नहीं, उसे भी दुहराते जाना, किसी को अनुकूल बनाने के लिए मिथ्या-प्रशंसा में रत रहना, नर्म के स्वर को गिरने न देना आदि के प्रसंग में आत्मा की प्रमोदावस्था की बात जँचती नहीं। यहां आत्मधर्म के साथ शरीरेन्द्रियधर्म ने साझा कर लिया है—लगता है कि सारा शृंगार-प्रसंग वात्स्यायन के शरीर और मन से स्वस्थ, उत्तम प्रकार के नागरकों को ध्यान में रखकर लिखा गया है।

पूर्व-विवेचित शृंगार की निरुक्ति के अतिरिक्त शारदातनय ने भावप्रकाशन में शृंगार के सम्बन्ध में कुछ और भी लिखा है। वे द्वितीय अधिकार में इस प्रकार आरम्भ करते हैं। आत्मा की तीन शक्तियां हैं—ज्ञानप्रभा, आनन्दप्रभा और

---

१४. रम्यदेश-कला-काल-वेषभोगादिसेवनैः ।।
प्रमोदामा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः ।
प्रहृष्यमाणा शृंगारो मधुरांग-विचेष्टितैः ।।

—दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, ४७,४८

१५. ये सत्त्वजाः स्थायिन एव चाष्टौ
त्रिंशत्त्रयो ये व्यभिचारिणश्च ।
एकोनपंचाशदमी हि भावा
युक्त्या निबद्धाः परिपोष्यन्ति ।।

—दशरूपक, चतुर्थप्रकाश, ४९

१६. रमयेत् चाटुकृतः कान्तः कलाक्रीडादिभिश्च ताम् ।
न ग्राम्यमाचरेत् किंचित् नर्मभ्रंशकरं न च ।।

—वही, चतुर्थप्रकाश, ७१

क्रियाप्रभा। इनमें प्रथम दो स्वानुभूति-गम्य होती हैं। क्रियाप्रभा ही जीव की प्राणशक्ति है। प्रथम दो का सत्त्व से सम्बन्ध है और अन्तिम का रजस् से। प्रकृति के इन तीनों गुणों के मेल से महदादि सृष्टिचक्र प्रवर्तित होता है। जीव अपनी प्रकृति के अनुसार विश्व के बाह्यार्थों में व्याप्त उक्त तीनों शक्तियों का आनन्द लेता हैं।[१७] शृंगार के लिए ललित विभाव अपेक्षित होते है। उन्हीं में सुखानुबन्धी मानस विकार उदित होता है जिसमें सत्त्व और रजस् दोनों का संस्पर्श होता है। यही सुखानुबन्धी विकार शृंगार है और इसी का रसन होता है।[१८] इस शृंगार के लिए केवल सत्त्व ही नही, रजस् भी आवश्यक है, अन्यथा विषयाक्ता रति की समर्थ अभिव्यक्ति सम्भव न हो सकेगी। इस शृंगार के उन्होंने तीन भेद भी प्रस्तुत किए हैं। वे हैं वाचिक, नैपथ्यात्मा तथा क्रियात्मा।[१९] भावगर्भ, रहोविश्रम्भसाक्षी, मधुर, नर्म-पेशल, श्रवणानन्दी वाक्प्रसग वाचिक शृंगार हैं। आंगिकशृंगार में वस्त्र, अंगराग, आभूषण, माल्यादि से प्रसाधित और युवावस्था से दीप्त अग वर्णन के विषय होते हैं। क्रियात्मक शृंगार में दन्तच्छेद्य, नखच्छेद्य, सीत्कार, चुम्बन, चूषण, हेलादिभाव, रतिकेलि, शयनादि उपचार, संगीतक्रिया आदि पर ध्यान रखा जाता है।[२०] शृंगार में मुखप्रसाद, दृष्टिप्रसाद और चित्तप्रसाद तीनों अपेक्षित होते हैं तथा श्याम, रक्त और प्रसन्न मुखरागों में प्रसन्न मुखराग उसके रूप को और स्पष्ट कर देता है।[२१] परिभाषा का आरम्भिक रूप कुछ भोज जैसा है। केवल सत्त्व के उद्रेक की बात न कहकर रजोधर्मी मन को भी संयुक्त करके व्यावहारिक दृष्टि को अपनाने का प्रयत्न अवश्य किया है। इस तरह रस के विषयालम्बन और आश्रयालम्बन दोनों की दृष्टि से शृंगार का विवेचन किया गया है। विषयालम्बन के लिए रजस् की अधिक अपेक्षा है तो आश्रयालम्बन के लिए सत्त्व की। पूरा विवेचन नाट्य की दृष्टि से हुआ है। आगे चलकर किये गये शृंगार के भेदोपभेद अभिनय के लिए बड़े महत्त्व के हैं।

कुछ आचार्यों ने शृंगार की परिभाषा प्रस्तुत करने की आवश्यकता ही न समझी। उसके भेदों, उनमें पाई जाने वाली क्रियाओं एवं दशाओं पर प्रकाश डालकर

---

१७. भावप्रकाशन–द्वितीय अधिकार, पृ० ४१,४२,४३

१८. विभावा ललिताः सत्त्वानुभावव्यभिचारिभिः ॥
यदा स्थायिनि वर्तन्ते स्वीयाभिनयसंश्रयाः ।
तदा मन. प्रेक्षकाणां रजस्सत्त्वव्यपाश्रयि ।
सुखानुबन्धी तत्रत्यो विकारो यः प्रवर्तते ।
सः शृंगार–रसाभिख्यां लभते रस्यते च तैः ॥

—भावप्रकाशन २/पृ० ४३

१९. भावप्रकाशन ३/पृ० ६४

२०. वही ३/पृ० ६४, ६५

२१. वही ३/पु० ७४,७५

उसका वर्णन भर कर दिया है। रस के सम्बन्ध में किए गए विवेचन ही विशेष रसों में उतर कर जैसे-तैसे उनका प्राण-विधान कर देते हैं। प्राणि-जगत् के जीवन की जो सबसे बड़ी व्यापक और प्रिय भूख हो, जब तक उस सम्बन्ध में कोई नई बात न कही जाय, उसकी परिभाषा देने में क्या सार है? मम्मट इस सम्बन्ध में इस प्रकार कहते हैं—शृंगार के दो भेद होते है- सम्भोग और विप्रलम्भ। उनमें पहला परस्पर अवलोकन, आलिंगन, अधरपान, चुम्बन आदि भेदों से अनन्तप्रकार का हो जाता है, पर अपरिच्छेद्य होने के कारण एक ही गिना जाता है। विप्रलम्भ शृंगार अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास, शापहेतुक होने के कारण पाँच प्रकार का होता है।[२२]

आचार्य वाग्भट स्त्रीपुरुषों की परस्पर रमण में प्रवृत्ति को शृंगार रस मानते हैं।[२३]

शिंगभूपाल विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और सचारियों द्वारा सामाजिकों के हृदयों में रस्यमाननता को प्राप्त रति को शृंगार कहते है।[२४] शृंगार के भेदोपभेदों में इन्होंने नवीनता जरूर दिखाई, पर शृंगार की मूल दृष्टि में कोई अन्तर नहीं मिलता।

भानुदत्त की रसतरंगिणी और रसमंजरी ये दोनो ग्रन्थ रस-व्याख्यापरक हैं। भानुदत्त युवती और युवकों के परस्पर परिपूर्ण प्रमोद—आनन्द को अथवा सम्यक् रूप से पूर्णता को प्राप्त करते हुए रतिभाव को शृंगार कहते हैं।[२५] रतिभाव की पूर्णता का तात्पर्य यह है कि विभावानुभावसंचारियों के उचित विनिवेश से रति-संवित् के ऊपर पड़े आवरण का भग्न हो जाना तथा रतिभाव का रस रूप में अभिव्यक्त हो उठना। अन्यत्र वह कहते हैं कि शृंगार वह है जिसका स्थायीभाव रति है,[२६] अर्थात् आनन्द रूप से प्रकाशमान रत्यवच्छिन्न चैतन्य शृंगार है।

---

२२. तत्र शृंगारस्य द्वौ भेदौ, सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्राद्य. परस्परावलोकनालिंगनाधरपानपरिचुम्बनाद्यनन्तभेदत्वादपरिच्छेद्य इत्येक एव गण्यते। अपरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पंचविधः।

—काव्यप्रकाश ४/२९

२३. जायापत्योर्मिथो रत्यां वृत्तिः शृंगार उच्यते।

—वाग्भटालंकार ५/४

२४. विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमाना स्वाद्यत्वं रतिः शृंगार उच्यते॥

—रसार्णवसुधाकर १७८

२५. यूनोः परस्पर परिपूर्ण. प्रमोदः सम्यक्सम्पूर्णरतिभावो वा शृंगार.।

—रसतरंगिणी, तरंग ६, पृ० १२८

२६. रतिस्थायीभावः शृगारः।

—रसमंजरी (ग्रंथरत्नमाला) पृ० १२१

आनन्दरूपतया प्रकाशमान रत्यवच्छिन्नं चैतन्यं शृगारः।

—वही (व्यंग्यार्थकौमुदी) पृ० १२१

आचार्य विश्वनाथ शृंगार का स्वरूपनिरूपण इस प्रकार करते हैं । शृंग का अभिप्राय है मन्मथोद्भेद । इस आधार पर शृंगार का अर्थ हुआ—अनुभूति का विषय बना वह रस जो कामोद्भेद से सम्भूत हुआ हो । इस रस के आलम्बन उत्तमप्रकृति के प्रेमीजन हुआ करते हैं । परकीया, अनुरागशून्य वेश्या नायिका को छोड़कर अन्य प्रकार की नायिकाएं तथा दक्षिण आदि नायक ही इसके उपयुक्त आलम्बन विभाव हैं । इसके उद्दीपन विभाव हैं चन्द्र, चन्द्रिका, चन्दनानुलेपन, भ्रमरगुंजार आदि-आदि । इसके अनुभाव प्रेमपगे भृकुटि-भंग, कटाक्ष आदि होते हैं । उग्रता, आलस्य, मरण और जुगुप्सा को छोड़कर सभी संचारी इसका परिपोषण करते हैं । रति इसका स्थायीभाव है । इसका वर्ण श्याम है । इसके देवता विष्णु हैं ।[२७]

इस लक्षण में शृंग शब्द एकतरफ मन्मथोद्भेद का अर्थ देता है तो दूसरी तरफ रति के उत्तरोत्तर विकास का भी निर्देश करता है । इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रेम, मान, प्रणय, स्नेह, राग, अनुराग रूप में उत्तरोत्तर विकसित होती हुई रति जब अभिव्यक्त होकर चर्वणा का विषय बनती है, तभी शृंगार रस होता है । शृंगार का यह लक्षण इस अन्तिम धारा का प्रतिनिधि लक्षण कहा जा सकता है । 'उत्तमप्रकृतिप्रायः' में प्रयुक्त प्रायः शब्द यह सूचित करता है कि मर्यादा के पिछले बन्धन कुछ शिथिल हो गए हैं । भाव और रस की जो उदात्तधारा भरत के समय में प्रवाहित हुई थी, वह आगे चलकर बिखर गई । धार्मिक-भावना और आनन्द-भावना में अन्तर पड़ गया । केवल सौन्दर्य के आस्वादन के लिए रस एवं उनके उपकरणों की छान-बीन की जाने लगी तथा सुन्दरियों एवं उनकी विलास-भंगिमाओं का ललित कला के रूप में सृजन होने लगा । नायकनायिका-भेदविषयक नाना ग्रंथ, उनके लीलाविलास, उनकी पशु-पक्षियों के साथ क्रीडा, प्रेमपत्र तथा जीवन के आनन्दपूर्ण अवसरों के चित्र, न केवल काव्य-नाटकों में अपितु समस्त ललित कलाओं में प्रस्तुत किए जाने लगे । भुवनेश्वर, खजुराहो आदि की कलाकृतियां इसी ललित कला के नमूने हैं । इस युग में आकर शृंगारतत्त्व अपनी पूर्वदीप्ति खो बैठा । कामतत्त्व के साथ उसकी एकात्मता स्थापित हो गई । इसी प्रवृत्ति के कारण कुछ

---

२७. शृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः ।
उत्तम-प्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते ॥
परोढां वर्जयित्वा तु वेश्यां चाननुरागिणीम् ।
आलम्बनं नायिकास्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः ॥
चन्द्र-चन्दन-रोलम्बरुताद्युद्दीपनं मतम् ।
भ्रूविक्षेप-कटाक्षादिरनुभावः प्रकीर्तितः ॥
त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्य-जुगुप्साव्यभिचारिणः ।
स्थायिभावोरतिः श्यामवर्णोऽयं विष्णुदैवतः ॥

—साहित्यदर्पण ३/१८३–१८६

ऐसे साहित्य, चित्र और मूर्तियों का निर्माण हुआ जिसमें शृंगार रस के स्थान पर कुरुचि और वासना की गन्ध अधिक मिलती है।

यद्यपि विश्वनाथ ने अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिकांश उत्तम-प्रकृति से युक्त बताकर शृंगार को कोरी विलासगर्भित कामुकता से बचा लिया है, पर इसमें सन्देह नहीं कि वह अपनी पिछली भावभूमि से कुछ उतर ज़रूर गया है। काम मूल में प्रतिष्ठित तो पहले भी था, उसी की भावभूमि पर शृंगार का समग्र प्रासाद खड़ा था जिसके भीतर उसकी सूक्ष्म, हृद्य एवं उदात्त अन्तर्धारा प्रवाहित हो रही थी, पर इन आचार्यों की रचनाओं में वह धारा सूक्ष्म से स्थूल होती गई। भले ही उस युग के विलासी नागरक की दृष्टि से वह हृद्य रही हो, पर उसकी पिछली उज्ज्वल हृद्यता समाप्त हो गई थी। उदात्त तो उसे किसी रूप में नहीं कह सकते। विश्वनाथ ने शृंगार को उठाने का थोड़ा-बहुत प्रयत्न अवश्य किया है। रति के सम्बन्ध में उनकी व्यापक दृष्टि और एक विशेष पृष्ठभूमि के साथ शृंगार की उपस्थापन-प्रणाली इन दोनों को साक्ष्य रूप में उपस्थित किया जा सकता है। अन्य आचार्य जब रति को शृंगार रस के सन्दर्भ में स्त्रीपुरुषों की एक दूसरे के प्रति नैसर्गिकी आसक्ति के रूप में या स्मरकरम्बितान्तःकरण स्त्रीपुरुषों की रिरंसा के रूप में मानकर चले है तो विश्वनाथ प्रिय वस्तु में मन के उन्मुख होने को रति मानते है।[२८] इस मनोऽनुकूल अर्थ की सीमा निश्चित रूप से व्यापक भावभूमि पर प्रतिष्ठित है। यहां स्त्रीपुरुष की एक दूसरे के प्रति मानसिक अनुकूलता का भाव अवश्य है, पर दैहिक संसर्ग की संकुचित सीमा के दर्शन यहां नहीं होते। यह रति मनुष्य जीवन के सम्पूर्ण श्रेय और प्रेय की नियामिका प्रवृत्ति-सी दीखती है। इसे देखकर याद आने लगती है भरत के रतिभाव की जिसे वह आमोदात्मक भाव कहते है, इष्टार्थ–विषय की प्राप्ति से उत्पन्न बताते हैं तथा सौम्यता से जिसके अभिनय की बात करते हैं। रति का यह व्यापक अर्थ विश्वनाथ के अतिरिक्त अन्य कई आचार्यों ने भी लिया है, पर इस विषय में विस्तार से विवेचन अन्यत्र मिलेगा।

पंडितराज जगन्नाथ शृंगार के सम्बन्ध में कोई नई बात नहीं बताते। उनकी भामहादि आचार्यों की-सी स्थिति है। रस के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त को वेदान्त का आधार देकर और उसकी अभिव्यक्ति में चिदावरणभंग की प्रक्रिया को स्वीकार करके एक नवीन दृष्टि अवश्य प्रस्तुत की है, पर उससे शृंगार रस के तत्त्वों पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। वे शृंगार का लक्षण नहीं देते। वे प्रसंग को इस प्रकार आरम्भ करते हैं—शृंगार रस के दो भेद हैं-एक संयोग, दूसरा

---

२८. रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।

—साहित्यदर्पण ३/१७६

विप्रलम्भ।[२८] इसके बाद वह संयोग-वियोग की मीमांसा विस्तार से करते हैं, फिर उनके भेदोपभेद देकर प्रसंग को समाप्त कर देते हैं।

डा० राघवन ने अपने 'नंबर आफ रसाज़' में रस-प्रसंग की चर्चा करते हुए हरिपाल देव द्वारा स्वीकृत शृंगार, सम्भोग, विप्रलम्भ इन रसों की चर्चा की है। हरिपालदेव का संगीत सुधाकर तो मुझे देखने को नहीं मिला, पर डा० राघवन द्वारा उद्धृत अंशों के अध्ययन से जो निष्कर्ष निकलता है, वह इस प्रकार है :—

(1) शृंगार वस्तुतः उज्ज्वल है, शुचि है, परिष्कृत रुचि वाले विदग्धजनों की सम्पत्ति है। तात्पर्य यह है कि वह उत्तमयुवप्रकृति है। यह शृंगार अनित्य है और कुछ परिष्कृत लोगों में पाया जाने के कारण क्वाचित्क है। इसका स्थायीभाव आह्लाद है।

(2) सम्भोग शृंगार से भिन्न रस है। पशु और अपरिष्कृत रुचि के नरों में यह रस पाया जाता है जो उनके मिथुनों के लिए उदभूत होता है। समस्त प्राणिवर्ग में पाया जाने के कारण शृंगार की अपेक्षा इसे नित्य कह सकते हैं। इसका स्थायी भाव रति है।

(3) विप्रलम्भ उक्त दोनों रसों से भिन्न ठहरता है। उक्त दोनों रस सुखमूलक हैं, पर इसके मूल में दुःख है। शृंगार जब शुचि और उज्ज्वल है तो यह मलिन है। शृंगार और सम्भोग की स्थिति जब सुलभ नहीं होती, अनुराग की प्रगाढता बनी रहती है पर परस्पर मिलन नही हो पाता, तब विप्रलम्भ का उदय होता है। अतः शृंगार और सम्भोग इसके जनक हैं और विप्रलम्भ जन्य है। तब भी ये दोनों भिन्न हैं जैसे वीर से भयानक, यद्यपि भयानक वीर रस से उद्भूत होता है। इसका स्थायीभाव अरति है।

शृंगार के उक्त विवेचन को देखकर यह लगता है कि लेखक उसे लौकिक धरातल से ऊपर उठाने का प्रयत्न कर रहा है। विवेचन संक्षिप्त है, पर उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत की रूपरेखा विवेचक की आँखों के सामने अवश्य थी। सम्भोग रस आचार्यों का रसाभास ही लगता है। 'सर्वजन्तुषु दृश्यत्वात्' कहकर समस्त प्राणियों के मूल में गहरे घुसी इस भावना की ओर संकेत किया गया है। इसमें भोगपक्ष प्रधान है। हरिपाल की दृष्टि से यह रस उतना मानसिक और बौद्धिक नहीं है जितना कि शारीरिक। विप्रलम्भ के सम्बन्ध में उनकी स्थिति निराली है। विप्रलम्भ यद्यपि शृंगार और संभोग दोनों से जन्य है, पर वह एक ही प्रकार

---

२८. तत्र शृंगारो द्विविधः, संयोगोविप्रलम्भश्च।

—रसगंगाधर, प्रथमानन,

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला ११, पृ० १३८

का है। यद्यपि शृंगार की उच्चता शृंगार-जन्य विप्रलम्भ में और सम्भोग की निम्नस्थिति सम्भोग–जन्य विप्रलम्भ में अवश्य उतरनी चाहिए और इस तरह उसके भी दो भेद किए जाने चाहिएं। प्राचीन आचार्यों ने भी विप्रलम्भ में दुःख की स्थिति को माना है, पर उसे इतना महत्त्व नहीं दिया कि वह विप्रलम्भ के साथ स्थायी रूप से सम्बद्ध हो जाए। अरति तो विप्रलम्भ की उन अवस्थाओं में एक अवस्था है। रति ही उसका वास्तविक स्थायी तत्त्व है जो प्रत्येक स्थिति में न्यूनाधिक रूप में बना रहता है। रतिधारा अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित होती रहती है। यदि इस रति को विप्रलम्भ से हटा दिया जाए तो फिर विप्रलम्भ और करुण में अन्तर ही क्या रह जाता है? हरिपालदेव ने सम्भोग को सामान्य जनों, आदिवासियों और पशुपक्षियों की सम्पत्ति बता कर शृंगार को ऊंचा उठाने का प्रयत्न ज़रूर किया, पर उनकी आवाज़ (चौदहवीं शती का पूर्वार्ध) जनरुचि के सामने नगाड़खाने में तूती की आवाज़ की तरह विलीन हो गई। विवेचन के संक्षेप और उसमें प्रौढ़ि के अभाव के कारण चिन्तन को मौलिकता और वैज्ञानिकता की आधार-भूमि सुलभ न हो पाई।

सप्तम परिच्छेद

शृंगार—भक्ति के परिवेष में

रस का मूल आधार स्थायीभाव होता है इस सम्बन्ध में सभी आचार्य एक मत हैं। वही स्थायीभाव रसास्वाद की समस्त बाधाओं का निराकरण करके जब अपनी पूर्ण तीव्रता के साथ एक आनन्दमयी चेतना के रूप में सहृदय द्वारा रसित होता है, रस कहलाता है। उदाहरण के रूप में रतिभाव को लीजिए। वह एक स्थायीभाव है। वह रति नायक-विषयक हो या भगवद्-विषयक हो, उसमें किसी रति की मधुमती भूमिका—रस–दशा तक पहुंचकर हृदय-संवाद पाने वालों की संख्या अधिक हो या कम हो, उसमें जीवन के लौकिक तत्त्व अभिव्यक्त हुए हों या उसके आध्यात्मिक तत्त्व, वह मूलतः रति है, वह रसभूमि तक पहुंचती है तथा अधिकारि-भेद से उसका असाधारण आस्वाद होता है। भगवद्-विषयक रति का आश्रय सहृदय भक्त 'ममैवांशो जीवलोकः' के सिद्धान्त को हृदय से मानता है तथा आत्मा-परमात्मा के शाश्वत रागात्मक सम्बन्ध के आधार पर आत्मा की परमात्मा से मिलन की तड़पन को स्वाभाविक समझता है। भगवान् के प्रति उसकी यही रति जो वासना रूप से उसके हृदय में विद्यमान रहती है भक्ति रस का स्थायीभाव बनती है और उपयुक्त विभावादिकों के संयोग से रस रूप में परिणत हो जाती है। भक्त की ही नहीं, सामान्य सहृदय की दृष्टि से भी इसके रसत्व में कोई व्याघात नहीं पड़ता। साम्प्रदायिक दृष्टि इसमें जरूर बाधक होती है, क्योंकि किसी विशेष सम्प्रदाय में दीक्षित व्यक्ति का भाव साधारणीकृत नहीं होता। पर यदि साम्प्रदायिक दृष्टि को बचाकर व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो सामान्य भाव होने के नाते रति के आस्वाद में कोई बाधा नहीं पड़ती, प्रत्येक सहृदय सामाजिक को उसका आस्वाद होता है। यहां तो आस्वाद के लिए वातावरण और भी अनुकूल रहता है। रस की अलौकिकता जितनी यहां देखने में आती है और उसके परिणामस्वरूप जितनी अलौकिक अनुभूति यहां होती है, उस मात्रा में अन्यत्र होती ही नहीं। यहां तो आलम्बन अलौकिक, आश्रय अलौकिक, रति स्थायी अलौकिक, रस का प्रत्येक घटक अलौकिक, उसके उद्रेक का प्रक्रिया अलौकिक और अन्त में चर्वणा का विषय बना रस भी अलौकिक। बाधा तो वहां पड़ती है, जहां सब कुछ लौकिक होता है और लौकिक सामग्री के सहारे अलौकिक रस की उद्भूति की जाती है, क्योंकि विजातीय तत्त्वों से रसप्रतीति में विघ्न अधिक सम्भव रहता है। पर जहां सब कुछ सजातीय हो, वहां का कहनां ही क्या? वहां तो निर्विघ्न रस-प्रतीति होगी और अधिक तीव्र होगी। विषय से बाहर अधिक विवेचन में न पड़कर यही कहा जा सकता है कि भक्ति रस ही है, भाव नहीं।

भक्ति की किसी परिभाषा को लीजिए– चाहे वह द्रुतचित्त की भगवदाकार में परिणति हो या परम प्रेम रूपा और अमृतरूपा हो अथवा वह ईश्वर में परानुरक्ति हो, वह साधन-दशा की भक्ति हो, बिधा की दृष्टि से वह वैधी हो या रागानुगा हो अथवा सिद्धदशा की पराभक्ति हो, सर्वत्र प्रेमतत्त्व न्यूनाधिकमात्रा में अनुस्यूत अवश्य है। इस प्रेमतत्त्व के बिना भक्ति सम्भव नहीं। यही प्रेमतत्त्व भक्तों की अपनी रुचि के अनुसार नाना रम्यरूप धारण करता रहा। इसी प्रेम—रति की भावभूमि पर भक्ति के नाना प्रासाद निर्मित हुए कहीं शान्तभक्ति के, कहीं दास्यभक्ति के, कहीं सख्यभक्ति के, कहीं वात्सल्यभक्ति के और कहीं मधुरभक्ति के। वैसे प्रेमतत्व उक्त सभी के मूल में है, परन्तु माधुर्यभाव की भक्ति लोकहृदय के अत्यन्त निकट होने के कारण सर्वाधिक लोकप्रिय रही और भक्ति का सर्वोत्कृष्ट विकास उसी में दीखा। भक्त भक्ति के किसी प्रकार को अपनाए, प्रेम की तन्मयता तथा तीव्रता की स्थिति में वह मधुर भक्तों का-सा व्यवहार कर ही उठता है। भक्तों की बात जाने दीजिए, भारतीय अन्तरंग धर्म-साधनाओं में साधकों की प्रपच-बहुल, रूक्ष गुह्य-साधना-पद्धति के मध्य में भी जहा-तहां मधुरभाव का सहज स्रोत फूट ही पड़ता है। बौद्ध-साधना में मिथुनयोग की स्वीकृति, पंच मकार का महत्त्व, सहजावस्था का महासुख, युगनद्ध तत्त्व को साधना का प्राण मानना आदि कुछ ऐसे प्रसंग हैं– भले ही उनमें अन्तर्निहित दार्शनिक दृष्टि कोई और ही क्यों न हो– जो माधुर्य-भाव की साधना की ओर साधकों के ममत्व को प्रकट करते हैं। बौद्ध सहजिया साधकों की तरह सिद्धों, कापालिकों, नाथ-पन्थियों की साधना-पद्धति में भी उनके साधकों का मधुरभाव के प्रति स्पष्ट आग्रह है। उनकी साधनापद्धति में बज्रोली, अमरोली, सहजोली मुद्राओं का पर्याप्त महत्त्व है। बज्रोली की सफलता के लिए स्त्री का साथ अनिवार्य है। भवभूति ने भी मालतीमाधव में दिखाया है कि कापालिक अघोरघन्ट अपनी शिष्या कपालकुण्डला के साथ भोग-साधना करता है। वैष्णव सहजिया सन्तों की दृष्टि में भी युगलतत्त्व—यामलतत्त्व ही परम तत्त्व है। उसी युगल में महाभाव रूप सहज की स्थिति है। यह जीव का साध्य है। प्रत्येक पुरुष पुरुष-विग्रह और प्रत्येक नारी राधा-विग्रह है। अपने सहजरूप युगलतत्त्व की प्राप्ति के लिए नरनारी की साधना—प्रेमलीला चलती है। उसी के अन्दर से विशुद्ध सहजरस का आस्वादन होता है। त्रिपुरा-सिद्धान्त में भी युगलरूप को कामेश्वर और कामेश्वरी के रूप में स्वीकार किया गया है। यद्यपि इन साधनाओं को माधुर्यभक्ति के नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता, तब भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनमें प्राप्त युगलतत्त्व माधुर्यभक्ति का एक परमोत्कृष्ट तत्त्व है। माधुर्य-भक्ति के रूप-विधान में उक्त साधनाओं के मधुरभावमूलक प्रसंगों का भी कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

वैसे उपनिषदों में भी मधुर रस के सम्बन्ध में यत्रतत्र दृष्टान्त रूप से संकेत मिलते हैं। वैसे तो उपासना का सर्वाधिक सहज और रागानुकूल मार्ग होने के

कारण इसमें लोकरुचि के लिए बड़ा आकर्षण है और वह जाने-अनजाने इस मार्ग के द्वारा आत्माभिव्यक्ति करती रही है पर वस्तुतः उक्त रस के उपजीव्य ग्रन्थ भागवत और ब्रह्मवैवर्तपुराण को ही कहा जा सकता है। वैसे भक्तवर्ग मधुर भाव की उपासना-पद्धति से परिचित न रहा हो ऐसी बात नहीं है। छठी शताब्दी से ही लोकसाहित्य में ऐसे सहस्रों गीत उपलब्ध होते हैं जिनमें मधुर भाव का स्वरूप स्पष्ट दीखता है, जैसे दक्षिण के आलवार भक्तों के गीतों में। प्रीतिपूर्वक आत्मदान, प्रणय का आत्मसमर्पण उनके गीतों का मुख्य स्वर है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रीमद्भागवत ही मधुर रस के आकर ग्रन्थों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। वैसे भागवत के पहले भी राधाकृष्ण-सम्बन्धिनी प्रेमगीतिकाएं प्राकृत और संस्कृत दोनों में मिलती हैं, पर उनमें पार्थिव प्रेम की काव्यात्मक चेतना ही प्रमुख है, अतः उनके रचयिताओं को वैष्णव कवि कहना और उनकी पार्थिव प्रेम-कविताओं में धर्म की प्रेरणा खोजना भूल होगी। उस समय प्राकृत प्रेम और अप्राकृत प्रेम में लोहे-सोने का-सा स्वरूप-भेद नहीं था। पर हां, इसमें कोई सन्देह नहीं कि आगे चलकर वैष्णव कवियों ने विशेषतः चैतन्य महाप्रभु के आविर्भाव के समय या उससे कुछ पहले यह स्वरूप-भेद स्पष्ट कर दिया था। कहने का तात्पर्य यह है कि माधुर्यभक्ति के छुटपुट उपकरण भक्तिसूत्रों, आगमों और भारतीय अन्तरंग साधनाओं में भले ही बिखरे हुए दीखें, जहां-तहां भक्तों के लोक-गीतों में उनकी स्फुट अभिव्यक्ति भी क्यों न हुई हो, उनकी शास्त्रसम्मत मर्यादा और लोकप्रियता भागवत से ही आरम्भ हुई जो चैतन्य-सम्प्रदाय के गोस्वामियों रूप, सनातन और जीव के हाथ में पड़कर सर्वांगपूर्ण बन गई। देश की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियां भी उक्त प्रकार की साधना-पद्धति के अनुकूल पड़ी। मुसलमानों के शासनकाल में नैतिकता के बन्धन काफ़ी शिथिल हो चुके थे। विलासिता और भौतिक सुखोपभोग को विशेष महत्त्व मिलने लगा था। कामिनी काम्य थी। सुरा को सुधा से अधिक महत्त्व दिया जाने लगा था। सूफ़ियों की साधना-पद्धति भी प्रचलित थी। उसका आभ्यन्तर-मिलन, मूर्छा, उन्माद माधुर्यभाव की उपासना के लिए अनुकूल पड़ते थे फलतः स्वीकार कर लिए गए। चैतन्य-सम्प्रदाय में माधुर्यभक्ति का जितना सांगोपांग, मार्मिक, वैज्ञानिक, सूक्ष्मातिसूक्ष्म रसशास्त्रीय विवेचन हुआ, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। भक्तिरस का यह रसशास्त्रीय विवेचन रूपगोस्वामी के हरिभक्तिरसामृतसिन्धु में और विशेषतः मधुर रस का उन्हीं के उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ मे मिलता है। इनमें प्राप्त शृंगार रस का भक्तिशास्त्रीय विवेचन अपने साथ भारतीय अलकारशास्त्र और कामशास्त्र को लेकर चला, उनमें वर्णित देहधर्म और मनोधर्म को वह ज्यों-की-त्यों अपनाए रहा, फिर भी उसके द्वारा जिस उदात्त शृंगार की अभिव्यक्ति हुई वह असाधारण है। वल्लभ, निम्बार्क और हितहरिवंश की उपासना-पद्धति भी इससे प्रभावित है, पर वे रसशास्त्रीय विवेचन के पचड़ों में नहीं पड़े। शृंगार की भावना और उसके विकास की मीमांसा के लिए रसशास्त्रीय विवेचन आवश्यक है अतः मैं अपने को वृन्दावन के गोस्वामिसम्प्रदाय तक ही सीमित रखूंगा।

अन्य भक्ति-प्रकारों की अपेक्षा माधुर्योपासना के प्रकार की अपनी कुछ विशेषताएं है जिनके कारण वह अधिक लोकप्रिय रही है, फलतः आराधकों का बहुमत अपनी साधना के लिए इसी मार्ग को अपनाता रहा है। इसमें एक तो इसके साधक के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह विधि-निषेध के पचड़े में पड़े, उसे बाह्याडम्बर से मुक्ति मिल जाती है। विधि-निषेध का परित्याग किया नहीं जाता, वह स्वतः सहज ही हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह अपने हृदय की समस्त रागात्मक सम्पत्ति को अपने इष्ट के प्रति निवेदन कर सकता है—कभी उसका सखा बनकर, कभी प्राणप्रिया प्रियतमा बनकर जिसके कारण उसकी साधना का अणु-अणु मधुर हो जाता है। दूसरी बात यह है कि साधक संसार में रहते हुए उसके लौकिक कर्मों से बिना विरत हुए ही, लौकिक जीवन के अत्यन्त सहज एवं मधुरतम रूप–दाम्पत्य जीवन की प्रक्रिया के सहारे अपनी उपासना चलाता है जिसमें काम के दमन की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसका उन्नयन होता है; जिसमे प्रेम सान्द्र रूप में होता है, यौन-सम्बन्ध न जाने कितना पीछे छूट चुका होता है तथा स्व-सुख की अपेक्षा स्वेष्ट–सुख की ही कामना होती है। यहां साधना की लौकिक भावभूमि पूर्णतः अलौकिक हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि भरत की वैसी-की-वैसी सारी रस–प्रक्रिया यहां भी लागू होती है, पर अन्तर इस बात मे है कि यहां उससे जिस परमात्मगत आनन्द की उपलब्धि होती है, वह पूर्ण आनन्द है; परन्तु लौकिक काव्यों में जिस आनन्दांश की अनुभूति है, वह एक तो जीवगत आनन्द है जोकि 'ममैवांशो जीवलोकः' की दृष्टि से अंशमात्र कहा जा सकता है, दूसरे विषय–जन्य होने के कारण हीन भी है। इसीलिए लोक में शृंगार रस को वह उच्चभूमि नहीं मिल पाती जो भक्ति के क्षेत्र में मधुर रस को मिलती है। इसीलिए लोक में शृंगार भाव से वात्सल्य भाव उच्च माना जाता है, वात्सल्य भाव से सख्यभाव, सख्य से दास्यभाव तथा दास्यभाव से शान्तभाव को उच्च ठहराया जाता है। पर माधुर्यभाव की भक्ति में उक्त क्रम बिल्कुल बदल जाता हैं। वहां तो शान्तभाव से दास्यभाव, दास्यभाव से सख्यभाव, सख्यभाव से वात्सल्यभाव और वात्सल्यभाव से मधुरभाव श्रेष्ठ समझा जाता इस प्रकार उत्तरोत्तर श्रेष्ठता बढ़ती जाती है—फलस्वरूप माधुर्यभाव सर्वोत्कृष्ट भाव ठहरता है। माधुर्यभाव की यह उपासना इतनी लोकप्रिय रही है कि विश्व की प्रायः सभी साधनाओं में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पाई जाती है। ईसाई सन्तों में, सूफियों मे, सगुण उपासकों में उक्त उपासना स्पष्ट दीखती है, गुह्य–साधना के अनुयायी भी इससे बच नहीं पाए।

शृंगार रस की पराकाष्ठा, भक्ति–रसराज मधुररस तक पहुँचने के लिए गौड़ीय वैष्णवों की भक्तिभावना का विस्तार से पर्यालोचन आवश्यक है। मधुररस के घनीभूत विग्रह राधामाधव के केलिरस और उसके गौरव को समझने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। सारा वर्णन भारतीय रसशास्त्र और रतिशास्त्र का अनुसरण करता चलता है। प्राकृत रति के समान ही उसके स्थूल–सूक्ष्म नाना

वैचित्र्यमय सुनिपुण वर्णन यहा भी मिलते हैं, पर रागमयी भक्ति के सहारे भक्त के हृदय में हृदय के द्वारा हृदयेश्वर की जो रागमयी उपासना चलती है, उसके कारण सब प्राकृत अप्राकृत में परिवर्तित हो जाता है, फलस्वरूप उससे जो रसानुभूति होती है वह परमदिव्य होती है। आत्ममिथुन, आत्मरमण और आत्माराम की यही स्थिति होती है। इसे पाकर जीव पूर्णकाम हो जाता है। यही है उसकी प्रौढ़ाभक्ति जो जीव का परम पुरुषार्थ है तथा जो एकमात्र शृंगार रस में ही स्व-रूप को प्राप्त करती: है समस्त सम्बन्धों का समाहरण इसी मधुर रस में होता है। अन्य रस कहने के लिए रस हैं, वास्तव में शृंगार ही मुख्य रस है, इसीलिए शृंगार ही रसस्वरूप होने के कारण रसराज है।

रूप गोस्वामी अपने हरिभक्तिरसामृत सिन्धु में उत्तमा भक्ति की परिभाषा इस प्रकार देते है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येनकृष्णानुशीलन भक्तिरुत्तमा ॥

इसमें अन्याभिलाषिताशून्य और ज्ञानकर्माद्यनावृत ये दोनों विशेषण भक्ति के तटस्थ लक्षण हैं और 'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिः' यह भक्ति का स्वरूप लक्षण है। मनसा, वाचा, कर्मणा भगवान् के प्रीति–सम्पादन के उद्देश्य से की गई भक्त की समस्त चेष्टा उत्तम भक्ति कहलाती है। वह भक्ति किसी फलविशेष की कामना से विहित नहीं होनी चाहिए तथा ज्ञानमार्ग एवं कर्ममार्ग के अनुयायियों द्वारा चाहे गए विभिन्न प्रकार के फलों के उद्देश्य से भी नहीं की जानी चाहिए। इस उत्तमा भक्ति के तीन भेद होते हैं–साधनभक्ति, भावभक्ति, प्रेमाभक्ति।[1] इनमें से प्रथम प्रकार–साधन भक्ति के दो भेद होते हैं– वैधी और रागानुगा।[2] जिसमें राग स्वतः नहीं होता, केवल शास्त्रीय विधि–वाक्यों और निर्देशों के आधार पर जीव की प्रवृति होती है, उसे वैधी कहते हैं—मर्यादामार्ग भी इसी का दूसरा नाम है। साधन-भक्ति का दूसरा भेद है रागानुगा भक्ति। साधन-भक्ति का यह अन्तिम प्रकार वैष्णवों की दृष्टि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि इसी रागात्मिका साधनरूपी भक्ति के सहारे साध्यरूपा भावभक्ति और प्रेमाभक्ति सिद्ध होती हैं। इसके प्रति सहज रूप से होने वाले परम आकर्षण का नाम राग है। इस राग से युक्त भक्ति रागात्मिका कहलाती है। इस राग की अत्यन्त आकर्षक व्याख्या जीवगोस्वामी ने भक्ति सन्दर्भ में की है। वे कहते है कि जिस प्रकार विषयी का विषयों के संसर्ग की इच्छा के कारण उनके

---

१. सा भक्तिः साधनं भाव. प्रेमाचेतित्रिधोदिता।

—हरिभक्तिरसामृत० पू०वि०द्वि०ल० १

२. वैधी रागानुगाचेति सा द्विधा साधनाभिधा।

—वही, ३

प्रति स्वाभाविक आकर्षण होता है तथा जिस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय का सौन्दर्य के प्रति, श्रवणेन्द्रिय का मधुर स्वर के प्रति आकर्षण होता है, उसी प्रकार जब भक्त का भगवान् के प्रति आकर्षण पैदा हो जाता है, तब उसे राग कहते हैं।[3] यह भक्ति कामरूपा और सम्बन्धरूपा भेद से दो प्रकार की होती है। जिस भक्ति में भक्त अपनी समस्त चेष्टाएं इसीलिए करता है और अपनी सेवा इसीलिए अर्पित करता है कि उनसे उसके भगवान् को सुख पहुंचे, उसे कामरूपा भक्ति कहते हैं। मात्र भगवान् को सुख पहुंचाने की इस ऐकान्तिक वासना को भक्तिशास्त्र में काम कहते हैं—"प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।" और जब किसी न किसी सम्बन्ध को अपनाकर कि मैं भगवान् का पिताहूँ, माता हूँ, दास हूँ, सखा हूँ उनकी पूर्णरूप से रागमयी सेवा की जाती है, तब सम्बन्धरूपा भक्ति का उन्मेष होता है। कामरूपा रागात्मिका के पात्र हैं मधुरभाव-भावित व्रजसुन्दरियाँ और सम्बन्धरूपा रागत्मिका के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं पिता नन्द, माता यशोदा, सखा-वर्ग और दासवर्ग। कहने का तात्पर्य यह है कि दोनों प्रकार की रागात्मिका का सीधा सम्बन्ध व्रजवासि-जनों से है, सामान्य भक्तजनों से नहीं। रागात्मिका भक्ति जीव की नहीं होती। जीव को तो रागानुगा भक्ति ही प्राप्त होती है। जीव के लिए भी रागमयी कामरूपा और सम्बन्धरूपा भक्ति विहित है, पर वह रागात्मिका के अनुकरण पर है। इसीलिए उसे रागात्मिका न कहकर रागानुगा कहते हैं। जब सांसारिक व्रजवासिजनों की रागमयी भक्ति से प्रभावित होकर उस भक्तिको अपनाता है, तब वह रागानुग भक्त कहलाता है और उसकी भक्ति रागानुगा कहलाती है। इसके भी पूर्ववत् कामरूपा और सम्बन्धरूपा दो भेद होते हैं।

यहां तक जिस भक्ति का विवेचन हुआ है वह साधनरूपा भक्ति है। जिस भक्ति का आगे वर्णन किया जा रहा है वह साध्यभक्ति है जिसके भावरूपा और प्रेमरूपा दो भेद होते है यद्यपि भक्ति का मूल मानसभाव प्रेम होता है, परन्तु रूप गोस्वामी ने दोनों के अर्थों में सूक्ष्म भेद माना है। भाव आदि–मूल अवस्था है, प्रेम उससे उत्पन्न होता है और वह एक ऊँची अवस्था है। दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध है। भाव कारण है और प्रेम कार्य है। इस भाव-भक्ति में स्थायीभाव और संचारी-भाव दोनों सन्निविष्ट हैं। रूपगोस्वामी की दृष्टि में इसकी परिभाषा इस प्रकार है। जब वैधी और रागानुगा साधनभक्ति के अभ्यास से चित्त विशुद्ध सत्त्वप्रधान हो जाता है तब उसमें प्रेमसूर्य की किरण आविर्भूत होती है—यही भाव है इसके परिणाम-स्वरूप चित्त में एक विशेष प्रकार की मसृणता—आर्द्रता उत्पन्न हो जाती है।[4]

---

३. तत्र विषयिणः स्वाभाविको विषयसंसर्गेच्छामयः प्रेमा रागः, यथा चक्षुरादीनां सौन्दर्यादौ तादृश एवात्र भक्तस्य श्रीभगवत्यपि राग इत्युच्यते।

—भक्ति सन्दर्भ

४. शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशु-साम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥

—हरिभक्ति० पू० वि० तृतीया भावलहरी–१

साधारणतः क्रम यही है कि साधनभक्ति के अभ्यास के अनन्तर ही इस भाव का उदय होता है. पर कुछ विरल पुण्यात्मा ऐसे भी होते है जिन्हें साधनभक्ति के बिना भी भावभक्ति की प्राप्ति हो जाती है। इसके मूल में उनके पूर्व संस्कार, भगवान् अथवा उनके भक्तों की कृपा ही कारण होती है। यही प्रेम की पहली अवस्था रति भक्तों की भावना के भेद से पाँच प्रकार की बन जाती है—शान्तरति, दास्यरति, सख्यरति, वात्सल्यरति और मधुररति। रतिभेद से भक्तिरस भी पाँच प्रकार का होता है—शान्तरस, दास्यरस, सख्यरस, वात्सल्य रस और मधुर रस। पूर्वोक्त पाँच प्रकार की रति मुख्य रति है अतः उसके भेद से बने भक्ति रस के पाँचों प्रकार भी मुख्य है। भाव का जैसे-जैसे विकास होता है और उसमें प्रगाढता आती जाती है वैसे शान्त दास्य में, दास्य सख्य में, सख्य वात्सल्य में और वात्सल्य माधुर्य में परिणत होता जाता है। इस प्रकार भाव की चरम परिणति मधुरारति में और भक्तिरस की चरम परिणति मधुर रस में होती है। इस क्षेत्र में मधुर रस ही सर्वोत्कृष्ट रस ठहरता है। अपने दिव्य विभावानुभाव-संचारियों से और सात्त्विकों से वह किस प्रकार दिव्य रसरूप में उद्भूत होता है, उनके कारण उसके आश्रय में किस प्रकार कौन-कौन-सी दिव्य अवस्थाएं उन्मिषित होती हैं और किस तरह माधुर्योपासना चलती है आदि प्रसंगों का वर्णन दिव्य शृंगार के रूप को उरेहने के लिए आवश्यक है।

जब स्वयं संकुचित होती हुई रति किसी भाव-विशेष को पुष्ट करती है, तब उसे गौणी रति कहते हैं। वह सात प्रकार की होती है—हास रति, विस्मय रति, उत्साह रति, शोक रति, क्रोध रति, भय रति, और जुगुप्सा रति। उक्त सात प्रकार की गौणी रति के भेद से गौण भक्ति रस भी सात प्रकार का होता है, जिसके नाम हैं—हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स। इस प्रकार भक्ति के बारह प्रकार हो जाते हैं।

वैसे भावभक्ति और प्रेमाभक्ति दोनों में मूलतः कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही साध्यभक्ति हैं। उनमें जो भेद है वह मात्राकृत भेद है। भावभक्ति प्रारम्भिक दशा है, पर प्रेमाभक्ति उससे ऊँची अवस्था है। साधनभक्ति के परिपाक से भावभक्ति की प्राप्ति होती है, परन्तु भावभक्ति के परिपाक से प्रेमाभक्ति उत्पन्न होती है। भावतत्त्व के उदय से आश्रयतत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, पर विषय-तत्त्व को वह व्याप्त नहीं कर पाती। प्रेमतत्त्व के उदय के अनन्तर ही विषयतत्त्व का आविर्भाव हो पाता है। अन्तःकरण को पूर्णतः द्रवित कर देने वाला अत्यधिक ममता से युक्त सान्द्रभाव ही प्रेम कहलाता है।[५] इस प्रेम की उत्पत्ति की प्रक्रिया भी विचित्र है।

---

५. सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयान्वितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥
—हरिभक्ति० चतुर्थ लहरी-१

सबसे पहले हृदय में श्रद्धा उदित होती है, उसके बाद साधुसंग मे प्रवृत्ति होती है, फिर भजन में प्रवृत्ति देखी जाती है उसके परिणामस्वरूप अनर्थ की निवृत्ति होती है। उसके बाद निष्ठा जगती है, फिर रुचि, तदनन्तर आसक्ति, फिर भाव उसके बाद कहीं प्रेम का उदय होता है। इसका उदय ही जीव का परम सौभाग्य है। यह प्रेम ही उत्तरोत्तर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव तथा महाभाव रूप में विकसित होकर जीव को कृतार्थ कर देता है। एकबार उदय हो जाने पर उसके नाश का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रेमनाश के कारण विद्यमान रहने पर भी उसकी चमक ज़रा भी मन्द नहीं पड़ती।[६]

भक्ति रसके सर्वोत्कृष्ट प्रकार भक्तिरसराज को हृदयंगम करने के लिए उसकी पूर्वपीठिका के रूप में भक्ति रस का जो प्रसंग वर्णित हुआ है, वह नितान्त आवश्यक है। मधुररस—उज्ज्वल रस का विस्तार से वर्णन रूपगोस्वामिपाद ने अपने उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ में किया है। श्रीकृष्ण की वल्लभा गोपियों के साथ जो माधुर्य भावपरक दिव्य लीला चलती है, वही मधुरस का सर्वस्व है। इसमें साधक आराध्य के प्रभुत्व और ऐश्वर्य से कोई सरोकार नहीं रखता, वह केवल कान्ताभाव को अपनाता है, क्योंकि उसी में प्रेम की सर्वाधिक तीव्रता होती है और इसीलिए जितना मानसिक आह्लाद, तन्मयता और चेष्टाओं की सभी अवस्थाओं में चारुता यहां मिलती है, वह अन्यत्र नहीं मिलती। जीवगोस्वामी चेष्टाओं की समस्त अवस्थाओं में चारुता को ही माधुर्य बताते है।[७] इस माधुर्य रस का स्थायीभाव प्रियता या मधुरा रति है। यही रति जब उपयुक्त विभावादि के संयोग से आस्वाद का विषय बनती है, तब यही मधुररस कही जाती है।[८] इस मधुर रस—शृंगार रस के स्थायी-भाव का रूपगोस्वामिपाद ने इतना विशद और वैज्ञानिक विवेचन किया है कि देखते ही बनता है।

मधुरा रति का दो दृष्टियों से विवेचन मिलता है—नायिका की दृष्टि से और भावों की दृष्टि से। रति के तारतम्य-भेद की ओर लेखक की दृष्टि दोनों में ही है। नायिका की दृष्टि से उक्त रति के तीन भेद किए गए हैं-साधारणी, समंजसा

---

६. सर्वथा ध्वंसरहित सत्यपि ध्वसकारणे,
यद्भावबन्धनं यूनो: स प्रेमा परिकीर्तित:॥
—उज्ज्वलनील०, स्थायिभाव प्रकरण ५७

७. माधुर्य नाम चेष्टानां सर्वावस्थासु चारुता।
—प्रीति सन्दर्भ, पृ० ७६०

८. वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः स्वाद्यतां मधुरा रतिः।
नीताभक्तिरसः प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभि:॥
—उज्ज्वलनील०, नायकभेद-३

और समर्था। साधारणी रति प्रगाढ नहीं होती, प्रायः कृष्ण के साक्षात् दर्शन से ही यह उत्पन्न होती है। संभोगेच्छा इसके मूल में रहती है। चूंकि यह सान्द्र–प्रगाढ नहीं होती, अतः इसमें संभोगेच्छा स्पष्ट अलग दिखती है। इस संभोगेच्छा के ह्रास से रति का भी ह्रास होता है, क्योंकि संभोगेच्छा इस रति के मूल में है। तात्पर्य यह है कि जिसकी संभोगेच्छा जितनी अधिक होगी, उसकी रति भी उतनी ही अधिक होगी। जिसकी कम होगी, उसकी रति भी उसी अनुपात में कम हो जाएगी। प्रेमावस्था तक ही इसका क्षेत्र है, आगे इसका विकास नहीं होता।[९] इस रति को दूसरे शब्दों में 'स्वसुखैक-तात्पर्या' कह सकते हैं। कुब्जा की रति इसी प्रकार की थी, क्योंकि कृष्ण की अनन्त रूपमाधुरी से प्रभावित होकर उनके उत्तरीयवस्त्र को खींचते हुए उसने मनुहार करते हुए उनसे कहा था कि मेरे काम्य प्रिय ! कुछ दिन तुम मेरे पास रहो, मेरे साथ रमण करो। हे कमलेक्षण ! मैं तुम्हारा साथ छोड़ने में अपने को असमर्थ पा रही हूँ।[१०] इस रति में दो बहुत बड़ी कमियां हैं। एक तो प्रगाढ न होने के कारण वह संभोगेच्छा में परिणत हो जाती है और संभोगेच्छा में ह्रास होने के साथ उसमें भी, ह्रास होता जाता है दूसरे सभोगेच्छा-प्रधान होने के कारण वह 'स्व-सुखैकतात्पर्या' है। कुब्जा को यही चिन्ता थी कि कैसे और कब वह कृष्ण के संगसुख को प्राप्त करे। उक्त कारणों से यह रति निकृष्ट प्रकार की ठहरती है।

समंजसा रति प्रगाढ़ होती है। पत्नीभावाभिमान इसकी आत्मा है। रूप-गुण आदि के श्रवण से यह उत्पन्न होती है। कृष्णसुख की स्पृहा प्रधान होने पर भी स्वसुखैकतात्पर्य-स्वरूप संभोगेच्छा भी कभी उदित हो जाती है। रुक्मिणी आदि पट्ट महिषियों की रति समंजसा के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती है। इस रति में लोकधर्म–मर्यादा की अपेक्षा होती है। समंजसा नाम ही इस बात का द्योतक है, क्योंकि लोकधर्मातिक्रमरूप असामंजस्य का उसमें अभाव होता है। इसीलिए यह रति समंजसा कही जाती है।[११] यह रति अनुराग अवस्था तक पहुँचती है अर्थात् इसका विकास प्रेम से स्नेह में, स्नेह से मान में, मान से प्रणय में, प्रणय से राग में और राग से अनुराग में हो जाता है। अनुराग इसकी अन्तिम सीमा है।

---

९. नातिसान्द्रा हरेः प्रायः साक्षाद्दर्शन–सम्भवा।
सम्भोगेच्छानिदानेयं रतिः साधारणी मता॥
असान्द्रत्वाद्रतेरस्याः संभोगेच्छा विभिद्यते।
एतस्या ह्रासतो ह्रासस्तद्धेतुत्वाद्रतेरपि॥
—उज्ज्वलनील०, स्थायीभाव प्रकरण ३९.४१

१०. सहोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्मया।
रमस्व नोत्सहे त्यक्तुं संगं तेऽम्बुरुहेक्षण॥
—भागवत १०/४८

११. पत्नीभावाभिमानात्मा गुणादिश्रवणादिजा।
क्वचिद्भेदितसंभोगतृष्णा सान्द्रा समंजसा॥
—उज्ज्वलनील० ४०९

समंजसा रति के भी तीन भेद किए गए हैं। वे हैं गौणी समंजसा, मुख्या समंजसा और समंजसा-प्राया। गौणी समंजसा गोलोक-लक्ष्मियों में दीखती है। यह गौणी इसलिए कही जाती है कि गोलोक-लक्ष्मियों में यह भावना निरन्तर बनी रहती है कि कृष्ण उनके ईश्वर हैं और वे उनकी शक्तियां हैं। इस कारण निरंतर ऐश्वर्य के अनुसंधान को ध्यान में रखने से रति में संकोच बना रहता है। मुख्या समजसा द्वारका में रुक्मिणी आदि पट्टमहिषियों में देखी जाती है। उनमें गोलोक-लक्ष्मियों जैसी ऐश्वर्यानुसंधान की प्रवृत्ति नहीं होती। समंजसाप्राया रति कात्यायनी-व्रतपरायण कन्याओं में होती है। कृष्ण में उनकी पतिबुद्धि होती है, अतः वे समंजसा की परिधि में आती हैं, परन्तु कृष्ण के साथ उनके विवाह के अव्यक्त होने के कारण उनमें प्रच्छन्न कामुकता—परकीयात्व–का भाव भी पाया जाता है, अतः समंजसा की सीमा को पार करके वे समर्था की सीमा में प्रवेश करती दीखती हैं। समंजसाप्राया में प्रायः शब्द यही द्योतित करता है कि समंजसा की भावना के साथ-साथ उनमें समर्था की भावना का प्रवेश भी हो जाता है—इसीलिए उसका नाम समंजसा-प्राया है। उक्त भेदों में उत्तरोत्तर उत्कर्ष पाया जाता है अर्थात् गौणी समंजसा से मुख्या समंजसा और मुख्या समंजसा से समंजसाप्राया उत्कृष्ट ठहरती है।

समर्था रति उस रति को कहते हैं जो लोकमार्ग, धर्ममार्ग और मर्यादामार्ग की चिन्ता न करके अपनी चरमोत्कर्ष-पुष्टि को प्राप्त करने में समर्थ होती है। इस रति में संभोगेच्छा पृथक् रूप से होती नहीं। यह कृष्णसुखैकतात्पर्या होती है इसीलिए यह सान्द्रतम, श्रेष्ठ और सर्व-विस्मारण-क्षम होती है।[१२] व्रजदेवियां इस समर्था रति की आश्रयालम्बन होती हैं। उनके समस्त उद्यम कृष्ण-सुख के लिए ही होते हैं। तादात्म्य की पूर्णस्थिति यहीं पर देखी जाती है। संभोगेच्छा यहां अलग से होती ही नहीं, वह तो रति के साथ घुलमिल कर एक होगई होती है। इसमें कुल-धर्म-धैर्य-लोक-लज्जा रूप समस्त समंजस पीछे छूट जाते हैं।

इस समर्था रति के भी दो विभाग किए गए हैं—समर्थाप्राया और समर्था। समर्थाप्राया रति परकीया कन्याओं में पाई जाती है। लोकधर्मत्यागरूप असामंजस्य उनमें अवश्य है, पर ये परोढा नहीं हैं। समर्था की संसिद्धि परोढा से ही हो पाती है। इसीलिए परकीया कन्याओं की रति को समर्थाप्राया कहते हैं, समर्था नहीं। समर्था रति तो परोढा साधिकाओं में तथा नित्यसिद्ध श्रीकृष्णप्रियाओं—व्रजदेवियों में

---

१२. कंचिद्विशेषमायान्त्या संभोगेच्छा ययाभितः।
रत्या तादात्म्यमापन्ना सा समर्थेति भण्यते॥
स्वस्वरूपात् तदीयाद्वा जातो यत्किंचिदन्वयात्।
समर्था सर्वविस्मारिगन्धा सान्द्रतमा मता॥
—उज्ज्वल० ४१२

ही पाई जाती है, क्योंकि परकीया होने के नाते उन्हीं में समर्था की पूर्णता है। यही कारण है जो समर्थाप्राया की अपेक्षा समर्था उत्कृष्ट ठहरती है तथा समर्थाप्राया की नायिकाओं की अपेक्षा समर्था की नायिकाओं में उत्कृष्टता पाई जाती है। गोलोक-लक्ष्मियों से द्वारका-स्थित रुक्मिण्यादि महिषियां, उनसे व्रज की कात्यायनीव्रतपरायणा कन्याएं, उनसे भी परकीया कन्याएं, परकीया कन्याओं से भी परोढा साधिकाएं तथा कृष्ण की नित्यप्रियाएं श्रेष्ठ ठहरती हैं।

समंजसा में पत्नीभाव के अभिमान के कारण लेशमात्र भी असामंजस्य की सम्भावना नहीं होती। दूसरी बात यह भी है कि समंजसा में यदाकदा संभोगेच्छा की पृथक् स्थिति आजाने से श्रीकृष्ण की वश्यता सुदुर्लभ होती है। समर्था रति में संभोगेच्छा की पृथक् स्थिति होती ही नहीं, वह तो रति में ही अपने को विलीन कर चुकी होती है, अतः उसी में श्रीकृष्ण की वश्यता का गुण पाया जाता है। व्रज-देवियां इसी समर्था के सहारे लोकधर्ममर्यादा की परवाह न करके परमस्वतन्त्र भगवान् को वश करने में समर्थ हुई थीं। इसीलिए इस रति को समर्था नाम दिया गया। यही वह रति है, जो महाभाव-दशा तक पहुँचती है।[१३] यही कारण है कि यह सर्वश्रेष्ठ है। पत्नीभावात्मिका समंजसा रति में गौरव, आदर, सत्कार, परिचर्या आदि के कारण चित्त-संकोच देखा जाता है। चित्त-संकोच की स्थिति में प्रेम का संकोच भी स्वाभाविक है। समर्था में ऐसी कोई बात नहीं होती, वहां संकोच का सर्वथा अभाव होता है अतः चित्त अपनी पूर्ण व्यापकता में पाया जाता है, फलस्वरूप प्रेम की भी वही स्थिति होती है। इन्हीं व्रजदेवियों की मुकुन्द से तादात्म्य की स्थिति को देखकर उद्धव को उनसे ईर्ष्या हुई थी और वह कह उठे थे—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

—भागवत १०।४७।६१।

जबतक उद्धव समर्था भक्ति के मर्म को हृदयंगम नहीं कर पाए थे, तबतक उनकी दूसरी ही स्थिति थी। गोपियों के द्वारा किए गए आर्यपथ के परित्याग को देखकर वह विक्षुब्ध हो उठे थे। भागवतकार के शब्दों में उनकी धारणा थी—"क्वेमाःस्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः।" यह समर्था रति उपपत्नी-भावात्मिका होती है। तभी तो

१३. आद्याप्रेमान्तिमां तत्रानुरागान्तां समंजसा।
रतिर्भावान्तिमां सीमां समर्थैवप्रपद्यते॥

—उज्ज्वलनील—५०५

कुलधर्म, धैर्य और लज्जा के अत्यन्त विस्मरण का प्रश्न उठता है। (सर्व-विस्मारि-गन्धा)। यहीं इसका अनिर्वचनीय वैशिष्ट्य है और शृंगार रस का परमोत्कर्ष प्रतिष्ठित है।[१४]

रति का अमरबीज प्रेम है—वही रति का सर्वस्व है। और प्रेम का मतलब है एक विशिष्ट भाव-बन्धन। उत्कृष्टता की दृष्टि से प्रेम के तीन भेद किए गए हैं—प्रौढ, मध्य और मन्द। समर्था रति जब प्रौढ दशा को प्राप्त होती है, यही उसकी पूर्ण परिणति है। यही प्रौढ रति महाभाव-दशा तक पहुंचती है।[१५] महाभाव-दशा तक उक्त रति के विकास का एक अत्यन्त मनोवैज्ञानिक क्रम है। यह दृढरति जिसका दूसरा नाम प्रेम है, क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भावरूपों में परिणत होती चलती है। यह क्रम-परिणति बिल्कुल इक्षु के बीज जैसी होती है, जैसे इक्षुबीज, अंकुर, इक्षुदण्ड, उससे रस, रस से गुड़, गुड़ से खाँड, खाँड से चीनी, चीनी से सिता और सिता से सितोपला।[१६] प्रेम जब परमोत्कर्ष को प्राप्त करके चिद्दीप-दीपन होता है अर्थात् प्रेमोपलब्धि का प्रकाशक होता है तथा हृदय को द्रवीभूत करता है, तब उसे स्नेह कहते हैं। उसके उदित होने पर रति के आश्रयालम्बन को विषयालम्बन के दर्शन से तृप्ति ही नहीं मिलती।[१७] इस स्नेह के भी घृतस्नेह और मधुस्नेह दो भेद होते हैं। स्नेह उत्कृष्टता-प्राप्ति के साथ जब अपने में नवीन माधुर्य लाता है, परन्तु स्वयं अदाक्षिण्य धारण किए रहता है, तब उसे मान कहते हैं।[१८] मान जब विश्रम्भ—विश्वास को धारण कर लेता है तब उसे प्रणय कहते हैं।[१९] इसके उदित होने पर आश्रयालम्बन के प्राण, मन, बुद्धि, देह, परिच्छद आदि का कान्त के प्राण, मन, बुद्धि, देह, परिच्छद आदि के साथ पूर्ण ऐक्य स्थापित हो जाता है। रोषादि के लिए अवसर ही नहीं होता। प्रणयोत्कर्ष के कारण चित्त में जब अधिक दुःख भी सुख के रूप में व्यक्त होता है तब वह राग कहलाता है।[२०] शृंगार की यह

---

१४. अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः। —उज्ज्वलनील–१४

१५. इयमेव रतिः प्रौढा महाभाव–दशां व्रजेत्। —वही, ५७५

१६. स्यात् दृढेयं रतिः प्रेमा प्रोद्यन्स्नेहः क्रमादयम्।
स्यान्मानः प्रणयो रागोऽनुरागो भाव इत्यपि॥
बीजमिक्षुः सच रसः स गुडः खण्ड एव सः।
स शर्करा सिता साच सा यथास्यात् सितोपला॥ —उज्ज्वलनील ४१६, ४१७

१७. आरुह्य परमा काष्ठा प्रेमा चिद्दीपदीपनः।
हृदयं द्रावयन्नेष स्नेह इत्यभिधीयते।
अत्रोदिते भवेज्जातु न तृप्तिर्दर्शनादिषु॥ —उज्ज्वल० ४२५

१८. स्नेहस्तूत्कृष्टतावाप्त्या माधुर्यमानयन्नवम्।
यो धारयत्यदाक्षिण्यं स मान इति कीर्त्यते॥ —वही, ४३२

१९. मानोदधानो विश्रम्भं प्रणयः प्रोच्यते बुधैः। —वही ४३७

२०. दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते॥ —वही ४४३

वह स्थिति होती है जिसमें दुःख सुख में परिवर्तित हो जाता है और दुःख के कारण सुख के कारण में बदल जाते हैं। राग से रँगे हृदय की यही स्थिति होती है। जिस प्रकार वर्णकद्रव्य से रँगा पदार्थ उसी के वर्णधर्म को स्वीकार कर लेता है, उसका अपना वर्णधर्म रहता ही नहीं अथवा जिस प्रकार मंजिष्ठा से रँगे वस्त्र मे मंजिष्ठा की ही अनुभूति होती है, वस्त्रधर्म–वस्त्र की शुक्लता–की नहीं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण की लाभ-संभावना में दुःख पर सुख छा जाता है, फलतः सुखधर्म की ही अभिव्यक्ति होती है, दुःखधर्म की नही।[२१]

इस राग के तीन भेद होते हैं—नीलीराग, कुसुम्भराग, मंजिष्ठाराग। राधा-माधव की प्रीति में मंजिष्ठा राग पाया जाता है। यह अहार्य होता है, स्थायी होता है, अनन्यसापेक्ष होता है। श्यामाराग की तरह इसे किसी औषध की अपेक्षा नहीं होती, यह अपरिमित-क्रान्ति होता है।[२२] अनुराग राग की विकासावस्था है, इसके कारण सदानुभूत प्रिय भी नितनूतन लगता है।[२३] परस्पर वशीभाव की स्थिति यहीं हो पाती है। प्रेमादिदशाओं में नायक का ही वशीभाव स्पष्ट होता है, नायिका में तो लज्जा, अवहित्था के कारण वह उभर नहीं पाता। पर अनुराग में प्रेमतृष्णा इतनी तीव्र होती है कि अवहित्था, गर्व, असूया आदि को अवकाश ही नहीं मिल पाता, नायिका का भी स्पष्ट वशीभाव व्यक्त होता है। विरह की स्नेहमयी आशंका—प्रेमवैचित्य–बनी रहती है। प्रिय के स्पर्श की प्राप्ति के लिए निर्जीव वस्तुओं के रूप में जन्म लेने की लालसा जगती है। विप्रलम्भ में विम्फूर्ति–साक्षाद्दर्शनाकारा विशिष्ट स्फूर्ति–पाई जाती है।[२४] सर्वान्तिम अवस्था भाव की है। जब अनुराग बढ़ते-बढ़ते यावदाश्रयवृत्ति हो जाता है और स्वयंवेद्य चरमावस्था को प्राप्त होकर प्रकाशित होता है, तब उसे भाव कहते हैं।[२५] यह प्रेम-प्रकाश की पराकाष्टा है, यह भावरूप चित्तवृत्ति अपने विषयालम्बन कृष्ण को पाकर तदाकाराकारित हो जाती है। वह स्वयंप्रकाश रूप होकर भी प्रकाश्य कृष्ण के रूप में भासित होती है। तात्पर्य यह है

---

२१. सुखत्वेन सुखधर्मेण दुःखं व्यज्यते इति यत्र दुःखे सुखधर्म एवानुभूयते नतु दुःखधर्मो यथा हिंगुलरक्ते मदने हिंगुलधर्मएवानुभूयते नतु मदनमित्यर्थः। यथा च मंजिष्ठया रक्ते वाससि मंजिष्ठैवानुभूयते नतु वस्त्रधर्मः शौक्ल्यमित्यर्थः। —लोचनरोचनी (उज्ज्वलनीलमणि) ४४३

२२. अहार्योऽनन्यसापेक्षो यः कान्त्या वर्धते सदा।
भवेन्मांजिष्ठरागोऽसौ राधा–माधवयोर्यथा॥ —उज्ज्वल० ४५१

२३. सदानुभूतमपियः कुर्यान्निवनवं प्रियम्।
रागो भवन्नवनवः सोऽनुराग इतीर्यते॥ —वही, ४५४

२४. परस्परवशीभावः प्रेमवैचित्यकं तथा।
अप्राणिष्वपि जन्माप्त्यै लालसाभर उन्नतः।
विप्रलम्भेऽस्य विस्फूर्तिरित्याद्याः स्युरिह क्रियाः॥ —उज्ज्वल० ४५६, ४५७

२५. अनुरागः स्वसंवेद्यदशां प्राप्य प्रकाशितः।
यावदाश्रय–वृत्तिश्चेद् भाव इत्यमिधीयते॥ —वही, ४५९,४६०

कि भाव का आस्वाद और वह जिसके लिए प्रवाहित हो रहा है उसका आस्वाद साथ-साथ अपनी पूर्णता के साथ भासित होते हैं। यहां आश्रयतत्त्व और विषयतत्त्व दोनों अपनी पूर्णता के साथ प्रकाशित होते हैं। यह वह स्थिति है जहां पहुँचकर प्रमाता और प्रमेय दोनों के स्वरूप को आच्छन्न करने वाले आवरण कट जाते हैं तथा बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् का भेद दूर हो जाता है। इसी भावभूमि पर मधुररस प्रतिष्ठित होता है।

भगवान् श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दस्वरूप हैं—वह सत्, चित्, आनन्द इन तीनों धर्मों के स्वरूपालम्बन हैं। इसीलिए उनकी स्वरूपशक्ति के तीन भेद किए गए हैं—सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी। सन्धिनी सत् है। वह समस्त देश-काल में व्याप्ति की सूचना देती है। संवित् चित् है और आनन्द ह्लादिनी शक्ति है। इनमें उत्तरोत्तर गुणोत्कर्ष पाया जाता है। इसीलिए भगवान् की रसमयता श्रुति में परिगीत हुई है। रसमयता का कारण उनकी स्वरूप-शक्ति के भीतर की सर्वश्रेष्ठ परमाह्लादकरी ह्लादिनीशक्ति ही है। ऐसे भगवान् की अनुभूति-दशा में सदंश के सन्देह का प्रश्न ही नहीं उठता। सविदंश और ह्लादांश सम्मिलित होकर साधक की अनुभूति का विषय बनते हैं। इसमें ह्लादांश तो प्रेमानन्द-स्वरूप है ही परन्तु संविदंश में अनुभूति के करण—साधन और अनुभूति के कर्म दोनों ही विद्यमान रहते हैं। अतः यह अनुभूति उभयात्मक—ह्लादांश और संविदंश की साथ-साथ होने के कारण भावत्वरूप, कर्मत्वरूप और करणत्वरूप होती है। यही कारण है कि इस भाव की अनुभूति-दशा में सुख भी तीन प्रकार का मिलता है। अनुराग का उत्कर्ष श्रीकृष्णा-नुभव स्वरूप है। यह भावत्वरूप प्रथम सुख है। प्रेमादि के द्वारा अनुभूति के विषय होने पर भी श्रीकृष्ण का अनुरागोत्कर्ष के द्वारा अनुभूत होना यह कर्मत्व रूप द्वितीय सुख है। श्रीकृष्ण की अनुभूति कराने वाला अनुरागोत्कर्ष जब स्वयं भी अनुभव का विषय बनता है, तब करणत्वरूप तृतीय सुख होता है। जिस तरह 'रसो वै सः' कथन के अनन्तर 'सैषा आनन्दस्य सीमा भवति' से आनन्द की सीमा का कथन किया गया है, उसी तरह अनुराग की चरमसीमा भाव ठहरती है। जिस प्रकार शीतोष्णादि पदार्थों के मध्य शीतोष्णादि की उत्कर्ष सीमा वाले चन्द्र-सूर्य आदि अपने समीप और दूर पर स्थित पदार्थों को शीतोष्णादिगुणों का आश्रय बना देते हैं, उसी प्रकार यह अनुराग का उत्कर्ष भी राधा के हृदय में सम्यक् प्रकार से उदित होकर उनको प्रेमानन्दमयी कर देता है। प्रेम—संपुट में इसी तथ्य का समर्थन मिलता है, जैसे अमृतरश्मि चन्द्र त्रिलोकी को आह्लादित करता है, प्रबल सूर्य उसे पूर्णतः संतप्त कर देता है, उसी तरह भाव भी साधक को सभी तरफ से आवृत कर लेता है।[२६] मुकुन्द—

२६. आह्लादयन्नमृतरश्मिरिव त्रिलोकी सन्तापयन्प्रबलसूर्यइवावभाति।

—उज्ज्वल० आनन्दचन्द्रिका—४६१

महिषीवृन्द में यह महाभाव की स्थिति अतिदुर्लभ होती है। इसकी अधिकारिणी मात्र व्रजदेवियां होती हैं। इस महाभाव के भी दो प्रकार हैं–रूढ और अधिरूढ। रूढ भाव वहां होता है जहां समस्त सात्त्विक अपनी चरम सीमा में उद्दीप्त हो उठते है।[२७] सम्भोग और विप्रलम्भ दोनों प्रकार के काव्यों में इसमें निम्न विशेषताएं पाई जाती है। एक क्षण के लिए भी विरह असह्य होता है—(निमेषासह्यता), आसन्न जनों के हृदयों को विलोडित करने की उसमें क्षमता होती है–(आसन्न-जनता-हृद्विलोडनम्) क्षण कल्प के समान और कल्प क्षण के समान बीतता है–(कल्पक्षणत्वम् क्षण-कल्पता), प्रिय की सुखमय अवस्था में भी आर्ति की आशंका के कारण खिन्नता पाई जाती है-(तत्सौख्येऽपि आर्तिशकया खिन्नता) मोह आदि के अभाव में भी पूर्ण विस्मृति रहती है-(मोहाद्यभावेऽपि सर्वविस्मरणम्)।[२८]महाभाव की रूढ दशा के अनुभावों में जब विशिष्ट उदात्तता आ जाती है तब वह अधिरूढ महाभाव होता है।[२९] अधिरूढ के भी दो भेद होते हैं–मोदन और मादन। मोदन में सात्त्विकों का उद्दीप्त सौष्ठव पाया जाता है।[३०] राधिकायूथ (राधावर्ग) में ही यह भाव आविर्भूत होता है, अन्यत्र नहीं। यही ह्लादिनी शक्ति का श्रेष्ठ सुविलास है। यही मोदन भाव विप्रलम्भ–दशा में मोहन कहा जाता है। विरह की विवशता के कारण इसमें समस्त सात्त्विक सूद्दीप्त हो उठते हैं।[३१] प्रिया के आलिंगन-पाश में बद्ध प्रिय का मूर्च्छित होना, स्वयं असह्य दुःख स्वीकार करके भी प्रिय के सुख की कामना, समस्त ब्रह्माण्ड को दुखी कर डालने की प्रवृत्ति, पशु-पक्षियों का रोदन, मृत्यु का वरण करके भी प्रिय के संग की तृष्णा और दिव्योन्माद आदि इसके अनुभाव होते हैं।[३२] मादन भाव ह्लादिनी का सार है। यह परात्पर है—सबसे परा मोहन दशा से भी आगे-सर्वोत्कृष्ट। यह सर्वभावोद्गमोल्लासी है अर्थात् रति से लेकर महाभाव–पर्यन्त समस्त भावों को उभार कर स्वयं भी अपनी पूर्णता में उल्लसित होता है। इस तरह प्रत्येक भाव महाभाव के साथ संश्लिष्ट है। वस्तुतः प्रत्येक भाव का जो पूर्ण विकास है वही महाभाव है। यह केवल कान्ताशिरोमणि राधा में सदा पाया जाता है।[33] महाभाव की यह चरमोत्कर्ष अवस्था है।

---

२७. उद्दीप्ता सात्त्विका यत्र स रूढ इति भण्यते। —वही, ४६३

२८. वही, ३६४, ४६५

२९. रुढोक्तेभ्योऽनुभावेभ्यो कामप्याप्ता विशिष्टताम्।
यत्रानुभावा दृश्यन्ते सोऽधिरूढोनिगद्यते॥ — उज्ज्वलनील० ४७२

३०. मोदनः स द्वयोर्यत्र सात्त्विकोद्दीप्त–सौष्ठवम्। —उज्ज्वल ४७३

३१. मोदनोऽयं प्रविश्लेषदशायां मोहनोभवेत्
यस्मिन्विरहवैवश्यात् सूद्दीप्ता एव सात्त्विकाः। —वही, ४७७

३२. अत्रानुभावा गोविन्दे कान्ताश्लिष्टेऽपि मूर्च्छना।
असह्य–दुःख–स्वीकारादपि तत्सुख–कामता।
ब्रह्माण्डक्षोभकारित्वं तिरश्चामपि रोदनम्॥
स्वभूतैरपि तत्संगतृष्णा मृत्युप्रतिश्रवात्।
दिव्योन्मादादयोऽप्यन्ये विद्वद्भिरनुकीर्तिताः॥ —वही, ४७७,४७८

यह है शृंगार रस—मधुर रस के स्थायीभाव रति की महाभाव दशा-पर्यन्त विकास की मनोवैज्ञानिक कहानी। भक्तिसाधना की चरम परिणति इसी महाभाव के विकास में होती है। रस के विशुद्धतम और पूर्णतम स्वरूप की प्रपत्ति और उपलब्धि बिना महाभाव के इस विकास के नहीं हो सकती और न स्वभाव-सिद्ध मधुर भाव को अपनाए बिना महाभाव की उच्च भूमिका तक पहुँचने की सम्भावना रहती है। मधुरभाव की प्राप्ति के बाद ही समस्त प्रतिबन्ध दूर होते हैं, विकास का मार्ग प्रशस्त हो जाता है और साधक की महाभाव तक यात्रा सरल हो जाती है। इस यात्रा को सम्पन्न करने वाला ही मधुर रस का आस्वाद ले पाता है। जैसी प्रीति की प्रगाढता और पारस्परिक अभिन्नता मधुरभाव में होती है, वैसी किसी भाव में नहीं हो पाती। अन्य भावों में प्रीति पर संकोच का आवरण पड़ा रहता है पर मधुरभाव में संकोच के लिए कोई स्थान ही नहीं होता। आत्मसमर्पण की पूर्णता भी यहीं दीखती है। इसीलिए धर्म. अर्थ, काम, मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थों के रहते हुए भक्तों को प्रेम नामक पंचम पुरुषार्थ की कल्पना करनी पड़ी—'प्रेमा पुमर्थो महान्।' उक्त विवेचन इस बात का साक्षी है कि चैतन्य-मत में रस-साधना ही प्रधान साधना रही है। यही मधुरा रति रूप स्थायीभाव विकास की चरम सीमा पर पहुंचकर अपने अनुरूप विभावानुभावसंचारि-सात्त्विकों द्वारा सहृदयों के हृदयों में पुष्टि प्राप्त कर मधुर रस-उज्ज्वल रस—का रूप धारण करता है।

वस्तुतः माधुर्यभाव की साधना 'सर्वं मधुरम्' का उत्कृष्ट उदाहरण है—नाम मधुर, लीला का धाम मधुर, साधना का प्रकार मधुर, साधना के फलस्वरूप मिलने वाला परिणाम-रमणीय रस मधुर, उस रस की अनुभूति मधुर, बाहर भीतर सभी कुछ मधुर। पर यह मधुरता सबकी सम्पत्ति नहीं, अच्छे अच्छों के लिए भी खतरे से खाली नहीं। इसमें पदपद पर एक बहुत बड़ी मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक अनुशासन की आवश्यकता है और आवश्यकता इस बात की है कि यह पूरा ध्यान रहे कि ये लीलाएं राधाकृष्ण की हैं, उन्हें अपनी लीला न समझ लिया जाय। अन्यथा साधक साधक न रहकर विषयी बन जाएगा। इस साधना में बहुत कुछ प्रक्रिया विषयी जैसी है, ऐसी स्थिति में जबतक साधक की सी निरपेक्षता बनी रहती है, सब कुछ ठीक चलता है, अन्यथा वही विषय-कर्दम और काम-पंक हाथ लगता है। कृष्ण-सुखैकतात्पर्या साधना का स्वसुखैकतात्पर्या वासना में पर्यवसान बहुत बड़ी भ्रान्ति है। इस बात की बहुत बड़ी आवश्यकता है कि इस साधना को बाह्याडम्बर से बचाया जाए तथा इसमें विलासकला के कुतूहल को उभरने न दिया जाए। यदि यह साधना शारीरिक और ऐन्द्रिय धरातल पर उतर आई—जैसा कि अनेक पन्थों और सम्प्रदायों की साधना-पद्धति में देखने को मिलता है—तो यह पूरी

---

३३. सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा॥ —उज्ज्वल ४९९

तौर से कलुषित हो जाएगी और मात्र प्राकृतजन की कामक्रीडा ही कही जा सकेगी। इस साधना के लिए एक विशेष प्रकार का मानसिक प्रशिक्षण अत्यन्त आवश्यक है, उसके अभाव में 'अमृतमपि विषायते'। चैतन्य महाप्रभु को 'यः कौमारहरः स एव हि वरः·······' श्लोक अत्यन्त प्रिय था। उसे उन्होंने अपनी पद्यावली में संगृहीत किया। उसे कहते-कहते वे हाल की दशा में हो जाते थे, पर उसी श्लोक को आचार्यों ने सामान्य शृंगार के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। भावना के अन्तर का ही यह परिणाम है। इसीलिए यह आवश्यक है कि भावना के अन्तर को ध्यान में रखा जाए और इससे बचा जाए कि साधक की भावना पर प्राकृतजन की भावना हावी न हो पाए। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि इस सर्वथा रमणीय मधुर-साधना में उसकी अनुकूल भावना के विपरिणाम के अनेक अवसर हैं। यह वह कृपाण की धार है जिस पर चल पाना हर एक का काम नहीं। वैसे तो सामान्यतः सभी साधनाओं में ख़तरा रहता है। कोई विरल साधक ही सिद्धि पाता है। गीता का निम्न कथन उक्त तथ्य को प्रमाणित करता है :—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ७/३

मधुरभाव की उपासना का पथ तो कहीं विषम है, पग-पग पर ठोकर लग सकती है। उससे बचने के लिए साधक को बड़ी सतर्कता की आवश्यकता है। यह उपासना सचमुच सर्वथा मधुर है, पर उसकी मधुरता की रक्षा कर पाना सामान्य जन के वश की बात नहीं। इसीलिए यह उपासना बड़ी कठिन है। जिस रसोपासना में विधि-निषेध के बन्धन न हो, शास्त्र-मर्यादा को जहां स्थान न मिला हो, परकीया भाव में जहाँ शृंगार का उत्कर्ष समझा जाता हो, जहाँ राधाकृष्ण की नित्य-मधुर लीलाओं का केवल गान ही नहीं, सखीभाव से समस्त स्थूलसूक्ष्म सेवा-परिचर्या करते रहना साधक का पावन कर्त्तव्य स्थिर किया गया हो, वहाँ सामान्य शक्ति का साधक यदि साधना-जाल में व्यस्त रहने के कारण उसी में उलझा रह जाए, उसी में रस लेता रहे और साध्य को भूल बैठे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस बात की आशंका इस मार्ग के प्रतिष्ठापकों को भी थी, इसीलिए उन्होंने स्वसुख के विवर्जन की शर्त लगा रखी थी और कृष्ण-सुख के ध्यान को साधना का सर्वस्व ठहराया था। पर हुआ वह नहीं, जो उन्होंने चाहा था। इस ऐकान्तिक और आत्यन्तिक प्रेम से प्रभावित होकर, पर उसकी स्वस्थ मूलभावना से असंपृक्त रहकर परवर्ती संस्कृत साहित्य एवं लोकभाषा-साहित्य में जिस अरुचिकर साहित्य का सर्जन हुआ, उसने देश में एक कामाक्त वातावरण पैदा कर दिया तथा भक्ति-पर्यवसायिनी उन समस्त चेतनाओं को मन्द कर दिया जिनसे भारतीय जीवन को दिव्य दीप्ति मिली थी। कहने का तात्पर्य यह है कि मूलभाव मन्द पड़ गया और प्रमुखता पाली उन गौण तत्त्वों ने जिन्हें प्रवर्तकों ने मधुर-साधना में काम्य नहीं माना था।

अष्टम परिच्छेद

शृंगार रस-सामग्री

किसी रस या भाव का प्रसंग हो, वहां रसों, भावों, उनकी नाना भूमियों एवं उनके नाना स्वरूपों के चित्रण से ही काम नहीं चलता, उन वस्तुओं का चित्रण भी आवश्यक होता है जिनके सहारे वे भाव हृदय में उठते हैं और जमते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कवि को भाव-पक्ष और विभाव-पक्ष दोनों का ध्यान रखना पड़ता है। ये दोनों वस्तुतः अन्योन्याश्रित हैं। भाव की स्थिति विभाव के बिना हो ही नहीं सकती। भाव तो एक बीज है जिसके उगने के लिए उपयुक्त भूमि चाहिए, वह उपयुक्त भूमि है विभाव-पक्ष। इसीलिए विभाव-पक्ष काव्य का सर्वप्रमुख पक्ष माना जाता है। भावों के प्रकृत आधार या विषय का वर्णन जबतक पूर्ण कल्पना के साथ ठीक नहीं उतरेगा, तबतक भावानुभूति सम्भव न हो पाएगी। विभाव की व्युत्पत्ति स्वयं बताती है कि विभाव के सहारे सहृदय सामाजिक के रत्यादिभाव रसास्वाद की उत्पत्ति के योग्य बन पाते हैं।[1] इसीलिए जिन व्यक्तियों, पदार्थों अथवा बाह्य विकारों के सहारे किसी व्यक्ति के हृदय में भाव जाग्रत होते हैं, उन्हीं को भावोद्‌बोध या रसाभिव्यक्ति का कारण कहते हैं–पारिभाषिक पदावली में उन्हीं का नाम विभाव है। इस विभाव के दो भेद किए गए हैं– आलम्बन और उद्दीपन। सृष्टि का नामरूपात्मक प्रत्येक पदार्थ आलम्बन विभाव हो सकता है। इसका सहारा पाकर अंकुरित हुए भावों को—उद्दीप्त करता है, उस पर शान चढ़ाता है, उसे उद्दीपन विभाव कहते हैं। इस विभाव-पक्ष के अन्तर्गत आलम्बन—(भाव का विषय) के अतिरिक्त आश्रय—(भाव का आस्वादयिता) का भी स्थान है। वह भावपक्ष में तो जा नहीं सकता, उस भावयित्री प्रतिभा-सम्पन्न सहृदय का स्थान विभाव-पक्ष में ही हो सकता है।

रसास्वाद की दृष्टि से भाव का अपना विशेष महत्त्व है। प्रत्येक भाव के मूल में वासना स्थित होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि रति, उत्साह, क्रोध, शोक, भय आदि पहले वासना रूप में ही होते हैं। वासना का मतलब है लम्बी परम्परा के अभ्यास से बने हुए संस्कार। भावदशा से पहले की स्थिति में मानव की क्रिया म जब प्रवृत्ति होती थी, विषयों के सम्पर्क–काल में ही होती थी। जैसी जो चीज

---

१. विभाव्यन्ते आस्वादांकुर–प्रादुर्भावयोग्या: क्रियन्ते सामाजिक–रत्यादिभावा:।
–एभि इति बिभाग:।

—साहित्यदर्पण–तृतीय परिच्छेद, श्लोक २९–वृत्ति

सामने आई, वह तदनुसार व्यवहार कर बैठा। जब भूख-प्यास ने सताया, वह तत्काल उनके मिटाने के प्रयत्न में लग गया, लड़ाई के अवसर आने पर अगर सबल हुआ तो विरोधी को कुचल दिया अन्यथा दुम दबाकर भाग खड़ा हुआ, कामावेग के क्षण में अपने पूरे पौरुष के साथ निर्वाध और निर्द्वन्द्व रूप से काम की भूख को मिटाने में प्रवृत्त हो गया। इस सब का संक्षेप यह है कि आहार-निद्रा-भय-मैथुन इन सबके सम्बन्ध में मानव की समस्त चेष्टा इन्द्रियज संवेदन पर ही निर्भर रहती थी। पशु की प्रवृत्ति और मानव की प्रवृत्ति में कोई विशेष अन्तर नहीं था। उसकी दृष्टि में ये सब शरीर-वेग ही थे। वह अपनी विकासावस्था की ओर बढ़ते-बढ़ते आरम्भ में केवल अन्नमय और प्राणमय कोश के रहस्य को ही हृदयंगम कर पाया था। मनोमय कोश की भावभूमि से उसका परिचय नहीं हुआ था। जैसे–जैसे वह विकास की ओर बढ़ता गया, धीरे-धीरे संस्कृत भी होता गया। रति, शोक, भय आदि जो उसमें अबतक वासना के रूप में थे, भावरूप में बदलने लगे। वह शरीर और इन्द्रिय स्तर से ऊपर उठा, उसमें मनन करने की प्रवृत्ति अंकुरित हुई, उसकी चेतना सजग हुई, भावों की ओर नहीं, उनके विषयों—आलम्बनों की ओर भी उसने ध्यान दिया और सबको अनन्त सौन्दर्य के उपकरणों से अभिमण्डित कर दिया। इससे बहुत बड़ा अन्तर यह पड़ा कि क्रिया विषय के सम्पर्क काल में ही नहीं—जैसा वासनामूलक प्रवृत्ति के समय में देखा जाता था—उसके आगे-पीछे भी होने लगी। मनुष्य किसी वस्तु को सामने पाकर ही नहीं, बल्कि उसके स्मरण और चिन्तन से भी उसकी आन्तर और बाह्य वृत्ति शासित होने लगी। उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भाव-प्रासाद वासना की नींव पर प्रतिष्ठित है, भाव अपने स्वरूप के साथ अपने विषय–आलम्बन की चेतना को आत्मसात् किए हुए है तथा उन आंगिक, आकृत्यात्मक एवं आचरणात्मक संकेतों को भी अपने साथ लेकर चलता है जो भावानुभूति के प्रत्यायक होते हैं। इस भाव–पक्ष में साक्षात् रूप से संचारी, स्थायी आदि सभी भाववर्ग और परम्परया सात्त्विक एवं अनुभाव भी समाविष्ट हैं। यद्यपि अनुभाव आश्रय में उत्पन्न होकर रत्यादि भावों को संसूचित करने वाले विकार हैं, उनसे भावों की गतिविधि का बहुत कुछ पता चलता है, वे आश्रय में स्थायी भाव के उद्‌बुद्ध होने के बाद पैदा होते हैं अतः उन्हें स्थायीभाव का कार्य ही कहना चाहिए, फिर भी भावों से सम्बद्ध होने के कारण उनका परिगणन भावपक्ष में ही संगत है, विभावपक्ष में नहीं। कुछ मनोवैज्ञानिक अनुभवों को भाव का कार्य न मानकर भाव का स्वगतभेद या अवयव ही मानते हैं। जो भी हो, रस के लिए इन दोनों पक्षों–विभाव-पक्ष और भाव-पक्ष की अनिवार्यता है। इन्हीं विभाव, अनुभाव, संचारियों के द्वारा सहृदय पुरुषों के हृदय में स्थित वासना रूप इत्यादि भाव अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त होते हैं। उक्त रसके अवयवों के परिगणन या संस्थापन मात्र से काम नहीं चलता, आवश्यकता इस बात की होती है कि उनका भावानुकूल सहृदयता के साथ उचित संयोजन किया जाए। नीचे शृंगार रस के सन्दर्भ में विभावादिकों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत है।

विभाव–

जो व्यक्ति, पदार्थ, बाह्यपरिवर्तन अथवा विकार मानसिक भावों को उत्पन्न करते हैं, उनको विभाव कहते हैं। ये ही विभाव रस को विशेष रूप से भावित–उत्पादित करते हैं,आस्वाद-योग्य बनाते हैं।[२] ये हैं रसाभिव्यक्ति के कारण, इन्हीं के आश्रय से रस प्रकट होता है। ये विभाव आश्रय में भावों को जागृत भी करते हैं, इसी कारण विभाव के दो भेद हुए हैं– आलम्बन और उद्दीपन। जिनका आलम्बन करके रस उत्पन्न होता है वे आलम्बन विभाव हैं तथा जो रस को उद्दीप्त करते हैं अर्थात् जिनका ज्ञान प्रकृष्ट रसजनक होता है वे उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं।[३] दूसरे शब्दों में रति आदि स्थायीभाव की जिनमें प्रतीति हो वे आलम्बन विभाव तथा जिनसे प्रतीति हो वे उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं[४]।

शृंगार रस में नायक और नायिका दोनों ही एक दूसरे के लिए आलम्बन होते हैं, क्योंकि दोनों ही दोनों की रति के आस्वाद के लिए हेतु होते हैं। किन्तु सामान्यतः आलम्बन का विवेचन करते हुए नायिका को ही आलम्बन समझा जाता है और नायक को रस का आश्रय मान लिया जाता है। वैसे विषय और आश्रय दोनों ही आलम्बन के भेद हैं। जिसके सहारे रति आदि स्थायीभाव जागृत होते हैं वह विषयालम्बन है तथा रति आदि स्थायीभावों का जो आधार है वह आश्रयालाम्बन है। साहित्यदर्पणकार परोढा तथा अननुरागिणी वेश्या को आलम्बन मानने के पक्ष में नहीं हैं।[५] उनकी दृष्टि से अननुरागिणी वेश्या को न निर्गुणों से द्वेष होता है और न गुणियों से राग। उसका अनुराग तो धन से होता है।[६] पर कभी–कभी वह सत्यानुरागिणी भी हो जाती है जैसे मृच्छकटिक में वसन्तसेना।[७] यह सत्यानुरागिणी वेश्या नायिका हो सकती है।

शृंगार रस के आलम्बन की दृष्टि से नायक और नायिका दोनों का वर्णन मिलता है, क्योंकि नायक में रहने वाली रति का आलम्बन नायिका होती है और नायिका- निष्ठ रति का आलम्बन होता है नायक। यही कारण है कि अनेक दृष्टियों

---

२. विशेषेण भावयन्त्युत्पादयन्ति ये रसास्ते विभावाः। —रसतरंगिणी, द्वितीय तरंग

३. यमालम्ब्य रस उत्पद्यते स आलम्बन–विभावः। यो रस मुद्दीपयति–प्रकृष्टरसजनकज्ञानविषयो भवति स उद्दीपनविभावः। —रसतरंगिणी–द्वितीय तरंग

४. विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते।
विभावो नाम स द्वेधालम्बनोद्दीपनात्मकः॥ —अग्निपुराण अ. ३३९

५. परोढां वर्जयित्वा तु वेश्यां चाननुरागिणीम्।
आलम्बन नायिकाः स्युः·················· —साहित्यदर्पण ३।१८४

६. निर्गुणानपि न द्वेष्टि न रज्यति गुणिस्वपि।
वित्तमात्रं समालोक्य सा रागं दर्शयेद् बहिः॥ - वही, ३।६८

७. एषापि मदनायत्ता क्वापि सत्यानुरागिणी। —वही, ३।७१

से नायक-नायिकाओं के अनेक भेद-प्रभेदों की चर्चा अनिवार्य हो गई। नाट्यशास्त्र में इन भेद-प्रभेदों का मूलरूप मिलता है। उनका सांगोपांग विकास पाया जाता है अग्निपुराण, दशरूपक, सरस्वती कण्ठाभरण, श्रृंगारप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसमंजरी, श्रृंगारमंजरी आदि में। अन्तिम दो ग्रन्थ तो श्रृंगार के आलम्बन पक्ष को लेकर ही लिखे गए हैं। इस तरह पहले श्रृंगार रस के अंग के रूप में वर्णित ये प्रसंग आगे चलकर अंगी के रूप में स्वतन्त्र ग्रन्थों में वर्णित होने लगे और आलम्बन मात्र के उन विशद वर्णनों को सहृदय सामाजिक के हृदय में यदि पूर्णतः रसानुभूति को न सही तो भावानुभूति को तो अवश्य ही उत्पन्न करने में समर्थ माना जाने लगा। परन्तु आचार्यों ने जितने मनोयोग और विस्तार के साथ नायिकाओं के भेदोपभेद, उनके अलंकार, नखशिख का वर्णन प्रस्तुत किया, उतने मनोयोग और विस्तार के साथ नायकों और उनकी स्थितियों का नहीं। नायक के साथ उनके सहायकों का जो वर्णन मिलता है, वह भी नायिकाओं के संदर्भ से पृथक् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे उनकी प्राप्ति के साधक रूप में ही अधिकतर वर्णित हुए हैं। ठीक भी है। लेखनी पुरुषों के हाथ में थी। उन्होंने बहुत कुछ अपने दृष्टिकोण से ही श्रृंगार के आलम्बन रूप में नारी की मूर्ति उरेही है। श्रृंगार के संयोग-पक्ष को लें या वियोग-पक्ष को, कालिदास, भवभूति जैसे दो चार कवियों को छोड़कर अन्य कवियों ने रति के अत्यन्त संकुचित और एकांगी दृष्टिकोण को ही लिया है। उसे तो वस्तुतः काम का स्वस्थ दृष्टिकोण भी नहीं कहा जा सकता। स्थूल श्रृंगार के ही अधिक स्थल मिलते हैं। नारी के पत्नी रूप के साथ भी पूर्ण न्याय नहीं हो पाया। पत्नी की अपेक्षा वह कामिनी–रमणी रूप में ही अधिक चित्रित हो पाई। विषयाक्ता रति के अतिरिक्त भी प्रेमकाल में नायिका के मन के और कोई धर्म भी होते हैं, इस ओर बहुत कम ध्यान दिया गया। संयोग में स्थूल रति के अतिरिक्त भी कोई भाव नायिका के हृदय में उठ सकता है या विप्रलम्भ-दशा में विरह-भाव की अतिरंजनाओं के अतिरिक्त रति-केन्द्र के चतुर्दिक् विकसित होने वाले जीवन के सम्बन्ध और कर्म के अनेक रूपों में उसकी (रति की) जो परिपूर्णता देखने में आती है, उसे काव्य में स्थान नहीं मिल पाया। नर-नारी के युग्म केन्द्रों के वे सम्वाद भी काव्य में बहुत कम मिलते हैं जिनसे प्रेम के विविध पक्षों पर प्रकाश पड़ता है। इन कमियों से श्रृंगार–पक्ष अपनी पूर्णता की मनोरतमा न पा सका। पुरुषतन्त्र समाज में नारी के सम्बन्ध में पुरुष की दृष्टि कुछ ऐसी ही हो सकती है। समाज में मान्यता-प्राप्त इस पुरुष-दृष्टि के दर्शन करने हों तो अभिनवभारती उठा लीजिए। वहां आचार्य अभिनव का यह फैसला देखने को मिलता है—नारी अन्न है, पुरुष अत्ता है। पुरुष भोक्ता होने के कारण प्रधान है। नारी उसकी भोग्या है। भोक्ता होने के कारण ही पुरुष को भोग्य के सम्बन्ध में पूरी स्वतन्त्रता है, जबकि भोग्या होने के कारण नारी सर्वथा परतंत्र है। भोक्ता को अधिकार है कि वह जिस या जितने भोग्य को चाहे, अपनाले। इसीलिए भोक्ता के नायिकान्तर-संयोग मे भी श्रृंगार-हानि नहीं होती, पर परतन्त्र

होने के कारण भोग्य का अन्य के साथ सम्मिलन होने पर श्रृंगार-भंग अवश्य हो जाता है।[८] इस सम्बन्ध में सभी आचार्य एकमत हैं। शार्ङ्गदेव भी स्पष्ट शब्दों में उक्तदृष्टि का समर्थन करते है।[९] उक्त दृष्टि को चाहे जितनी अच्छी दार्शनिक वेशभूषा से अभिमण्डित कर दिया जाए, उसके समर्थन में चाहे जितनी युक्तियां क्यों न दी जाएं, पर है यह पुरुष की कामलिप्सा का डिण्डिमघोष मात्र--नारी पर उसके पाशविक आधिपत्य की शाश्वत स्थापना के लिए एक वागुरामात्र--यह बात किसी भी निष्पक्ष व्यक्ति को स्पष्ट होते देर न लगेगी।

ये ही सब कारण है कि जहां काव्यादि में नारी के यौवन और प्रेम का प्रसंग आया है, वहां अधिकतर कामसूत्र की परम्परा ही अपनाई गई है। सौन्दर्य की बाह्य एवं दैहिक रेखाओं को महत्व अधिक मिला है, यौवन के अन्य मनोभाव तथा प्रेम के स्वस्थ और व्यापक आन्तरिक सौन्दर्य के उन्मेष की ओर कम ध्यान गया है। यह ठीक है कि श्रृंगार में रति और उसके विलास के बिना काम नहीं चलता, परन्तु उनके अतिरंजित चित्रण को ही सर्वस्व मान लेना जिससे युग्मजीवन के अन्य पक्ष तिरोहित हो जाएं, श्रृंगार रस की स्वस्थ एवं सन्तुलित अवतारणा के लिए हितावह नहीं। इन्हें इतना हाथ न फैलाने दिया जाए कि श्रृंगार से सम्बद्ध अन्य भावों और प्रसंगों को स्थान ही न मिले।

उद्दीपन विभाव का काम रस को उद्दीप्त करना--उनकी आस्वाद-योग्यता बढ़ाना है।[१०] इस उद्दीपन विभाव के दो भेद होते हैं। एक विषयगत दूसरा बहिर्गत। इन्हीं को दूसरे शब्दों में पात्रस्थ और बाह्य भी कहते हैं। पात्रस्थ उद्दीपन में पात्र के गुण, पात्र की चेष्टाएं और पात्र के अलंकार सम्मिलित हैं। बाह्य उद्दीपन को तटस्थ उद्दीपन भी कहते हैं। इस प्रकार उद्दीपन के क्रम चार प्रकार के ठहरते हैं।[११] शिंग भूपाल ने तटस्थ उद्दीपनविभाव में चन्द्रिका, धारागृह, चन्द्रोदय, कोकिलकाकली,

---

८. तत्र भोक्तृत्वे पुरुषस्य प्राधान्यम्। प्रमदायास्तु भोग्यात्वम्। प्राधान्यादेवच तस्य भोग्येनापरतन्त्रीकरणमिति नायिकान्तर-योगेऽपि न शृंगारहानिः। भोग्यस्य तु पारतन्त्र्यादेवान्यसम्मिलने शृंगार-भंगः। —नाट्यशास्त्र-अभिनवभारती, अ० ६।४६

९. भोक्ता प्रधानो भोग्या तु कान्ता तदुपसर्जनम्।
अतोनरान्तरासक्तिस्तस्याः शृंगारभंगकृत्।
भोक्तुस्त्वपरतन्त्रत्वात् कान्तान्तरमभंजकम्॥

—संगीतरत्नाकर ७।१४१३, १४१४

१०. उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये। —साहित्यदर्पण ३।१३१

११. उद्दीपनं तदुत्कर्षहेतुस्तत्तु चतुर्विधम्।
आलम्बन-गुणश्चैव तच्चेष्टा तदलंकृतिः।
तटस्थश्चेति विज्ञेयाश्चतुर्धोद्दीपनक्रमाः॥ —साहित्यरत्नाकर

मन्दमारुत, षट्पद, लतामण्डप, भूगेह, दीर्घिका, सरित्, प्रासाद, संगीतादि को मानाहै और सहृदय सामाजिक को कालानुरूप अन्य उपभोगोपयोगी प्रसंगों की ऊहाकरने का अधिकार भी दे दिया है।[१२] यह उपर्युक्त उद्दीपन-विभाववर्ग शृंगार रस की सामग्री है। आलम्बन विभाव के कारण उद्बुद्ध स्थायीभाव को उद्दीपन विभाव और उद्दीप्त करके रसत्व को पहुंचाते हैं। भरत भी यह मानते हैं कि ऋतु, माला, आभूषण, आलम्बन के प्रियजन, गान्धर्व संगीतादि, काव्य, उपवनगमन और विहार आदि से शृंगार रस प्रकर्ष को प्राप्त होता है।[१३] जहां ये वर्णित नहीं होते हैं, वहां इनका ऊहन कर लिया जाता है और ऊहित चन्द्रचन्दनादि भी उद्दीपन विभाव ही समझे जाते हैं।

इस तरह प्रकृति का उपयोग आरम्भ से ही रस को उद्दीप्त करने के लिए आवश्यक समझकर किया जाता रहा है। उससे रस-संवेदना को तीव्रता मिलती रही। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि कुछ रससिद्ध कवियों में यह परम्परा बड़े नैसर्गिक रूप में चलती रही। उद्दीपन रूप में प्रस्तुत किए गए प्राकृतिक दृश्यों से जो प्रभाव उत्पन्न होता है, उसका सम्बन्ध आलम्बन के प्रमुख भाव को उद्दीप्त करना होता है, फिर भी वह प्रकृतिवर्णन इतना मनोरम और स्वाभाविक होता था कि सहृदय सामाजिक के लिए आलम्बन रूप से वर्णित प्रकृति का भी काम करता था। वाल्मीकि रामायण में लक्ष्मण के द्वारा किया गया हेमन्त के अन्तर्गत पंचवटी का वर्णन तथा वर्षा और शरद् का वर्णन राम के लिए तो उद्दीपन है ही, परन्तु वर्णन की मनोरमता, भव्यता और नैसर्गिकता के कारण वह सामाजिक के लिए आलम्बन रूप में किए गए प्रकृति-वर्णन का भी काम करता है। पात्र और सामाजिक दोनों की दृष्टि से आलम्बन रूप में किए गए प्रकृति-वर्णन के पर्याप्त उदाहरण वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति के नाटकों से उद्धृत किए जा सकते हैं। पर आगे चलकर आलम्बन रूप से किया गया प्रकृति-वर्णन अत्यन्त विरल हो गया। उद्दीपन रूप में भी किया गया प्रकृति-वर्णन अत्यन्त अस्वाभाविक, अलंकारभाराक्रान्त तथा वस्तु-परिगणनपरक रह गया। उद्दीपन रूप से किए गए प्रस्तुत प्रकृति-वर्णन से जहां पहले रस और भाव उद्दीप्त होता था, वहां वह वर्णन बहुत कुछ बाजीगर के तमाशे-सा

---

१२. तटस्थाश्चन्द्रिका धारागृहचन्द्रोदयावपि।
कोकिलालापमाकन्दमन्दमारुतषट्पदाः।
लतामण्डप–भूगेह–दीर्घिका जलदारवाः॥
प्रासादगर्भसंगीतक्रीडादिसरिदादयः॥
एवमूह्या यथाकालमुपभोगोपयोगिनः॥

—रसार्णव सुधाकर, प्रथमविलास १८७/१८८/१८९

१३. ऋतुमाल्यालंकार प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः।
उपवनगमनविहारैः शृंगाररसः समुद्भवति॥ —नाट्यशास्त्र ६।४७

हो गया। कवियों में प्राकृतिक सूक्ष्म व्यापार का निरीक्षण मन्द पड़ता गया, फलस्वरूप प्राकृतिकता का स्थान कृत्रिमता ने ले लिया। फिर उन वर्णनों में रस और भाव को उद्दीप्त करने की उतनी क्षमता न रही। समस्त वर्णन उक्ति-चमत्कार मात्र रह गया जिससे पाठक का अधिकतर कतूहलवर्धन और मनोरंजन ही होता था। यह है उद्दीपन विभाव का अपने उच्चस्तर से उतार जो रसोद्दीप्ति न कर सकने के कारण सामाजिक की रसानुभूति में बाधक ही रहा।

अनुभाव–

अनुभावों से ही सामाजिकों को रत्यादि स्थायीभाव की अनुभूति होती है। ये वे भावसंसूचनात्मक—चित्तस्थित भावों के अवबोधक विकार हैं जो आश्रय में उदित होकर सामाजिकों को यह अनुभव कराते हैं कि अमुक पात्र में अमुक स्थायीभाव उद्‌बुद्ध हो रहा है। वे वस्तुतः रत्यादि स्थायीभाव के उदित होने पर दृष्टिगोचर होते हैं, अतः बाद में होने के कारण-(अनु पश्चाद् भवन्ति)-अथवा लिंगनिश्चय के अनन्तर लिंगी—रस का भावन कराते हैं, अर्थात् गमक होते हैं अतः अनुभाव कहे जाते हैं।[१४] वैसे भावोत्पत्ति के परिणामस्वरूप उदित होने के कारण ये कार्य ही हुए फिर भी नाटक-काव्यादि में सामाजिक को जिस अलौकिक रस की चर्वणा होती है, वह अनुभाव के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती, अतः उन्हें कारण भी माना जाता है। इनके कायिक (मनोभावों के अनुसार शारीरिक चेष्टाएं), मानस (भावानुकूल मनमें हर्ष-विषाद आदि का उन्मीलन), आहार्य (भावानुकूल वेशरचना), वाचिक (उक्तिरूप में भावाभिव्यंजक) एवं सात्त्विक भेद होते हैं।

कायिक शरीर पर उद्‌भासित होने वाली वह भावविक्रिया है जिसमें भुजक्षेप, भ्रू–विक्षेप, कटाक्ष, मधुरस्मित, नीवीस्रंसन, उत्तरीयस्रंसन, धम्मिल्लस्रंसन, गात्रमोटन, जृम्भा, निश्वास, पर्यंक-विलुठन, संगीतनृत्यादि, लोक लज्जा के त्याग के फलस्वरूप नाना चेष्टाओं तथा क्रियाओं में प्रवृत्ति देखी जाती है। वाचिक में विशेषतः चाटुप्रिय वचन, विलाप, संलाप, प्रलाप, अनुलाप (किसी चीज़ को बार-बार कहना), अपलाप पूर्वोक्त का अन्यथायोजन), संदेश के रूप में स्ववार्ता-प्रेषण, मधुर उपदेश, व्याज से आत्माभिलाष का कथन आदि अनेक प्रसंग आते हैं। सात्त्विकों का इसी प्रकरण में आगे विस्तार से वर्णन प्रस्तुत है। इसी को भरत वागंगसत्त्वाभिनयरूप में वर्णित करते हैं। अभिनय में वाणी और अंगोपांग के सहारे ही समस्त भावाभिव्यक्त हो। क्योंकि भावोद्‌भूति के परिणामस्वरूप वाणी और विविध अंगों एवं उपांगों पर जो प्रतिक्रिया देखी जाती है वही तो रसानुभूति की जनक होती है और उसी से अमूर्त आन्तर भाव रूप ग्रहण करते हैं। भरत ने अभिनय की दृष्टि से ही विवेचन किया

---

१४. अनु लिंगनिश्चयात् पश्चाद्‌भावयन्ति गमयन्ति लिंगिनंर समित्यनुभावाः स्तम्भादयः।

—नाट्यद।

है अतः वागंगाभिनय के द्वारा अर्थों के अनुभावन की बात कही है।[१५] उन्होंने विभाव-अनुभाव दोनों के लिए यह शर्त भी लगाई है कि उन्हें लोक-स्वभावसंसिद्ध और लोक-यात्रानुगामी होना चाहिए। यदि यह स्थिति न हुई तो न तो वे रस को उन्मिषित करने में सहायक होंगे और न उनसे सहृदय सामाजिक अपना साधारणीकरण कर पाएगा। शिंगभूपाल और शारदातनय ने इन्हीं को गात्रारम्भानुभाव, चित्तारम्भानुभाव, बुद्धयारम्भानुभाव तथा वागारम्भानुभाव नाम दिया है और सात्त्विकों को भावरूप से पृथक् वर्णित किया है। विश्वनाथ अनुभावों में स्त्रियों के समस्त अंगज अयत्नज एवं स्वभावज अलंकार, अनुभावरूप सात्त्विक भाव तथा रत्यादिभावों के प्रभाव में उत्पन्न विविध चेष्टाओं को भी सम्मिलित करते है।[१६] अनुभावों में स्त्रियों के अलंकारों के परिगणन से यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल आश्रय की चेष्टाएं ही अनुभाव नहीं हैं, उसमें आलम्बन की चेष्टाएं भी सम्मिलित हैं। वैसे शृंगार रस मे नायक-नायिका दोनों ही एक दूसरे के लिए आलम्बन और आश्रय होते हैं, अतः दोनों की चेष्टाएं आश्रय की चेष्टाएं ही समझी जा सकती हैं, फिर भी भानुदत्त ने उद्दीपन और आलम्बन के अन्तर्गत पाई जाने वाली चेष्टाओं में स्पष्ट विभेद किया है। वे उन चेष्टाओं और कार्यों को अनुभाव कहते हैं जिनसे रत्यादि का बाह्य प्रकाशन होता है– जिनसे आलम्बन या आश्रय के हृदयगत भाव प्रकट होते हैं तथा उन चेष्टाओं को उद्दीपन मानते हैं जिनसे रसोद्दीपन होता है तथा जो आलम्बन, की शोभादायक होती हैं।[१७]

अनुभाव–अलंकारों को जिनका कायिक और मानसिक अनुभावों से सम्बन्ध है, मुख्यतः स्त्रियों की भावाभिव्यक्ति से सम्बद्ध माना गया है। जो कुछ थोड़े से अलंकार पुरुषों से सम्बद्ध हैं, उनसे उनके भावों की भी अभिव्यक्ति होती है। नायिकाओं के अट्ठाइस अलंकार शृंगाराभिव्यंजक हैं तथा सत्त्वज होने के कारण सात्त्विक भी कहे जाते हैं। इनका उनके यौवन से सम्बन्ध है। इनमें तीन अंगज हैं, सात अयत्नज हैं तथा अठ्ठारह स्वभावज हैं। 'भाव' (निर्विकार हृदय में काम का प्रथम उन्मेष), 'हाव' (हृद्गत रतिविकार का ईषत् प्रकाशक) और 'हेला' (अंगप्रत्यंग का एक ऐसा विकार जो अपनी स्फुटता के कारण सब पर प्रकट हो उठे), ये अंगज अलंकार हैं। भाव ही कुछ स्पष्ट होकर हाव होता है और हाव कुछ और तीव्र होकर हेला का रूप धारण करता है। इन अलंकारों के योजन से कवि नायक-नायिका में

---

१५. वागंगाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
वागंगोपांगसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः॥ —नाट्यशास्त्र ७।५

१६. उक्ताःस्त्रीणामलंकारा अंगजाश्च स्वभावजाः।
तद्रूपाः सात्त्विकाभावास्तथाचेष्टापरा अपि॥ —साहित्यदर्पण ३।१३३–३४

१७. ये रसाननुभावयन्ति अनुभवगोचरतां नयन्ति तेऽनुभावा कटाक्षादयः करणत्वेन। कटाक्षादीनां करणत्वेनानुभावकत्वं विषयत्वेनोद्दीपनत्वम्। —रगतरंगिणी–तृतीय तरंग

रति-बीज के अंकुरण, शनैः शनैः विकास और व्याप्ति की सूचना देता है। यह सूचना विभिन्न अंगों से ही दी जाती है, अतः इन्हें अंगज कहते हैं।

अयत्नज अलंकार हैं 'शोभा' (रूप, यौवन, लालित्य, सुखोपभोग आदि से सम्भूत शरीर-सौन्दर्य), 'कान्ति' (मन्मथोद्भेद से अतिसमृद्ध शोभा), 'दीप्ति' (वय, भोग, देशकाल गुण आदि के कारण अतिविस्तीर्ण कान्ति), 'माधुर्य' (सभी स्थिति में रमणीयता की अक्षुण्णता), 'प्रगल्भता' (नाट्यकला का दृष्टिकोण प्रधान होने के कारण भरत की दृष्टि में सभी अवस्था में अभिनय तथा कथन में विक्षोभ का अभाव, अन्य आचार्यों की दृष्टि से कामकलाओं में नायक नायिकाओं की प्रगल्भता जोकि प्रौढा और सामान्य नायिकाओं में ही सम्भव है), 'औदार्य' (अमर्ष, ईर्ष्या, क्रोध आदि के अवसरों पर भी परुषवचन से विरति—सर्वावस्थानुगामिता) तथा 'धैर्य' (चंचलता तथा अहंकार से शून्य सहज मानसिक स्थिति)। इन अयत्नज अलंकारों से नायिका के शरीर तथा स्वभाव की मोहकता बढ़ती है। ये यत्नसाध्य नहीं होते, नैसर्गिक रूप से उद्भूत होते हैं। इनका अभ्यास द्वारा सहज प्रकाशन नहीं किया जा सकता।

स्त्रियों के स्वभावज अलंकारों का प्रथम वर्णन भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है। वहां वे संख्या में दस हैं। परवर्ती रचनाओं में उनकी संख्या कुछ और बढ़ी। विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में वह अट्ठरह पर पहुंच गई। इनसे नायिकाओं के प्रभाव की मोहकता बढ़ती है तथा ये संयोग-शृंगार की विभिन्न अवस्थाओं में उनकी आन्तरिक भावनाओं को प्रकाशित करते हैं। ये स्वाभाविक होते हैं इसीलिए स्वभावज अलंकार कहे जाते हैं। कहने का मतलब यह है कि ये अलंकार बहुत कुछ अभ्यास-साध्य होते हैं- अयत्नजों-जैसे नहीं होते। अयत्नजों का तो अभ्यास नहीं किया जा सकता। इनके वास्तविक संयोजन से शृंगार-रस अपनी सम्मोहक समृद्धि के साथ उन्मिषित होता है तथा उसकी अनुभूति तीव्र, हृदयावर्जक एवं प्रह्लादन होती है। शृंगाररस की यथार्थवादी भूमिका के लिए इनका संयोजन अत्यन्त आवश्यक है। शृंगार रस का सम्यक् स्वरूप इन्हीं से उन्मीलित होता है। वस्तुतः रसोन्मीलन में अनुभवों का बहुत बड़ा हाथ है। शृंगार रस में इनका विशेष महत्त्व भी है, क्योंकि इनका पूर्ण परिष्कार उसी में देखा जाता है।

इन स्वभावज 'अलंकारों में' प्रथम है 'लीला'। रम्यवेश तथा क्रिया आदि से प्रिय के अनुकरण को 'लीला' कहते हैं। प्रणय के सहज बन्धन में बँधे नायक-नायिकाओं के लिए एक दूसरे की आंगिक चेष्टाओं, क्रिया-कलापों और वेशभूषा आदि का अनुकरण, स्वाभाविक है। प्रिय-परिहास इसका अनुभाव है। प्रिय को देखकर विभिन्न अंगों की विविध चेष्टाएं 'विलास' में देखने को मिलती हैं। उठने, बैठने, चलने आदि में विशेषता तथा मुखनेत्र आदि की विलक्षण चमत्कार पूर्ण चेष्टा

परिलक्षित होती है। स्वेद, रोमांच आदि सात्त्विकों का उदय इस अवसर पर होता है। इसमें अभिलाष, वैदग्ध्य-प्रकाशन आदि अनुभाव प्रकट होते हैं। अपने सौभाग्य पर गर्व होने के कारण नायिका का कुछ अनादर के साथ अपनी वेशरचना में प्रवृत्त होना 'विच्छित्ति' है। कुछ आचार्यों ने सौन्दर्यवर्धक थोड़ी-सी सौन्दर्य-रचना को विच्छित्ति बताया है। इसमें गर्व, मान और क्लेश इनका प्रकाश करना अनुभाव है। गर्वाधिक्य और मानाधिक्य के कारण इच्छित वस्तु का अनादर 'बिब्बोक' है। गर्व नायिका को यौवन, धन, कुल किसी कारण हो सकता है, पर सौभाग्य—गर्व विशेष रूप से अभिप्रेत है। यह गर्व व्यापक रूप से मन में प्रिय या इष्ट वस्तु के प्रति आकर्षण का पोषण करता है। अवहित्था, दुर्वचन, दुष्प्रेक्षण आदि इसके अनुभाव है। प्रिय-समागम से उत्पन्न प्रसन्नता तथा प्रेम की अधिकता के कारण हर्ष, गर्व, अभिलाष, श्रम, हास, रोष, भय आदि विपरीत भावों का प्रदर्शन 'किलकिंचित' कहलाता है। विपरीत भावों का यह प्रदर्शन सुखद होता है। कर्त्तव्य-अनिर्धारण आदि इसमें अनुभाव होते हैं। प्रिय—सम्बन्धी बातों के चलने पर या उसके दिखाई देने पर नायिका की अनुरागद्योतक चेष्टा या 'अंगड़ाई' 'मोट्टायित' है। अन्तःकरण के प्रेम का कथन और संकेत-निवेदन आदि इसके अनुभाव हैं। 'कुट्टमित' में आन्तरिक हर्ष के अवसर पर कृत्रिम रोष देखने में आता है। नायिका को नायक के द्वारा किए गए अंगस्पर्श से आन्तरिक हर्ष होता है फिर भी वह अपने सिर हाथ आदि का निषेध-सूचक विधूनन करती है। वह उसकी अनिच्छा या रोष कृत्रिम होता है। कपट से शरीर का संकोच और कपट-सीत्कार आदि इसके अनुभाव हैं। प्रिय के आगमन पर उत्पन्न हर्ष, मद और राग के अतिरेक के कारण नायिका का सम्भ्रमवश वस्त्राभूषण का विपरीत स्थान पर धारण करना 'विभ्रम' कहलाता है। प्रिय और सखी का परिहास आदि अनुभाव इसमें देखे जाते हैं। 'ललित' में अंग—प्रत्यंग का सुकुमार विन्यास देखने को मिलता है। नायिका की ये सुकुमार आंगक चेष्टाएं उसका सौन्दर्य बढ़ाती हैं और प्रिय को वश में करने के लिए अमोघ सिद्ध होती हैं। प्रियवशीकरण, लोकानुराग और चमत्कार इसमें अनुभाव होते हैं। लज्जा, मान, ईर्ष्यादि के कारण नायिका जब अपनी बात नहीं कहती केवल चेष्टा से ही व्यक्त कर देती है या कभी-कभी व्यक्त भी नहीं कर पाती, उसे 'विहृत' कहते हैं। अन्यथा चेष्टाएं, अन्यथा व्यवहारादि इसके अनुभाव होते हैं। उक्त स्वभावज अलंकारों का नारियों की शृंगार चेष्टाओं से ही सम्बन्ध है। पुरुषों मे तो ये औपाधिक होते हैं। इनमें लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, ललित ये पांच शरीरमात्राश्रित हैं। मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, विहृत ये चार आन्तर अर्थात् मनोमात्राश्रित हैं। किलकिंचित शारीर और आन्तर दोनों हैं। यह उभयसंकीर्ण है। अभिप्राय यह है कि इसका श्रम शारीर है तथा अभिलाष आन्तर है। इसमें पाए जाने वाले गर्व, स्मित, हर्ष, भय और क्रोध को स्वरूप से किलकिंचित माना जाए तब तो आन्तर ठहरते हैं पर यदि फल से किलकिंचित माना जाए तो शारीर ठहरते हैं। इसीलिए यह

उभयसंकीर्ण माना जाता है। भरत ने उपर्युक्त अलंकारों को ही स्वभावज अलंकारों में माना है। यह संख्या सर्वमान्य रही है। धीरे धीरे इसमें वृद्धि होती रही। विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में इनके अतिरिक्त आठ स्वभावज अलंकार और माने गए हैं। वे हैं– मद तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतुहल, हसित, चकित और केलि। सौन्दर्य, सौभाग्य तथा यौवन आदि के कारण उत्पन्न गर्व ही 'मद' है। इसमें न बिब्बोक की तरह प्रियतम के तिरस्कार की भावना पाई जाती है और न अपने मनोभावों को छिपाने का आग्रह दीखता है। नायिका अपनी अविचल भावस्थिति में होती है। नायक जरूर उसके सौन्दर्य से अत्यधिक प्रभावित रहता है। प्रिय के वियोग में की गई कामावेश की चेष्टाएं 'तपन' हैं। केवल विरहज्वर ही तपन नहीं है, विरहजनित अन्य चेष्टाएं भी इसमें समाहित हैं। स्वभावज अलंकारों में यही एक ऐसा अलंकार है जिसका वियोग शृंगार से सम्बन्ध है। अन्य सब संयोग शृंगार की सीमा में आजाते हैं। जानी-पहिचानी वस्तु के सम्बन्ध में अनजान बनकर प्रियतम से पूछताछ 'मौग्ध्य' है। मौग्ध्य की इस स्थिति को अकृत्रिम सरलता भी कह सकते हैं। यह नायिका का एक ऐसा चातुर्य है जो आकर्षक होने के नाते अपना विशेष महत्त्व रखता है। प्रियतम के निकट वस्त्राभूषणों की अर्ध रचना, अकारण इधर-उधर देखना, अकस्मात् प्रिय से रहस्यमय बातों को कह जाना 'विक्षेप' कहलाता है। रम्यवस्तु के अवलोकन से उत्पन्न मन की चंचलता 'कुतुहल' है। यह भोली-भाली नायिका की वह भंगिमा है जो उस समय उदित होती है जब वह किसी आश्चर्यजनक वस्तु को बड़े विस्मय के साथ देखती है। इससे नायिका की रुचि की सूचना मिलती है, अतः उसके प्रिय को यह भली लगती है। यौवन के आगमन पर नायिका का जबतब अकारण हंसना 'हसित' होता है। अकारण प्रिय के आगे भयभीत होना 'चकित' है। प्रेमविहार में प्रियतम के साथ की गई नायिका की क्रीडा 'केलि' कही जाती है।

इन संख्याओं में यत्रतत्र वृद्धि भी हुई है। भोज ने केलि के अतिरिक्त एक 'क्रीडित' अलंकार और माना है जिसमें बाल्यकाल, कौमार और यौवन के साधारण विहार को सम्मिलित किया है। इस प्रसंग में इन अलंकारों की संख्या और उनके अवान्तर भेदों का उतना महत्त्व नहीं है जितना अनुभावों के सन्दर्भ में इनके संयोजन से सुपुष्ट शृंगार रस की अभिव्यक्ति का है। इनके संयोजन से शृंगार रस अपने समस्त अवयवों के साथ प्ररूढ होता है तथा अपने सांगोपांग, सर्वातिशायी, स्वाभाविक विकास–समृद्धि के साथ अनुभूति का विषय बनता है। श्रव्यकाव्य में तो इनके विकास के लिए विशेष कविकौशल की अपेक्षा होती है। क्योंकि उनमें अकृत्रिमता के साथ जबतक इन अलंकारों का अपेक्षित विविधता के साथ संयोजन न होगा, रस सुपुष्ट होकर अभिव्यक्त न हो पाएगा। दृश्यकाव्य में यदि कुछ कमी रह जाती है तो उसकी पूर्ति अभिनय से भी हो जाती है।

सात्त्विकों का विवेचन आचार्यों ने भाव और अनुभाव दोनों दृष्टियों से किया है। व्यापक दृष्टि से देखने पर सभी भाव (एकोनपंचाशत् भाव—तेंतीस संचारी, आठ स्थायी तथा आठ सात्त्विक) सत्त्व-सम्भूत—मनःप्रभव होने के कारण सात्त्विक कहे जा सकते हैं। स्तम्भ आदि विकार भी सत्त्व-सम्भूत होते हैं, अतः उन्हें भी सात्त्विक कहा जाता है। चूंकि सभी भाव सत्त्वमूल होने के कारण सात्त्विक कहे जाते हैं, ये स्तम्भ-स्वेदादि भी सत्त्वैकमूलक होने के कारण सात्त्विक भाव ही हुए। दूसरी ओर भावों के संसूचक होने के कारण अनुभावों की तरह ये आश्रय के विकार भी हैं, अतः अनुभाव भी कहे जाते हैं।[१८] सभी आचार्य इनके इस द्वैरूप्य को स्वीकार करते हैं। ये संख्या में आठ हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय।

आचार्यों द्वारा की गई सात्त्विक शब्द की व्युत्पत्ति के प्रसंग में सत्त्व के प्रमुखतः तीन अर्थ देखने में आते हैं। अधिकतर आचार्य सत्त्व से मनः-प्रभव अर्थ ही लेते हैं। सन्दर्भ चाहे नाट्य का हो या काव्य का, सत्त्व का अधिकतर यही अर्थ स्वीकृत हुआ है। भरत के अनुसार सत्त्व मनःप्रभव होता है। समाहित मन की स्थिति में ही उसकी निष्पत्ति हो पाती है। इसी कारण सात्त्विकों का अभिनय भी विशेष मनोवेग से ही सम्भव है। चित्तविक्षेप की स्थिति में कोई व्यक्ति इनका अभिनय नहीं कर सकता।[१९] दशरूपक के अनुसार भी सत्त्व अन्तःकरण का एक विशेष धर्म ठहरता है। यह हृदय की वह सहानुभूतिपूर्ण स्थिति है जिसमें भावक दूसरों के सुखदुःख में अपने अन्तःकरण को अत्यधिक अनुकूल व एकतान कर लेता है।[२०] विश्वनाथ भी सत्त्व को रस-प्रकाशक आन्तर धर्म मानते हैं।[२१] अधिकतर आचार्य सात्त्विकों को सत्त्वैकमूलक—मानसजन्य मानने के पक्ष में हैं। पहले भावरूप में स्तम्भादि सात्त्विक उद्‌बुद्ध होते हैं। इनकी अन्य भावों के समान ही यह अमूर्तावस्था है। इसे इनकी आन्तर अवस्था कहा जा सकता है। इनके उन्मेष के अनन्तर इन्हीं

---

१८. सर्वेऽपि सत्त्वमूलत्वाद् भावा यद्यपि सात्त्विकाः।
तथाप्यमीषां सत्त्वैकमूलत्वात् सात्त्विक-प्रथा॥
अनुभावाश्च कथ्यन्ते भाव-ससूचनादपि।
एवं द्वैरूप्यमेतेषां कथितं भावकोविदैः॥

—रसार्णव सुधाकर, प्रथम विलास

१९. सत्त्वं मनःप्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते। मनसः समाधौ सत्त्व-निष्पत्तिर्भवति। तस्य च योऽसौ स्वभावो रोमांचाश्रुवैवर्ण्यादिलक्षणः स नशक्योऽन्यमनसा कर्तुमिति।

—नाट्यशास्त्र, अध्याय ७

२०. परगत दुःखहर्षादिभावनायामत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं सत्त्वम्—एतदेवास्य सत्त्वं यतः खिन्नेन प्रहर्षितेनचाश्रुरोमांचादयो निर्वर्त्यन्ते—तेन सत्त्वेन निर्वृत्ताः सात्त्विकाः।

—दशरूपक ४।४ अवलोकवृत्ति

२१. सत्त्वं नाम स्वात्मविश्रामप्रकाशकारो कश्चन आन्तरो धर्मः।

—साहित्यदर्पण ३।२६४

के कारण आश्रय के शरीर पर कुछ विशेष विकार परिलक्षित होते हैं। यह है उन आन्तर भावों की बाह्यावस्था—कार्यावस्था। पहले जो आन्तर धर्म थे वे अब शरीर-धर्म हो गए। आन्तरधर्म-काल में ये ही स्तम्भादि भाव हैं और शरीरधर्म-काल में इन्हीं को अनुभाव कहते हैं। भानुमिश्र रसतरंगिणी में सत्त्व की व्याख्या भिन्न प्रकार से करते हैं। वे पूर्वाचार्यों के मत से परिचित ज़रूर हैं, पर सहमत नहीं हैं। उनकी दृष्टि में सत्त्व शब्द प्राणि वाचक है, अतः वे सत्त्व का अर्थ जीवशरीर लेते हैं। स्तम्भ आदि जीवशरीर के धर्म हैं, अतः सात्त्विक हैं। अन्य भाव स्थायी और संचारी आन्तर होते हैं अतः वे शरीर-धर्म नहीं कहे जा सकते।[22] प्रस्तुत स्थल पर स्तम्भादिकों की शरीरधर्मता पर जितना बल दिया गया है, उतना उनकी भावरूपता पर नहीं। सात्त्विक भाव और अनुभाव दोनों ही होते हैं, उक्त विवेचन से इस पर प्रकाश नहीं पड़ता। विवेचन स्पष्ट होने पर भी एकांगी रह गया है। हेमचन्द्र सत्त्व का अर्थ प्राण बताते है। स्थायीभाव ही प्राण तक पहुंच कर स्तम्भादि सात्त्विकों का रूप धारण करते हैं। प्राण में पृथ्वी का भाग प्रधान होने पर स्तम्भ, जल का भाग प्रधान होने पर अश्रु, तेज की प्रधानता होने पर वैवर्ण्य, आकाश-भाग के प्रधान होने पर प्रलय—गतचेतनत्व, वायु के मन्द, मध्य तथा उत्कृष्ट आवेश से क्रमशः रोमांच, वेपथु तथा स्वरभंग होता है।[23] ये स्तम्भादि शरीर-धर्म भी हैं और आन्तर धर्म भी हैं। ये शरीर-धर्म बाह्य स्तम्भादि आन्तरिक स्तम्भादि की व्यंजना करते हैं। यह विवेचन भरतादि आचार्यों के विवेचन से कई अंशों में साम्य रखता है। अन्तःकरण की प्रक्रिया यहां भी अपनाई गई है तथा सात्त्विकों की भावता और अनुभावता यहां भी ज्यों-की-त्यों अक्षुण्ण है। प्राणशक्ति के संयोजन से यहां विवेचन में नवीनता ज़रूर आई है। प्राण का विक्रिया को प्राप्त होकर देह को भिन्न प्रकार से विक्षुब्ध करना और उसके फलस्वरूप देह में स्तम्भादि भावों का उदय जैसे प्रसंग शरीर-क्रिया-विज्ञान के आधार पर वर्णित होने के कारण विवेचन की वैज्ञानिकना अवश्य बढ़ाते हैं। भाव होते हुए भी सात्त्विक व्यभिचारियों की श्रेणी में नहीं आते। व्यभिचारियों में कुछ ऐसे भी हैं जो बाह्यकारणों से उद्भूत होते हैं जैसे ग्लानि, आलस्य, श्रम और मूर्च्छा किन्तु सात्त्विक भाव केवल मानस-जन्य होते हैं। सात्त्विक

---

२१. सत्त्वशब्दस्य प्राणिवाचकत्वात् अत्र सत्त्वं जीवशरीरम्। तस्य धर्माः सात्त्विकाः। इत्थं च शारीरभावाः स्तम्भादयः सात्त्विका भावा इत्यमिधीयन्ते। स्थायिनो व्यभिचारिणश्च भावा आन्तरतया न शरीर-धर्मा.।

—रसतरगिणी-चतुर्थ तरंग

२३. प्राणात्मकं वस्तु सत्त्वं तत्रभवाः सात्त्विकाः। पृथ्वीभागप्रधाने प्राणे स्तम्भः। जलभागप्रधानेतु वाष्पः। तेजस्तु प्राणवैभिन्यात् उभयथा तीव्रातीवत्वेन प्राणानुग्रह इति द्विधा स्वेदो वैवर्ण्य च। आकाशानुग्रहे गतचेतनत्वं प्रलयः। वायु-स्वातन्त्र्ये तु तस्य मन्दमध्योत्कृष्टावेशात् त्रेधा रोमांचवेपथुस्वरभगभावेन स्थितिः।

—काव्यानुशासन, प्रथम संस्करण १९३८, पृ० १४४–१४६

अनुभाव भी सात्त्विक भावों से उद्भूत होने के कारण एक अपनी विशेष श्रेणी रखते हैं। उदाहरण के लिए अश्रु और स्तम्भ को लीजिए। सात्त्विक अश्रु और स्तम्भ अनुभावों के मूल में सत्त्व का संस्पर्श जरूरी है, वैसे अश्रु और स्तम्भ अन्य बहुत से बाह्य कारणों से भी उद्भूत हो सकते हैं, उन्हें सात्त्विक अनुभाव कहना उचित नहीं लगता। इस विवेचन को भक्तिरसामृतसिन्धु में और भी स्पष्टता मिली है, यद्यपि समस्त विवेचन भक्तिरस के सन्दर्भ में हुआ है। विवेचन की पुनरावृत्ति में न पड़ कर केवल उद्धरण प्रस्तुत है।[२४] भक्त आचार्यों ने तो सात्त्विकों को धूमायित, ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त और सूद्दीप्त रूप से विभाजित करके सूद्दीप्त में सात्त्विकों की परमोत्कृष्ट कोटि मानी है। यह सब विभाग उन्होंने सत्त्व के तारतम्य के आधार पर किया है और उसी आधार पर विक्षोभ का भी तारतम्य माना है। महाभाव में सात्त्विक की परा कोटि—सूद्दीप्त दशा उन्होंने मानी है। इसका विस्तार से विवरण भक्तिरसामृत-सिन्धु और उज्जवलनीलमणि में देखा जा सकता है। मम्मट ने तो सात्त्विकों का अलग से परिगणन ही नहीं किया। वे तो अनुभाव की श्रेणी में ही उन्हें मानते जान पड़ते हैं।

ये सात्त्विक अनुभाव कई कारणों से उद्भूत होते हैं। **'स्तम्भ'**—चेष्टा, प्रतीघात, हर्ष, भय, आश्चर्य, विषाद, अमर्ष, लज्जा आदि किसी से हो सकता है। **'स्वेद'** रति, धर्म, हर्ष, भय, क्रोध, श्रम, क्लान्ति, रोग, ताप आदि से जनित होता है। **'रोमांच'** के मूल में हर्ष, उत्साह, भय, स्पर्श, शीत कुछ भी हो सकता है। विषाद, विस्मय, अमर्ष, हर्ष, भीति आदि **'स्वरभंग'** के कारण हैं। क्रोध, हर्ष, भय, विषाद आदि के कारण **'वैवर्ण्य'** देखा जाता है। यह वैवर्ण्य कई रूपों में दृष्टिगत होता है। विषाद में श्वेतिमा, धूसरता और कालिमा देखने में आती है। रोष में रक्तिमा, पर कभी-कभी कालिमा भी दीखती है। हर्षोद्रेक में उज्ज्वलता और रक्तिमा भी दिखाई पड़ती है। पर यह सब कुछ सार्वत्रिक नहीं है। बहुत कुछ व्यक्ति की प्रकृति और मनः—

---

२४. चित्तं सत्त्वीभवत् प्राणे न्यस्यत्यात्मानमस्फुटम्।
प्राणस्तु विक्रियां गच्छन् देहं विक्षोभयत्यलम्।
तदा स्तम्भादयो भावा भक्तदेहे भवन्त्यमी॥

+ + + +

चत्वारि क्ष्मादिभूतानि प्राणो जात्ववलम्बते।
कदाचित्स्वप्रधानः सन् देहे चरति सर्वतः॥

स्तम्भ भूमिस्थितः प्राणः तनोत्यश्रु जलाश्रयः।
तेजस्थः स्वेद-वैवर्ण्ये प्रलयं वियदाश्रितः॥

स्वस्थ एव क्रमान्मन्दमध्यतीव्रत्वभेदभाक्।
रोमांचकम्पवैवर्ण्याण्यत्र त्रीणि तनोत्यसौ॥

बहिरन्तश्च विक्षोभविधायित्वादतः स्फुटम्।
प्रोक्तानुभावतामीषां भावता च मनीषिभिः॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु—दक्षिण विभाग, तृतीया सात्त्विकभाव लहरी

स्थिति पर निर्भर करता है। शीत, भय, क्रोध, श्रम, हर्ष, स्पर्श, मद तथा वृद्धावस्था के कारण 'वेपथु'—गात्रकम्प होता है। आनन्द, अमर्ष, भय, शोक, धूम तथा अनिमिष देखने से 'अश्रु' सात्त्विक उद्भूत होते हैं। हर्षज अश्रु शीत और रोषादिज उष्ण माने जाते हैं। सुख-दुःख के कारण निश्चेष्टता तथा संज्ञाहीनता 'प्रलय' सात्त्विक है। मही-निपतन आदि क्रियाएं इसमें देखने को मिलती हैं। भानुदत्त ने अपनी रसतरंगिणी में 'जृम्भा' नामक नवम सात्त्विक का भी उल्लेख किया है।

उक्त अनुभावों के स्वाभाविक योजन से कवि रसकी समर्थ अभिव्यक्ति करता है और सहृदय सामाजिक को भी स्वतः उसकी तीव्र अनुभूति हो पाती है। आश्रय चाहे मधुर रस का पिपासु होने के नाते भक्ति-मन्दाकिनी का अवगाहन करना चाहता हो अथवा शृंगार के लौकिक प्रसंगों से हृदय-सवाद पाना चाहता हो, अनुभाव सभी स्थिति में उसके लिए अत्यन्त आवश्यक सिद्ध होते हैं। हृदय में भावोद्भूति के अनन्तर ये अनुभाव जितनी उत्तेजित अवस्था में होते हैं, उतनी ही भाव-संवेदना तीव्र होती है। इतना ही नहीं, इन अनुभावों के प्रभाव से भाव का मानसिक मर्म भी तीव्र हो जाता है। मानसिक पक्ष की यह तीव्रता जिस अनुपात में होगी, रसकी अनुभूति भी उतनी ही तीव्र होगी। जहाँ अनुभावों की योजना कम होती है या नहीं होती वहाँ सहृदय सामाजिक अपनी कल्पना के बल से उनका ऊहन कर लेता है और वे ऊहित प्रसंग भी अनुभाव मान लिए जाते हैं।

अनुभाव की दृष्टि से शृंगार का विशेष महत्त्व है। शृंगार के अनुभाव संख्या में सबसे अधिक होते हैं। नाट्यशास्त्र तथा अन्य लक्षण-ग्रन्थों में जिन सात्त्विक अलंकारों की चर्चा की गई है—तीन अंगज, सात अयत्नज, दस स्वभावज-ये सभी शृंगार में प्रयुक्त होते हैं। सात्त्विक भावो का पूर्ण परिष्कार भी शृंगार में देखा जाता है। शृंगार में ही ये अपनी पूर्ण शोभा को प्राप्त होते हैं।

संचारी भाव

भाव का वह वर्ग संचारी कहलाता है जो मूलभाव को पुष्ट करता है, तीव्र करता है और उसे व्यापक एवं प्रभविष्णु बनाता है। इससे परिणाम यह निकला कि संचारीभाव का वही विषय होगा जो उसके प्रधानभाव का आलम्बन है। वह स्थायीभाव को उसके लक्ष्य तक पहुँचाएगा। जब स्थायीभाव संपुष्ट होकर रस स्थिति तक पहुँच जाएगा, तदनन्तर वह अपने को उसी में विलीन कर देगा। जिस प्रकार समुद्र में लहरें पैदा होती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार निर्वेदादि संचारीभाव रत्यादि स्थायीभाव में आविर्भूत होते हैं और तिरोहित हो जाते हैं।[२५] ये विशेषरूप से स्थायीभाव के प्रति अनुकूलता से संचरण करते हैं—

२५. विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ। —दशरूपक ४।७

'विशेषेण आभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति'-अतः इन्हें व्यभिचारी कहते हैं। ये स्थायीभाव की गति का भी संचालन करते हैं इसलिए संचारीभाव भी कहे जाते हैं-'संचारयन्ति भावस्य गतिं संचारिणोऽपि ते।' संचारी स्थायीभाव रूपी अम्बुनिधि में डूबते-उतराते हैं। समुद्र की महोर्मियां जिस तरह समुद्र को बढ़ाती हैं और बाद में उसके साथ तद्रूप हो जाती हैं, संचारी भी बिल्कुल यही करते हैं।[२६] संचारियों में कुछ सुखात्मक है, कुछ दुःखात्मक है, कुछ उभयात्मक हैं तथा कुछ उदासीन हैं। स्थायीभाव के प्रति अनुकूलता से संचरण करने का तात्पर्य यह है कि सुखात्मक भावों के साथ सुखात्मक संचारियों का तथा दुःखात्मक भावों के साथ दुःखात्मक और उदासीन संचारियों का सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के भावों के साथ प्रसंगानुसार उपयोग हो सकता है। यही उनका आनुकूल्येन संचरण है और इसी ढंग से वे स्थायीभाव की गति का संचालन करते हैं। इन दोनों में अगांगिभाव-सम्बन्ध होता है। स्थायीभाव अंगी है और संचारी उसका अंग। यह सम्भव नहीं कि संचारी की गति और प्रवृत्ति स्थायी की गति और प्रवृत्ति से भिन्न हो। यदि भिन्न है तो उन्हें संचारी नहीं मानना चाहिए। उदाहरण के लिए श्रम और आलस्य को लीजिए। यदि इनका किसी स्थायी के साथ सीधा लगाव है तो ये संचारी हैं। वैसे सामान्य शारीरिक श्रम और गर्भ आदि से उत्पन्न आलस्य को संचारी नहीं कहा जा सकता। इसमें एक और कारण भी है। श्रम, आलस्य, ग्लानि, निद्रा, विबोध, व्याधि आदि मुख्यतः शारीरिक अवस्थाएं हैं। इनमें भावत्व तो तभी आपाता है जब कि ये किसी भाव के साथ सम्बद्ध हों या किसी भाव को तीव्र या व्यापक बनाने में इनका उपयोग किया गया हो, जहां ऐसा नहीं है, वहां भावत्व की प्रतिष्ठा न हो पाने के कारण उन्हें संचारीभाव नहीं कहा जा सकता। इसकी स्पष्टता के लिए एक उदाहरण आवश्यक है। निद्रा और विबोध को लीजिए। योंही सो जाना निद्रा संचारी नहीं है और न जग पड़ना विबोध है। प्रिय के ध्यान में मग्न नायिका का उसके ध्यान के सुख का अनुभव करते-करते अथवा रति के कारण क्लान्त होकर सोजाना निद्रा है तथा वियोग काल में प्रिय की मधुर याद में अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाली कुछ चिन्ताओं के कारण नींद न आना विबोध है। संचारियों के सम्बन्ध में इतना जानना ही पर्याप्त नहीं है कि वे स्थायी भाव को पुष्ट करते है और रस स्थिति तक पहुंचाते हैं। वे यह तो करते ही हैं, परन्तु स्थायीभाव के प्रभाव से उनमें भी जो तीव्रता और वेग आता है, उससे उन पर और भी दीप्ति चढ़ आती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि वे ही मनोभाव संचारी का रूप धारण कर सकेंगे जो भाव-प्रेरित होंगे, अन्य नहीं।

वस्तुतः प्रत्येक भाव एक प्रकार का व्यवस्थाचक्र होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई भी मूलभाव ऐकान्तिक रूप में अपनी सत्ता नहीं रखता। उसके साथ

२६. उन्मज्जन्तो निमज्जन्तः स्थायिन्यम्बुनिधाविव।
ऊर्मिवद् वर्धयन्त्येनं यान्ति तद्रूपतां च ते॥ —रसार्णवसुधाकर २।१६८

और बहुत से भाव भी अव्यक्त रूप से सम्बद्ध रहते हैं, अतः उन सब सम्बद्ध भावों के समायोजन से मूलभाव को रस रूप तक पहुँचने में बड़ी सहायता मिलती है। पर यह आवश्यक नहीं कि संचारी सदा मूलभाव के अनुचर बनकर ही आएं। ये स्वतन्त्र रूप में भी अपनी अनुभूति के साथ आते हैं, पर रसावस्था तक नहीं पहुँच पाते। इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान देने की है कि संचारी भाव की व्यंजना में भी विभावानुभावसंचारियों की योजना हो सकती है– संचारी के भी अन्य संचारी हो सकते हैं। फिर भी व्यंजित संचारी ही रहेगा—भाव रूप में ही रहेगा, रस रूप तक नहीं पहुँचेगा। यह आवश्यक नहीं कि विभाव, अनुभाव और संचारियों के योग से जो भाव-व्यंजना हो, वह रसावस्था तक पहुँच ही जाय। संचारी संचारी ही रहेगा चाहे वह विभावादि तीनों उपकरणों के द्वारा ही क्यों न व्यंजित हुआ हो।

यह संचारित्व केवल संचारी के नाम से गिनाए गए भावों में ही नहीं, प्रधान भावों—स्थायीभावों में भी देखा जाता है। स्थायी भावों में परिगणित भावों में कोई भी भाव गौणता धारण कर किसी अन्य प्रधान भाव का संचारी हो सकता है– जैसे रति और उत्साह इन दोनों स्थायी भावों के साथ हास तथा युद्धोत्साह में क्रोध संचारी होकर आता है। हास और आश्चर्य दोनों ही जो प्रधान भाव हैं शृंगार के संचारी रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं और रति को रसावस्था तक पहुँचा सकते हैं। यही है उनका 'विशेषादाभिमुख्येन चरण' अतः वे संचारी ही रहते हैं। रत्यादि स्थायीभाव भी यदि थोड़े और अशक्त विभावों से उत्पन्न हों तो स्थायीभाव के स्तर तक नहीं पहुँच पाते, व्यभिचारी ही रह जाते हैं।[२७]

संचारी भाव संख्या में सामान्यतः तेंतीस बताए गए हैं, पर इस संख्या को उपलक्षण ही समझना चाहिए। इस संख्या में आचार्यों द्वारा जब-तब वृद्धि की जाती रही है। आचार्यों ने कहीं सचारियों की सीमा में अन्य भावों को समेटा है और इस तरह उन्हें अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है, तो कहीं नये संचारियों का परिगणन करके उनकी संख्या में वृद्धि की है। एक-आध स्थल पर इस संख्या में कमी भी हुई है। कहीं-कहीं संख्या तो तेंतीस बनी है, पर उसमें परिगणित व्यभिचारियों में भेद बना हुआ है। कुछ पुराने हट गए है, उनके स्थान पर नए आगए हैं।

भरत द्वारा स्वीकृत संचारियों की संख्या इस प्रकार है: निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जडता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।

---

२७. संगीतरत्नाकर अध्याय ७।१५१६-१५२०।

धनिक यह स्वीकार करते हैं कि तेंतीस चित्त-वृत्तियों के अतिरिक्त अन्य चित्त-वृत्तियां भी लोक-व्यवहार में पाई जाती हैं, पर वे संचारियों के अन्तर्गत विभाव या अनुभाव रूप में प्रविष्ट होती हैं, अतः उनके अलग से उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है।[२८] हेमचन्द्र संचारियों की संख्या तेंतीस को नियमार्थक मानते हैं, फलस्वरूप दम्भ, उद्वेग, क्षुत्तृष्णादि का क्रमशः अवहित्था निर्वेद और ग्लानि में अन्तर्भाव कर लेते हैं।[२९] रूपगोस्वामी ने संचारियों को श्रेष्ठ, मध्य, कनिष्ठ रूप में विभाजित करके स्वतन्त्र और परतन्त्र रूप में भी उनका वर्णन किया है। फिर तेंतीस के अतिरिक्त उनके मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लैब्य, क्षमा, कुतुक, उत्कण्ठा, विनय, संशय धृष्टता आदि तेरह संचारियों का उल्लेख और किया है, पर उन्हें तेंतीस में अन्तर्भूत कर लिया है। कहां किसका अन्तर्भाव होगा, कहां किसकी विभावता-अनुभावता होगी, इसका भी विस्तार से विवेचन किया है।[३०] भोज सात्त्विकों को संचारियों का बाह्य रूप ही मानते हैं।[३१] भानुदत्त भी सात्त्विकों को शारीर व्यभिचारी कहते हैं।[३२] उन्होंने तो दस कामावस्थाओं को भी संचारियों के गर्भ में सन्निविष्ट समझा है। दशावस्थाओं में उन्माद और व्याधि शारीर हैं। चिन्ता, स्मृति, जडता और मरण का तो संचारियों में परिगणन है ही। व्याधि में उद्वेग का, औत्सुक्य में अभिलाष का, स्मृति में गुणकीर्तन का और उन्माद में प्रलाप का अन्तर्भाव किया जा सकता है।[३३] इसके अतिरिक्त छल को उन्होंने एक अतिरिक्त संचारी बताया है।[३४] भोज की तेंतीस संख्या मे अपस्मार और मरण नहीं हैं उनके स्थान पर ईर्ष्या और शम का उल्लेख करके उन्होंने तेंतीस संख्या की पूर्ति की है। पर सरस्वती-कण्ठाभरण में उनके स्थान पर धृति और शम का उल्लेख मिलता है।[३५] अग्निपुराण में तो इकतीस संचारी ही परिगणित हुए हैं। उसमें निद्रा, सुप्त, और मरण का उल्लेख नहीं है, शम को अवश्य संचारी बताया है।[३६] संचारियों और उनकी संख्या के सम्बन्ध में सामान्यतः लक्षण ग्रन्थों में इसी प्रकार का कहीं-कहीं कुछ अन्तर के

---

२८. अन्ये च चित्तवृत्तिविशेषा एतेषामेव विभावानुभावस्वरूपाप्रवेशान्न पृथग्वाच्याः।
—दशरूपकावलोक ४।३३

२९. संख्यावचन नियमार्थं तेनान्येषामत्रैवान्तर्भावः। तद्यथा दम्भस्यावहित्थे, उद्वेगस्य निर्वेदे, क्षुत्तृष्णादेर्ग्लानौ। —काव्यानुशासन, अध्याय २, वृत्ति (सूत्र) १९

३०. भक्तिरसामृतसिन्धु—व्यभिचारिभावलहरी ७५–८६।

३१. शृंगार प्रकाश—मद्रास पाण्डु (Govt. Library) अ XI पृ. ३५४

३२. ते च भावा शारीरा व्यभिचारिणः एतेत्वान्तरा व्यभिचारिणः इयान् विशेषः।
—रसतरंगिणी तरंग ५

३३. औत्सुक्याभिलाषस्य वर्णनात्मक-स्मृतौ गुण-कथाया उन्मादे प्रलापस्यान्तर्भावात्।
—वही, तरंग ५

३४. अत्र प्रतिभाति छलमधिको व्यभिचारिभावः। —रसतरंगिणी, तरंग ५

३५. शृंगार प्रकाश ३५४; सर० कण्ठा ५।१६–१८।

३६. अग्निपुराण अ० ३३९।

साथ विवरण मिलता है। भरत के द्वारा मानी गई संचारियों की तेंतीस सस्या प्राय: सभी आचार्यों द्वारा स्वीकृत हुई है, भले ही उनको व्यापक बनाने के लिए कुछ आचार्यों ने उनकी सीमा में और बहुत कुछ क्यों न सन्निविष्ट कर लिया हो। संचारियों के अवान्तर भेद करने का प्रयत्न भी यत्रतत्र दीखता है।[३७] इन संचारियों में अंगांगिभाव ही देखा जाता है। भावोदय, भावशान्ति, भावसंधि और भावशबलता की प्रक्रिया भी इनमें पाई जाती है।

शृंगार की दृष्टि मे संचारियों की मीमांसा करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शृंगार ही एक ऐसा रस है जो सभी संचारियों को आत्मसात् कर सकता है। कुछ आचार्यो ने कुछ संचारियों के परिहार की बात कही है। भरत के अनुसार आलस्य, औग्र्य और जुगुप्सा को छोड़कर शेष तीस संचारी शृंगार में प्रयुक्त हो सकते हैं।[३८] हेमचन्द्र जुगुप्सा, आलस्य और औग्र्य, संचारियों का रति के साथ वर्णन उचित नहीं मानते।[३९] विश्वनाथ औग्र्य, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को शृंगार में प्रतिषिद्ध बताते है।[४०] परन्तु शृंगारी रचनाओं में इन प्रतिषिद्ध व्यभिचारियों का प्रयोग बड़ी सफलता से कवियों ने किया है। विप्रलम्भ की कामदशाओं में मरण का ग्रहण है ही।[४१] नायिका के स्वभावज अलंकारों में एक अलंकार विब्बोक है, उसमें उग्रता और जुगुप्सा दोनों पाए जाते है। नायिका का प्रेम प्राप्त करने के बाद गर्व और अभिमान के कारण अनादर और उपेक्षा प्रदर्शित करना बिब्बोक कहलाता है।[४२] प्रौढा, अधीरा एवं मानिनी नायिकाओं में उक्त दोनों संचारी अनेक अवसरों पर उग्र रूप धारण कर लेते हैं! भानुदत्त द्वारा प्रथम प्रवर्तित जृम्भा नामक नवम सात्त्विक भाव आलस्य जनित ही ठहरता है।[४३] धनजय यह मानते हैं कि उनचासो भावों का काव्य में युक्ति पूर्वक निबन्धन शृंगार रस की पुष्टि करता है।[४४] इस पर धनिक भी अपनी वृत्ति में उक्त अविरोध का ही समर्थन करते हैं।[४५] भोज की दृष्टि में समस्त एकोनपचाशत् भाव शृंगार-प्रभव हैं। वीरादिकों को रस कहना केवल मिथ्या रस–प्रवाद है। चतुर्वर्ग का कारण शृंगार ही केवल एक रस है।[४६] कवि

---

३७. (क) रसतरगिणी, तरग ५।
(ख) अलंकारकौस्तुभ किरण ५।१७५।
३८. नाट्यशास्त्र ६।३०।
३९. काव्यानुशासन, अध्याय २, सूत्र ३।
४०. साहित्यदर्पण, परिच्छेद ३।१८६।
४१. वही,
४२. वही
४३. रसतरगिणी, तरंग ४।
४४ दशरूपक ४।४८, ४९।
४५. अवलोक वृत्ति ४।४८,४९।
४६. शृंगार प्रकाश।

कर्णपूर गोस्वामी यह स्वीकार करते हैं कि सभी रस और भाव प्रेमरस से उसी प्रकार उद्भूत होते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं, जैसे वारिधि में तरंग।[४७]

स्थायीभाव

समस्त भाव-राशि में स्थायीभाव अपना विशेष महत्त्व रखते है। ये ही रस के उपादान कारण हैं, इन्हीं से सामान्य गुणयोग से रस निष्पन्न होता है, व्यापकता और विस्तार में अन्य भाव इनकी बराबरी नहीं कर सकते ये ही वासनारूप से अन्तःकरण में सदा वर्तमान रहते हैं, इन्हीं में सार्वभौम कोटि की आस्वाद्यमानता पाई जाती है तथा चरम समयपर्यन्त स्थिर रहने के कारण स्थायीभाव कहे जाते हैं। भरत स्थायीभाव को समस्त भावों में श्रेष्ठ बताते हैं। यह श्रेष्ठता उसी प्रकार की है जैसे शिष्यों में गुरु की या नरों में नृपति की।[४८] धनंजय की दृष्टि से स्थायी-भाव समस्त भावों को वे चाहे अनुकूल हों या प्रतिकूल, आत्मरूप बनाने की क्षमता रखता है। उसकी स्थिति लवणाकर के समान होती है जो कि प्राप्त सभी वस्तुओं को लवण बना देता है। स्थायीभाव भी इसी तरह समस्त भावों को आत्मरूप कर लेता है। इसे दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि स्थायीभाव समुद्र के समान होता है, भले ही अन्य भावतरंगें उठकर उसकी सतह को विक्षुब्ध करती रहें, पर वह अपनी स्थिति ज्यों-की-त्यों बनाये रहता है।[४९] विश्वनाथ स्थायीभाव को आस्वाद का मूलभूत भाव बताते हैं जिसे विरुद्ध और अविरुद्ध भाव तिरोहित नहीं कर सकते।[५०] भानुदत्त कहते हैं जो मनोविकार सजातीय-विजातीय भावों से अभिभूत नहीं होता तथा जो सकल मनोभावों मे प्रधानभूत है, वह स्थायीभाव है। वह रससमयपर्यन्त स्थित रहता है अतः स्थायीभाव कहा जाता है।[५१] पंडितराज जगन्नाथ जिस भाव का स्वरूप सजातीय अथवा विजातीय किसी भाव से तिरस्कृत नहीं होता और जो जबतक रस का आस्वादन होता है, तबतक बना रहता है, उसे स्थायीभाव कहते हैं।[५२]

---

४७. अलंकार कौस्तुभ किरण ५। प्रेमरस प्रसग १२।

४८. यथा नराणां नृपतिः शिष्याणांच यथागुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह॥ —नाट्यशास्त्र ७।८

४९. विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः॥ —दशरूपक ४३४

५०. अविरुद्धा विरुद्धा वा य तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादांकुरकदोऽसौ भावः स्थायीतिसम्मतः। —साहित्यदर्पण ३।२०५

५१. परानभिभाव्यो मनोविकारो वा सकलप्रधानोविकारो वा स्थायीभावः।
चरमसमयपर्यन्तस्थायित्वात् अस्य स्थायित्वव्यपदेशः। —रसतरंगिणी, प्रथम तरग।

५२. सजातीय-विजातीयैरतिरस्कृतमूर्तिमान्।
यावद्रम वर्तमान स्थायीभाव उदाहृतः॥ —रसगंगाधर-प्रथमआनन

स्थायीभावों के स्थायित्व के सम्बन्ध में दो दृष्टियां देखने में आती हैं। यहां स्थायी शब्द के शाब्दिक अर्थ (सदा वर्तमान रहना, कूटस्थता, नित्यता) से काम नहीं चलता। रससमयपर्यन्त स्थिरता ही उसका स्थायित्व है। तात्पर्य यह है कि स्थायीभाव सजातीय-विजातीय भावों से अनभिभूत होकर रससमयपर्यन्त वर्तमान रहता है, बस यही उसका स्थायित्व है। यह मत अपेक्षाकृत प्राचीन है यह स्थायित्व स्थायीभाव के अधिकतर उपर्युक्त लक्षणों में सन्निविष्ट मिलता है। दूसरा नवीन मत है। उसके अनुसार चित्तवृत्तिविशेष रूप रत्यादि स्थायी का नाश होने पर भी उनकी वासना रूप से स्थिरता तथा उनका प्रबन्ध में बार-बार प्रतीत होते रहना ही उनके स्थायित्व—व्यपदेश का कारण है। स्थायीभावों की अभिव्यक्ति व्यभिचारिभावों जैसी नहीं होती। व्यभिचारि-भाव तो प्रबन्ध में बिजली की तरह कभी-कभी चमक उठते हैं। सम्पूर्ण प्रबन्ध में उनकी प्रतीति नहीं होती, वे तो विद्युत्-द्योतप्राय और कादाचित्क ही होते हैं उक्त दोनों दृष्टियों का समाहरण पंडितराज जगन्नाथ ने रस-गंगाधर में किया है।[५३]

आचार्यों ने स्थायीभाव की जो मीमांसा की है उसके अध्ययन के पश्चात् उसकी परिभाषिक विशेषताओं के सम्बन्ध में दो निष्कर्ष निकलते हैं।

स्थायीभाव भाव की एक विशिष्ट दशा है। वह अपने अभिव्यक्ति-काल में समस्त अधिपति-सा आचरण करता है। अन्य भावों और मनोवेगों को अपने पूर्ण शासन में रखकर अनुकूलता से प्रकट होने देता है और स्वयं ज्यों-की-त्यों बना रहता है।

किसी भाव-दशा का इतने समय तक बने रहना कि उसके कारण भिन्न-भिन्न, न केवल अनुकूल, प्रतिकूल भाव भी प्रकट होते रहें।

उक्त दोनों निष्कर्षों को यदि स्थायीभावों पर घटित किया जाय तो रति को छोड़कर कोई स्थायी ऐसा नहीं है जिस पर वे अपनी समग्रता में घटित किये जा सकें। रति ही केवल ऐसा भाव है जिसको अविरुद्ध और विरुद्ध कोई भी भाव संचारी रूप में आकर तिरोहित नहीं कर सकता। क्रोधादि स्थायी विरुद्ध भावों के उदयकाल में अपनी प्रमुख स्थिति नहीं बनाये रख सकते जिस प्रकार समस्त रसों में शृंगार रसराज कहलाता है, रति भी उसी प्रकार समस्त स्थायीभावों में

---

५३. तत्र आप्रबन्धं स्थिरत्वादमीषां भावानां स्थायित्वम्।
वासनारूपाणाममीषां मुहुर्मुहुरभिव्यक्तेरेवस्थिरपदार्थत्वात्।
व्यभिचारिणान्तु नैव, तदभिव्यक्तेर्विद्युत्द्योतप्रायत्वात्॥ —रसगंगाधर-प्रथम आनन

'मूर्धाभिषिक्ता' कही जाती है। रतिभाव अन्य समस्त भावों से प्रकृष्ट होता है, इसीलिये कविवर्ग इसके वर्णन में अपनी शक्ति का बहुत बड़ा भाग लगा देता है।[५४]

रति शृंगार रस का स्थायीभाव है वह प्रमोदात्मिका है तथा इष्टार्थ-विषय की प्राप्ति से उत्पन्न होती है।[५५] भोज मनोनुकूल अर्थों में सुखसंवेदन को रति कहते हैं।[५६] भानुदत्त इष्टवस्तु की समीहा से जनित रस रूप को अप्राप्त मनोविकृति को रति कहते हैं।[५७] विश्वनाथ प्रियवस्तु में मन के प्रेमपूर्ण उन्मुख होने को रति मानते है।[५८] शिंगभूपाल की दृष्टि में स्त्रीपुरुषों की अन्योन्य-विषया स्थायिनी इच्छा रति है इसमें निसर्ग, अभिभोग (अभिनिवेश), संसर्ग, अभिमान उपमा, (सदृशपदार्थ-दर्शन), अध्यात्म (स्वात्म-प्रामाण्य), विषय (शब्दादि), से विक्रिया होती है।[५९] यही रति उत्तरोत्तर विकसित होती हुई, प्रेम, मान, प्रणय स्नेह, राग और अनुराग में पूर्णता पाती है। रति का यह उत्तरोत्तर विकास ही शृंग शब्द का बोध्य अर्थ है। यही रति जब चरम रसनीयता पाती है, शृंगार कही जाती है।[६०] शारदातनय ने इसी रति की कुछ विस्तार से व्यवस्था की है। वे कहते है कि उच्चकोटि के ऐश्वर्य और सुख से सम्पन्न, समस्त गुणयुक्त, युवावस्था में वर्तमान श्लाघ्यप्रकृति और श्रेष्ठ रूप वाले सराग स्त्रीपुरुषों की परस्पर स्वसंवेद्य सुख-संवेदनात्मक जो अनुभूति है, वह रति है। यह रति दोनों में तुल्य होती है। इसे दूसरे शब्दों में स्पृहा नामक चित्तवृत्ति भी कह सकते है, इसमें दोनों में उभयप्रार्थना की इच्छा देखी जाती है तथा दोनों में इससे परस्पर आह्लाद और रहोविश्रम्भ का जन्म होता है। यह वस्तुतः सुखात्मिका मनोवृत्ति है परस्परालाप, लीला, उपचार, चेष्टा, दृष्टि-विलोकनादि अनुभाव इसमें देखे जाते हैं। दूसरे शब्दों में इस रति को एकान्त में स्त्रीपुरुषों की

---

५४. भावान्तरेभ्यस्सर्वेभ्यो रतिभावः प्रकृष्यते ।
कविवर्गः समग्रोऽपि तमेनमनुधावति ॥ —शृंगार प्रकाश ३।३३

५५. रतिर्नाम प्रमोदात्मिका······इष्टार्थविषयप्राप्त्या रतिरित्युपजायते । —नाट्यशास्त्र ७।६

५६. मनोऽनुकूलेष्वर्थेषु सुख-संवेदन रतिः । —सरस्वती कंठाभरण

५७. तत्रेष्टवस्तुसमीहाजनिता मनोविकृतिरपरिपूर्णा रतिः । —रसतरंगिणी–प्रथम तरंग

५८. रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम् । —साहित्यदर्पण–३

५९. यूनोरन्योन्यविषया स्थायिनीच्छा रतिर्भवेत् ।
निसर्गेणाभियोगेन संसर्गेणाभिमानतः ।
उपमाध्यात्मविषयैरेषास्यात्तत्र विक्रिया ।
—रसार्णसुधाकर–पृ० १४५ पद्यसंख्या १०६, १०७

६०. अंकुरपल्लवकलिकाप्रसूनफलभोगभागियं क्रमतः ।
प्रेमा मानः प्रणयः स्नेहोरागोऽनुराग इत्युक्तः ॥
—रसार्णवसुधाकर–पृ० १४६ पद्यसंख्या १०८

अन्योन्यभोग्य धी कहा जा सकता है।[६१] यह प्रेम से अंकुरित होती है, मान से पल्लवित हो जाती हैं, प्रणय से कोरक धारण करती है, स्नेह से कुसुमित होती है, राग से यह फलवती होती है तथा अनुराग से भुक्त होती है।[६२] प्रेम-मानादि के अवान्तर भेदोपभेद और भी किये गये हैं जिनका विस्तार-भय से यहां उल्लेख सम्भव नहीं। सुधासागरकार स्मरकरम्बितान्तःकरण स्त्रीपुरुषों की परस्पररमण करने की इच्छा को रति कहते हैं।[६३] पण्डितराज जगन्नाथ की दृष्टि में रति स्त्रीपुरुष की एक-दूसरे के विषय में प्रेमनामक चित्तवृत्ति ही ठहरती है।[६४]

रतिशब्द वस्तुतः कई व्यापक और संकुचित अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। वैसे तो वह सामान्य प्रेम का ही दूसरा नाम है जिसकी सीमा के अन्तर्गत कान्ता-विषयक रति के अतिरिक्त देव, गुरु, मुनि, नृपति विषयक रति तथा पुत्रादिविषयक वात्सल्यरति भी समाहित है। परन्तु शृंगाररस के सन्दर्भ में रति का यह व्यापक रूप उपयोग में नहीं लाया जाता, वहां तो कान्ताविषयिणी रति ही रति शब्द से समझी जाती है। ऊपर उद्धृत किये गये रति के लक्षणों में कुछ लक्षण ऐसे भी हैं जो स्त्री-पुरुष के कामवासनामय हृदय की परस्पर रिरंसा को ही रति मानते हैं। रति के इस प्रकार के लक्षण भी अव्याप्ति-दोष से दूषित हैं। स्त्री-पुरुष के दैहिक संसर्ग की संकुचित सीमा को ही रति समझना भारी भूल होगी। यह तो केवल वह काम है जो कि स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक स्पर्श द्वारा उदित आभिमानिक सुखों को प्रदान करता है। दाम्पत्य रति यही नहीं है। इस रति में न जाने कितने भावों का योग देखने में आता है। इसमें स्त्रीपुरुष का केवल रागात्मक आकर्षण ही

---

६१. परस्परस्वसंवेद्यसुखसवेदनात्मिका।
यानुभूतिर्मिथः सैव रतिर्यूनोः सरागयोः॥
सम्पन्नैश्वर्य-सुखयोरशेषगुणयुक्तयोः।
नवयौवनयोः श्लाघ्यप्रकृत्योः श्रेष्ठरूपयो.॥
नारीपुरुषयोस्तुल्या परस्परविभाविका।
स्पृहाह्वया चित्तवृत्ती रतिरित्यभिधीयते।
रतिरिच्छाभवेत् यूनोरुभयप्रार्थनात्मिका।
यूनोःपरस्पराह्लादरहोविश्रम्भकारिता॥
सुखात्मिका मनोवृत्तिरतिरित्यभिधीयते।
आलाप-लीलोपचार-चेष्टा-दृष्टि-विलोकनैः।
अन्योन्यभोग्य-धीरेव रहः स्त्रीपुंसयोः रति.॥ —भावप्रकाशन, पृ० ७८

६२. इयमंकुरिताप्रेम्णामानात्पल्लवितापनः। सकोरका प्रणयतःस्नेहात्कुसुमिता भवेत्॥ रागात् फलवती चेयमनुरागेण भुज्यते॥ —वही, पृ० ७८

६३. स्मरकरम्बितान्तःकरणयोः स्त्रीपुंसोः परस्परं रिरंसा रतिः॥ —सुधासागर

६४. स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बन. प्रेमाख्यश्चितवृत्तिविशेषो रतिः स्थायीभावः॥
—रसगंगाधर, प्रथम आनन

सम्मिलित नहीं है, अपितु एक दूसरे के स्वभाव से अवगत होने के लिये जिज्ञासा, संतान की इच्छा, रूप व आकृतिप्रसाधन, सज्जा के प्रति संवेदनशीलता, साथ रहने की कामना आदि अनेक भाव रहते हैं। स्थूल काम इसकी सीमा से बाहर तो नहीं हो जाता पर अपनी प्रमुखता अवश्य खो देता है इस स्थिति को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि काम और प्रेम का कामुकता और विलासिता से ही विशेष सम्बन्ध है। श्रृंगार का अर्थ है सजाना अतः नग्न चित्र और कुत्सित वर्णन उसकी आत्मा के विपरीत ठहरते हैं। तभी तो श्रृंगार को उत्तमयुवप्रकृति कहते है। यही रति–प्रेम–श्रृंगार का स्थायीभाव है और इसी के सम्बन्व में आचार्यों ने कहा है:—

"सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति......................"

काम का केवल वह रूप ही यहां साधीयान् नहीं समझा जाता जिसका मैथुन और प्रजनन-वृत्ति से ही लोग सम्बन्ध रखते हैं।

नवम परिच्छेद

(१)

शृंगार के भेदोपभेद

किसी वस्तु के भेदोपभेदों में जाने का मतलब यह है कि व्यक्ति उस वस्तु को उसके समस्त पार्श्वों में जानने का प्रयत्न कर रहा है। इस प्रयत्न में वह पहले अंशों से परिचय पाता है, उनके घटक तत्त्वों का अध्ययन करता है फिर अंशों के संयोजन से न केवल अंशी को रूप देता है, उसे पूर्णता भी प्रदान करता है, तब कहीं वह उसका सही उपयोग करने योग्य होता है। ऐसा करके न केवल वह स्वयं प्रतिपाद्य विषय को हृदयंगम करता है बल्कि दूसरों के लिये भी उन्हें सुस्पष्ट कर देता है। इसके अतिरिक्त भेदोपभेदों का कोई प्रयोजन नहीं होता। उनमें से कुछ को अधिक महत्त्व देना या श्रेष्ठ समझना और दूसरों को कम महत्त्व या प्रभाव का बताना, प्रतिपाद्य विषय के साथ अन्याय करना है।

शृंगार के संयोग और विप्रलम्भ इन दोनों पक्षों के सम्बन्ध में जहां तक उनके स्वरूप, प्रभाव और पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न है, कुछ अलग-अलग ढंग से सोचा जाता रहा है। कुछ आचार्य शृंगार रस के रति भाव की पुष्टि संभोग शृंगार में मानते रहे हैं तो कुछ विप्रलम्भ शृंगार में। उक्त दोनों दृष्टियों को जीवगोस्वामी ने 'उज्ज्वलनीलमणि' की अपनी 'लोचनरोचनी' तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपनी 'आनन्दचन्द्रिका' टीका में प्रश्न रूप में उठाया है।[१] विप्रलम्भ की उत्कृष्टता सिद्ध करने वाला निम्न लोकप्रिय पद्य भी उद्धृत मिलता है:—

संगमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः।
संगे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे ॥

—लोचनरोचनी, पृ. ५०८

इससे पहले से चली आती हुई लोकरुचि का पता चल जाता है। 'न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते' के विरोध में संभोग के समर्थकों की इस युक्ति को भी उद्धृत किया है कि विप्रलम्भ तो संभोग का पोषक होने के नाते संभोग का ही

---

१. संभोग एव सुखमयत्वेन रसो भवितुमर्हति। न तु विप्रलम्भः,
तत्कथमसौ रसत्वेन वर्ण्यते ॥ —लोचनरोचनी, पृ० ५०७

अंग है, उसे अलग से रस मानने की क्या आवश्यकता ? इन सब के उत्तर में जीवगोस्वामी ने शास्त्र सम्मत यथार्थ दृष्टि वहीं पर प्रस्तुत की है। वे कहते हैं कि दोनों के बीच में कोई ठोस विभाजक रेखा खींचपाना सम्भव नहीं, दोनों में लोहे–सोने का-सा कोई स्वरूप-भेद नहीं है, दोनों ही मिलकर रतिभाव को पूर्ण बनाते है, इसलिये दोनों को ही एक-दूसरे से असम्पृक्त नहीं समझा जा सकता। रतिभाव के सभी मर्मज्ञ शृंगारतरु को द्विदल मानते है। उसका एक दल सम्भोग है तथा दूसरा दल विप्रलम्भ है। इनमें से प्रत्येक अपने मे अपूर्ण है, दोनों मिलकर शृंगार को पूर्ण करते हैं। वस्तुतः रति ही दो भागों में विभक्त होकर संभोग और विप्रलम्भ बनी है। जिस प्रकार प्रेम में पगे प्रेमी और प्रेमपात्र एक प्राण दो देह वाले होते हैं, शरीर के दो होते हुए भी दोनो में एक ही प्राण-प्रवेग प्रवाहित होता रहता है उसी प्रकार रति-प्राण शृंगार की प्राणभूता रतिधारा संभोग और विप्रलम्भ दोनों मे प्रवाहित दीखती है। दोनों को एक दूसरे से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। साधारणतया तो लोग यही मानते है कि विप्रलम्भ से संभोग की पुष्टि होती है, परन्तु उसे संभोगपोषक के स्थान पर संभोगपुंजमय कहना ही अधिक उपयुक्त है। कारण यह है कि विप्रलम्भ दशा में भी रति, प्रेम, स्नेह, स्थायीभावों से युक्त नायक-नायिकाओं मे स्मरण, स्फूर्ति, और आविर्भाव की स्थिति के कारण मानस, चाक्षुप, कायिक आलिंगन, चुम्बन, सम्प्रयोग आदि चलते रहते है और वे निरवधि चमत्कार के समर्थक होते है 'त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे' में प्राप्त दृष्टि भी उक्त कथन का समर्थन ही करती है।[२] यही कारण है कि गौड़ीय वैष्णव रस साहित्य में संयोग और वियोग दोनों का युगपत् अनुभव कराने वाली प्रेम की एक विशिष्ट तरंग प्रेमवैचित्य सिद्धान्त रूप से स्वीकृत हुई है। इसमें प्रिय के सन्निधान में भी प्रेमोत्कर्ष की तीव्रता के कारण विश्लेष–बुद्धि से आर्ति की संवेदना होती रहती है।[3] बात यह है, अनुराग स्थायी (प्रेमोत्कर्ष) में तृष्णा के अतिप्राबल्य के कारण बार-बार अनुभूत वस्तु के सम्बन्ध में यह प्रतीति होती रहती है कि जैसे इसका कभी अनुभव ही नही किया। जैसे किसी अति बुभुक्षित स्वभाव वाले ब्राह्मण को भोजन कराकर कोई उससे पूछे कि ब्रह्मन् ! ठीक से भोजन कर लिया ? तो वह यही उत्तर देगा कि भाई ! कुछ भी तो नहीं किया, उसी प्रकार श्रीकृष्ण और उनके लीला-चरितों के प्रति अतिप्रबल तृष्णा रखने वाले साक्षात् निरन्तर उनका अनुभव करने वाले जन की बुद्धिवृत्ति का कुछ ऐसा लोप हो जाता है कि उसे भान होने लगता है कि वह कृष्ण का अनुभव ही नहीं कर रहा है। उसकी स्थिति

---

२ न केवलं विप्रलम्भः संभोगपोषक एव किन्तु रतिप्रेमस्नेहादिस्थायिभाववतोर्नायिकयोर्मिथः स्मरणस्फूर्त्याविभावैर्मानसचाक्षुषकायिकालिंगनचुम्बनसम्प्रयोगादीनां प्रत्युत निरवधि–चमत्कार-समर्पकत्वेन संभोगपुंजमय एव। —लोचनरोचनी, पृ० ५०८

३. प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः ।
या विश्लेषधियार्तिस्तत्प्रेमवैचित्यमुच्यते ॥ —उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ५४८

सन्निपात से ग्रस्त उस व्यक्ति की तरह होती है जो कि पानी पीते रहने पर भी 'हा हा मुझे पानी पिलाओ' की पुकार लगाता रहता है।[४] भरत सम्भोग और विप्रलम्भ को शृंगार का भेद न मानकर अधिष्ठान कहते हैं।[५] उनकी दृष्टि से दोनों दशाओं में समान रूप से विद्यमान जो आस्वादात्मक रति है उसका आस्वाद्यमान रूप ही शृंगार है। आचार्य अभिनव भी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि संभोगकाल में विप्रलम्भ की सम्भावना के कारण भीरुत्व पाया जाता है और विप्रलम्भ में भी संभोग-मनोराज्य का अनुबेध देखा जाता है। बस इतना ही तो शृंगार का शरीर है। अभिलाष, ईर्ष्या, प्रवासादि दशायें इसी में अन्तर्भूत है। आस्थावन्धात्मक रति में अभोग की स्थिति में भी संभोग शृंगार का उपचारतः व्यपदेश होता है। यही कारण है कि इन दोनों दशाओं का जहां मिलन होता है, वहीं सातिशय चमत्कार होता है।[६]

भारतीय आचार्यो मे यह सामान्यतः देखा जाता है कि वे जब किसी वस्तु का शास्त्रीय विवेचन आरम्भ करते है तो बड़े विस्तार मे जाते हैं। मूल वस्तु उनकी आँखों से ओझल कभी नही होती। पहले वे उसकी मूलचेतना को ध्यान मे रख कर उसकी परिभाषा देते है, उसके समस्त सम्भव भेद प्रस्तुत करते हैं, फिर उन भेदों के भी उपभेद और तदनन्तर उपभेदों के भी नाना अवान्तर उपभेदों की भी सोदाहरण मीमांसा करते हैं। कभी-कभी तो ये भेदोपभेद इतने होते हैं कि पाठक ऊब जाता है और आचार्यो की दृष्टि में भले ही विवेच्य वस्तु की मूलचेतना वनी रहती हो, पर बेचारे पाठक के दिमाग से कभी-कभी खिसक जाती है। लक्षण-ग्रन्थों मे रस का विवेचन भी बड़े विस्तार से हुआ है। एक मूलरस की भी कल्पना हुई है, रस के अनेक भेद भी प्रस्तुत किये गये है, उन भेदों के भी उपभेद और उपभेदों के भी नाना अवान्तर उपभेद। यह सब कुछ आचार्यो ने यथार्थ ज्ञान के आलोक में किया है, फलतः इनसे साहित्यशास्त्र के जिज्ञासु के ज्ञान-चक्षु उन्मीलित हो जाते हैं। वेदान्तजगत् मे समस्त सृष्टि भले ही अज्ञान की विक्षेप-शक्ति से

---

४. प्रेमोत्कर्षोऽनुराग स्थायी स च तृष्णातिप्राबल्यमूलक एव मुहुरनुभूतस्यापि वस्तुनोऽननुभूतत्व-मानसमर्पको भवेत्। यथा कश्चिदतिबुभुक्षुस्वमात्रो विप्रो भोजयित्वोच्यते ब्रह्मन्, सुष्ठु भुक्तं भवतेति। ततस्तेन प्रत्युच्यते न किंचिदपि भुक्तमिति। तथैव श्रीकृष्ण साक्षात् अनुभवतोऽपि जनस्य बुद्धिवृत्तेरपि तथा लोप. स्यात् यथा श्रीकृष्णं नानुभवामीत्येव प्रत्ययः स्यात्। यथा सन्निपातवतोजनस्य प्रतिक्षणं जलं पिबतोऽपि हा हा मा जलं पाययेत्युक्तिः।

—लोचनरोचनी, पृ० ५४८

५. तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भागो विप्रलम्भश्च। —नाट्यशास्त्र, पृ० ३०३

६. संभोगे विप्रलम्भसभावना—भीरुत्वं विप्रलम्भेऽपिमनोराज्यानुबेध इयतः शृंगारस्य वपुः। अभिलासेर्ष्याप्रवासादिदशा अत्रैवान्तर्भूताः। सत्यामास्थाबन्धात्मिकायां रतौ तेन संभोगशृंगार इत्यादिव्यपदेशो भोगेऽप्युपचारात्। अतएतद्दशाद्वयमेलन एव सत्यतः सातिशय—चमत्कारः।

—अभिनव भारती, पृ० ३०३

चलती हो परन्तु इस दृष्टि के मूल में ज्ञान की प्रक्रिया काम करती है, सृष्टि का समस्त क्षेत्र ज्ञान-रश्मियों से ही आलोकित रहता है और अन्त में इस क्षेत्र में विचरण करने वाला भी ज्ञान के सुपक्व मधुर फल ही पाता है।

शृंगार के उपभेद

भरत ने शृंगार के कई दृष्टियों से भेदोपभेद प्रस्तुत किये हैं। पहले उन्होंने दो भेद किये है। वे हैं—सम्भोग और विप्रलम्भ। ये दोनों भेद उक्त रस की अवस्थाओं को ध्यान में रखकर किए गये हैं। उन्होंने भेद शब्द का प्रयोग न करके अधिष्ठान शब्द का प्रयोग किया है। आचार्य अभिनव अभिनवभारती में इसकी व्याख्या करते हुए बताते हैं कि अधिष्ठान का अर्थ है अवस्था। शृंगार की संयोग और वियोग दोनों अवस्थायें यहां अधिष्ठित होती हैं इसीलिये ये शृंगार के अधिष्ठान कहे जाते हैं। जैसे—गोत्व के शाबलेयत्व और बाहुलेयत्व ये भेद नहीं हैं बल्कि गोत्व की अवस्थाएं हैं, उसी प्रकार सयोग और विप्रलम्भ को भी यदि शृंगार का भेद न मानकर अवस्थायें ही माना जाय तो अधिक उपयुक्त होगा।[७]

आगे चलकर भरत ने अभिनय की दृष्टि से शृंगार के तीन भेद और किये हैं वे है वागात्मक, नैपथ्यात्मक और क्रियात्मक।[८] अभिनय की दृष्टि से ये भेद अभिनेता के लिये भले ही कुछ काम के हों, पर शृंगार-रस-पिपासु के लिये इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। शारदातनय ने भी अपने भावप्रकाशन में इनका वर्णन प्रस्तुत किया है।[९] पर महत्वपूर्ण न होने के कारण लोकरुचि इन्हें सुरक्षित न रख सकी और प्रायः लुप्त हो गये।

आगे चलकर नाट्यशास्त्र के दशरूपक प्रकरण में समवकार के प्रसंग में भरत ने शृंगार के पुरुषार्थ की दृष्टि से तीन भेद और किए हैं। वे हैं धर्मशृंगार, अर्थ-शृंगार और कामशृंगार।[१०] पुरुषार्थों पर आधारित उक्त भेद भी आगे चलकर स्वीकृत न हो सके, यद्यपि रामचन्द्र-गुणचन्द्र और भोज ने शृंगार की सीमा में उन पर भी प्रकाश डाला है। वस्तुतः धर्मशृंगार और अर्थशृंगार को शृंगार के प्रकार के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं लगता, क्योंकि धर्म और अर्थ के प्रसंग शृंगार की मूलचेतना के अनुकूल नहीं ठहरते। ऐसा लगता है कि भरत ने यह सब विवेचन रसकी दृष्टि से नहीं किया है, बल्कि समाज में शृंगार के क्षेत्र में उभरती हुई या

---

७. अभिनवभारती, पृ० ३०३
८. नाट्यशास्त्र, ६।७७।
९. भावप्रकाशन, पृ० ६४, ६५।
१०. नाट्यशास्त्र १८।२२।

उन्मेषोन्मुख प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर किया है। शृंगार को अधिक व्यापक बनाने की चिन्ता में उसके मूल में स्थित काम को अधिक व्यापक अर्थ में लेकर तथा पुरुषार्थ-चतुष्टय में उसकी व्याप्ति देखकर शृंगार के क्षेत्र को और बढ़ा दिया। इससे एक तरफ जहां व्यापकता–(शृंगार की दृष्टि से कुछ कृत्रिम) बढ़ी, वहां दूसरी ओर विवेचन की कुछ अयथार्थता भी देखने में आई। इस पर विस्तार से विवेचन चतुर्थ परिच्छेद में किया जा चुका है। शृंगार के संयोग और विप्रलम्भ भेद ही प्रचलित रहे, जिन्हें परवर्ती आचार्यों द्वारा पर्याप्त विस्तार मिला। भरत का नाट्यशास्त्र ही सामान्यतः परवर्ती आचार्यों का उपजीव्य ग्रन्थ रहा है। आगे चलकर कहीं-कहीं विवेचन की कुछ नवीनता भेदों, उपभेदों और उनके भी अवान्तर भेदों के विस्तार में देखने को मिलती है। पहले शृंगार के संयोग-पक्ष पर विवेचन प्रस्तुत है। उसके विप्रलम्भ-पक्ष की मीमांसा बाद में की जाएगी।

भरत का विवेचन नाट्य के सन्दर्भ में हुआ है अतः उन्होंने शृंगार की संभोगावस्था के विभावों, अनुभावों और संचारियों का वर्णन किया है। उनकी दृष्टि में सम्भोग ऋतु, माल्य, अनुलेपन, अलंकार, इष्टजन, गीतादि-विषय, वर भवनादि के उपभोग से उपवन-गमन, प्रियवचन-श्रवण, प्रिय-दर्शन तथा उसके साथ की गई लीला-क्रीड़ा आदि से उत्पन्न होता है, नयनचातुर्य, भ्रूविक्षेप, कटाक्ष, ललित तथा मधुर अंगचेष्टा, आकर्षक वचन आदि अनुभावों से प्रतीति-योग्य होता है तथा आलस्य, जुगुप्सा, औग्र्य को छोड़कर अन्य व्यभिचारियों से पुष्ट होता है।[११] शृंगार के दो अधिष्ठानों के अतिरिक्त उनके अन्य उपभेद भरत ने प्रस्तुत नहीं किये हैं।

भरत के बाद रुद्रट ने शृंगार के संयोग और वियोग इन दोनों भेदों को यथावत् स्वीकार किया और विप्रलम्भ के उपभेद भी प्रस्तुत किये। दोनों के प्रच्छन्न और प्रकाश ये दो भेद उन्होंने और किये।[१२] रुद्रट का विवेचन नाट्य के सन्दर्भ में न होकर काव्य के सन्दर्भ में हुआ है। उनकी दृष्टि में तुल्यमानस, प्रमुदित नायक दम्पति संगत होकर जिस परस्पर आलोकन-वचनादि का अनुभव करते हैं वह सब संभोग शृंगार कहलाता है।[१३] नमिसाधु उक्त प्रसंग की टीका में स्पष्ट करते हैं कि परस्पर अवलोकन, विश्रम्भालाप, उद्यान–विहार, पुष्प-चयन, जल-क्रीडा, मधुपान, ताम्बूल, सुरतादिक सभी कुछ सम्भोग शृंगार है। निधुवन मात्र को संभोगशृंगार

---

११. नाट्यशास्त्र, पृ० ३०५, ३०६।

१२. काव्यालंकार, १२।५–६।

१३. अन्योन्यस्य सचित्तावनुभवतो नायको यदिद्धमुदौ।
आलोकनवचनादि स सर्वः संभोगशृंगारः। —काव्यालंकार १३।१

समझना भारी भूल है।[१४] इसके बाद संभोगशृंगार-सम्बन्धिनी चेष्टाओं का उसी अध्याय में वर्णन मिलता है।

धनंजय ने शृंगार के तीन मूलभेद किये हैं, अयोग, विप्रयोग और सम्भोग। उन्होंने विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग न करके उसके स्थान पर अयोग और विप्रयोग ये दो शब्द नायिका के संयोगाभाव की दो पृथक् स्थितियों को व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त किये हैं। उनका तर्क यह है कि विप्रलम्भ शब्द सामान्यार्थक है, कहीं उपचार से उसका प्रवंचना रूप सामान्य-अर्थ न ले लिया जाय, जैसा कि 'विप्रलब्धा' में लिया जाता है कि जहां सकेत स्थल पर नायिका पहुँच जाती है पर नायक नहीं पहुँच पाता, फलतः नायिका विप्रलब्धा होती है। अयोग, विप्रयोग विप्रलम्भ के साथ वर्णित होंगे। धनजय की दृष्टि से जहां परस्पर अनुकूलता धारण करके विलासी नायक-नायिका दर्शन, स्पर्शन आदि का परस्पर सेवन करते हैं, वहां प्रहर्ष और उल्लास से युक्त सभोगशृंगार होता है।[१५] निष्कर्ष यह निकला कि दोनों को परस्पर अनुकूल होना चाहिये, प्रमोद की स्थिति में होना चाहिये, विदग्ध नागरक की-सी विलास-भावना आत्मसात् किये होना चाहिये तथा यथावसर मानस एवं शारीरिक दर्शन-स्पर्शन-क्रियाओं से सभोग को सुपुष्ट करना चाहिये।

भोज ने सभोग की व्युत्पत्ति से अपनी बात आरम्भ की है। उनकी व्युत्पत्ति न केवल निरुक्तिलभ्य यौगिक अर्थ को बताती है बल्कि उससे संभोग की समस्त विशेषताओं और उसकी उत्तरोत्तर विकासावस्थाओं का भी पता चल जाता है। संभोग शब्द सम् पूर्वक भुज् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। धातुपाठ में एक भुज् धातु तुदादिगण के अन्तर्गत पठित है। वह है "भुजोकौटिल्ये"। दूसरा रुधादिगण में मिलता है, वह है "भुज पालनाभ्यवहारयो:"। "धातुरूप-कल्पद्रुम" में रुधादिगणी भुज् धातु के अर्थ को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—"पालनं रक्षणम्"। "अभ्यवहार: भोजनम्, उपभोग:, अनुभवः।" इस प्रकार संभोग के सन्दर्भ में पालन, कौटिल्य, उपभोग और अनुभव इन चार अर्थों के आधार पर संभोग की चार विशेषताएं स्पष्ट होती है। उनमें प्रथम विशेषता है सानुराग दम्पति के हृदय मे उदित रति का पालन, सवर्धन; दूसरी है रति के स्वाभाविक कौटिल्य में दोनों का योग; तीसरी है दोनों के द्वारा रति का सोत्कण्ठ उपभोग तथा अन्तिम है दोनों की निर्द्वन्द्व प्रेमानन्दानुभूति। उक्त चारों अर्थ "भुज्" के प्रकृत्यर्थ हैं। इस तरह संभोग

---

१४. नायकौ दम्पती······यदालोकनवचनोद्यानविहार-पुष्पोच्चयन-जलक्रीडा-मधुपान—ताम्बूलसुरता-दिकम् अनुभवत: स सर्वः, न तु निधुवनमात्रम् सभोगशृंगारः।

—काव्यालंकार, नमिसाधु की टीका १२।१

१५. अनुकूलौनिषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स संभोगो मुदान्वितः॥

— दशरूपक ४।६८

के पूर्वरागानन्तर, मानानन्तर, प्रवासानन्तर, तथा करुणानन्तर चार प्रकार होते हैं जिनमें उपर्युक्त चारों विशेषताएं क्रमशः घटित हो जाती हैं। उक्त चारों भेदों के प्रसंग में "सम्" के भी चार अर्थ होते हैं, जो क्रमशः उनसे सम्बद्ध होते हैं। वे हैं संक्षेप, संकर, सम्पूर्ण और सम्यक्। इसीलिए पूर्वराग विप्रलम्भ के बाद का संभोग संक्षिप्त, मान विप्रलम्भ के बाद का संभोग संकीर्ण, प्रवास विप्रलम्भ के बाद का संभोग सम्पन्न (सम्पूर्ण) तथा करुण विप्रलम्भ के बाद का सम्भोग समृद्ध हुआ करता है। संक्षिप्त में पूर्वराग की स्थिति मे उदित रति का अनुकूलता से पालन किया जाता है, पर लज्जा साध्वस आदि के कारण प्रणयोपचार संक्षिप्त ही रहता है। संकीर्ण में रति की स्वाभाविक वामता के कारण—सहेतुक, कभी-कभी निर्हेतुक भी—प्रणयमान चलता है, उपालम्भ दिए जाते है, फलस्वरूप प्रणयोपचार व्यलीक स्मरण के कारण उपालम्भ—कोपादि से संकीर्ण रहता है। प्रवास के बाद दोनों में मिलन की भूख तीव्र हो जाती है तथा जैसे उपोषित व्यक्ति अन्न की ओर सोत्कंठ होकर बढ़ता है यही स्थिति प्रेमी—प्रेमिकाओं की होती है, फिर दोनों मिलकर रति का सम्पूर्णता से उपभोग करते है। यही संभोग की सम्पन्न अवस्था है। करुण विप्रलम्भ के बाद की समृद्ध स्थिति में रति-पुष्टि की चरम पूर्णता देखी जाती है, इसमें दोनों ही पूर्ण विश्रम्भ के साथ सुख का अनुभव करते हैं। उपभोग का अतिरेक इसमें देखा जाता है। जब मृत व्यक्ति पुनरुज्जीवित होता है, तो उपभोग का यह अतिरेक स्वाभाविक है। इस स्थिति में प्रेम अडिग होता है क्योंकि मृत्यु भी उसे डिगा नहीं पाई। यह वस्तुतः प्रेम की सर्वोत्कृष्ट आदर्श स्थिति है। यहां सम्भोग का अर्थ है सम्यक् प्रकार से रति के आनन्द की अनुभूति।[१६]

---

१६. भुजिः पालनकौटिल्याभ्यवहारानुभूतिषु ।
भुनक्ति भुग्नो भुंक्तेऽन्नं भुंक्ते सुखमितीष्यते ॥
समीचीनार्थसंपूर्वात् ततो घञ्प्रत्ययेसति ।
भावे वा कारकेवापि रूपं सभोग इष्यते ॥
स [illegible]पालनार्थः पूर्वानुरागानन्तर उच्यते ।
उत्पन्नाहि रतिस्तस्मिन् आनुकूल्येनपाल्यते ॥
स मानानन्तरं प्राप्तः कौटिल्यार्थं विगाहते ।
स्वतोऽपि कुटिलं प्रेम किन्नु मानान्वये सति ॥
प्रवासानन्तरे तस्याभ्यवहारार्थतेष्यते ।
तत्र ह्युपोषितैरन्नमिव निर्विश्यते रतिः ॥
करुणानन्तरगतोऽनुभवार्थः स कथ्यते ।
विश्रम्भवद्भिरस्मिन्हि सुखमेवानुभूयते ॥
यदि वा भोग इत्यस्य संप्रयोगार्थवाचिनः ।
समा समासे चत्वारो विशेषास्तमुपासते ॥
स संक्षिप्तोऽथ संकीर्ण. सम्पूर्णः सम्यगृद्धिमान् ।
अनन्तरोपदिष्टेपु संभोगेषूपपद्यते ॥

शृंगार का भेद प्रस्तुत करते समय अधिकतर आचार्यों ने संयोग की अपेक्षा संभोग शब्द का ही प्रयोग किया है। उपर्युक्त व्युत्पत्ति और तल्लभ्य व्यापक अर्थ को देखते हुए संभोग शब्द ही अधिक उपयुक्त लगता है। सयोग शब्द तो सामान्य स्थिति की तरफ संकेत मात्र करता है। वह तत्कालीन अवस्थाओं और उनमें पाये जाने वाले व्यापार-कलापों को अनुभूति का विषय नहीं बनाता। दूसरी बात यह है कि स्त्री-पुरुषों का एक स्थान पर रहना सम्भोग है भी नहीं। एक शय्या पर पड़े रहने पर भी ईर्ष्या आदि के सद्भाव में संभोग नहीं, विप्रलम्भ ही माना जाता है।[१७] संभोग शब्द प्रणय-परिपालन, उसकी नाना सरल-कुटिल अवस्थायें, उसका भोग एवं अनुभूति को अपने में समाहित किये रहने के कारण अधिक प्रसंगानुकूल है। आज हिन्दी में संभोग शब्द मुख्यतया शारीरिक उपभोग के अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है अतः कुछ विद्वानों ने आपत्ति उठाई है कि संयोग की एक वह अवस्था भी होती है जिसमें नायक नायिका की परस्पर रति तो देखी जाती है पर संभोग-सुख की प्राप्ति नहीं होती, इसलिये संभोग की अपेक्षा अधिक व्यापक शब्द संयोग का प्रयोग करना चाहिये। पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। उपर्युक्त विवेचन इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है।

भानुदत्त दर्शन, स्पर्शन, संलाप आदि से परस्पर अनुभूयमान सुख को संयोग कहते हैं अथवा परस्पर संयोग से उत्पद्यमान आनन्द संभोग है। संभोग से उनका अभिप्राय है बहिरिन्द्रिय-संयोग से।[१८] भानुदत्त ने रसतरंगिणी में संयोग तथा रसमंजरी में संभोग शब्द का प्रयोग किया है। रसमंजरी में अलग से लक्षण भी दिया हैं। रसतरंगिणी के उक्त लक्षण को देखकर यह बात स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि भानुदत्त संभोग शृंगार के स्थूल रूप को अधिक महत्त्व देते हैं। रस-तरंगिणी का प्रथम लक्षण पर्याप्त है। एक तो संभोग की पूरी बात उसमें आ जाती है, स्पर्शन शब्द उसके स्थूल पार्श्व को बताने के लिये पर्याप्त है। दूसरे शिष्ट शब्दों से व्यंजित होने के कारण संभोग का गौरव भी बना हुआ है। पर भानुदत्त को उतने

नवेहि संगमे प्रायो युवानः साध्वसादिभिः।
संक्षिप्तानेव रत्यर्थमुपचारान् प्रयुंजते॥
मानस्यानन्तरे तेषां व्यलीकस्मरणादिभिः।
रोपनेगानुसन्धानात् संकरः केन वार्यते॥
सम्पूर्णः पूर्णकामानां कामिनां प्रोष्यसंगमे।
उत्कण्ठितानां भूयिष्ठमुपभोगः प्रवर्तते॥
प्रत्यागतेऽपि यत्नैषा रतिपुष्टिः प्रियेजने।
सा किमावर्ण्यते यूनां तत्रैव मृतजीविते॥ —सरस्वती कन्ठाभरण ५।७७ से ८८

१७. संयोगो न दम्पत्योः सामानाधिकरण्यम्, एकशयनेऽपि ईर्ष्यादि-सद्भावे विप्रलम्भस्यैव वर्णनात्। —रसगंगाधर-प्रथम आनन

१८. दर्शनस्पर्शनसंलापादिभिरितरेतरमनुभूयमानं सुखं परस्परसंयोगेनोत्पद्यमान आनन्दो वा संयोगः। संयोगो वहिरिन्द्रिय-सम्बन्धः॥ —रसतरंगिणी-तरंग ६

से संतोष नहीं हुआ और उन्हें दुबारा लक्षण प्रस्तुत करते हुए "परस्पर संयोगेनोत्पद्यमान आनन्दो वा संभोग:" कहना पड़ा। यह लक्षण भी ठीक है, व्यापक भी है। इसमें भी लक्षण का गौरव अप्रतिहत है, पर उन्हें यह लगता है कि वे अपनी पूरी बात कह नहीं पाये। वह "परस्पर-संयोगेन" में संयोग की व्याख्या करके ही सतोष पाते हैं। वह व्याख्या है–"संयोगो बहिरिन्द्रिय–सम्बन्ध:"। वैसे बहिरिन्द्रिय–सम्बन्ध को संयोग की सीमा से हटाया नहीं जा सकता, न हटाना ही चाहिये। वह भी सयोग का एक प्रमुख धर्म है, पर यह बात तो इस व्याख्या के बिना भी स्पष्ट थी। उसकी स्पष्टता के लिये किया गया यह अनावश्यक प्रयत्न प्रमाणित करता है कि परिभाषाकार ने उक्त पक्ष को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है।

शारदातनय एक विशेष भूमिका के साथ शृंगार के दोनों पक्षों की अवतारणा करते हैं। वे भावप्रकाशन में विभिन्न रसों के आलम्बनों में पाये जाने वाले साधारण गुणों का विस्तार से वर्णन करने के बाद कहते है—"सभी प्राणी सुखेप्सु होते है और जगत् के नाना भोग उनके सुख के साधन होते है। भोग ही शृंगार विशेष है। भोग, उपभोग, संभोग शब्द पर्यायवाचक हैं। सभोग में सर्वत्र जीवों की एक–सी मानसी रति देखने में आती है, परन्तु मुख्य वृत्ति से सराग युवक–युवतियों में यह रति विशिष्ट होती है। भोग्य द्रव्यों का उपभोग भोग है। वही भोग विशेष देश और काल से समृद्ध होकर उपभोग कहा जाता है। कामोपचार संभोग है और काम ही स्त्री–पुरुष का सुख है। स्त्री–पुरुषों के परस्पर विमर्द से जायमान आनन्द का जो उद्रेक है वही सुख है तथा उस आनन्द की प्राप्ति के लिये किया गया कर्म उपचार है।[१९]" इस भूमिका के बाद उन्होंने शृंगार के अयोग, योग और संभोग तीन भेद प्रस्तुत किये हैं। शारदातनय की दृष्टि से काम ही संभोग है जो कि युवक-युवतियों के स्पर्श विशेष से जाग्रत होता है। इसके चार भेद उन्होंने किये हैं—वे हैं मित, संकर, सम्पन्न और समृद्धिमान्।[२०] प्रथम भोग के अवसर पर साध्वसादि के कारण नायकदम्पति का कामोपचारों का कम उपभोग करना "मित" होता है। प्रसाद की स्थिति में भी नायक के अपराधादि के स्मरण से नायिका में कोप की अनुवृत्ति देखी जाती है, इस स्थिति में संभोग कोप से संकीर्ण हो जाता है, इसीलिये उसे 'संकर' संभोग कहते है। प्रवास से प्रतिनिवृत्त सम्पन्न–काम नायक के द्वारा जो संभोग पूर्ण सम्पन्नता के साथ उपभुक्त होता है उसे 'सम्पन्न' संभोग कहते हैं। 'समृद्धिमान्' सभोग वह है जो प्रत्युज्जीवन–हर्षादि के कारण पूर्णतः समृद्ध है, दीपन–तत्त्वो की अतिशयता से जिस पर पर्याप्त दीप्ति चढ़ कई है तथा जिसमें नायक-दम्पति उपभोगातिरेक का अनुभव करते हैं।[२१]

१९. भावप्रकाशन-चतुर्थ अधिकार, पृ० ७७।
२०. भावप्रकाशन–चतुर्थ अधिकार, पृ० ८७।
२१. वही, पृ० ८७।

उपर्युक्त भूमिका और भेदोपभेदों के विस्तार के साथ विषय का प्रतिपादन किया गया है पर इसमें सन्देह नहीं कि संयोग यहां अपनी स्थूल सीमा में अधिक आबद्ध है, क्योंकि इस सम्भोग में स्पर्श विशेष—त्वाच प्रत्यक्ष को विशेष महत्त्व दिया गया है:—"संभोगः यूनोः परस्परस्पर्शविशेष-विषयीकृतः"। कामोपचार को ही संभोग माना है, उस उपचार में परस्पर विमर्दज आनन्द-संभेद को महत्त्व दिया है जिसमें आलिंगन, अधरपान, परिचुम्बन आदि प्रमुख हैं तथा उक्त प्रकार के आनन्द-प्रदायक कर्म को काम का उपचार स्वीकार किया है। अन्य लीला-विलास की प्रक्रियाओं पर ध्यान नहीं दिया गया है।

विश्वनाथ का कथन है—जहां एक-दूसरे के प्रेम में अनुरक्त विलासी नायक-नायिका परस्पर दर्शन, स्पर्शन आदि का सेवन करते है वह संभोग-शृंगार है।[२२] उनकी दृष्टि से संभोग-शृंगार के भेदप्रभेदों की गणना नहीं की जा सकती। देश, काल, परस्परावलोकन, आलिंगन, अधरपान, परिचुम्बन आदि के कारण संभोग के अनन्त भेद हो सकते हैं इसलिए काव्य-कोविदों ने यह माना है कि इस शृंगार प्रकार का एक ही रूप है और वह है संभोग शृंगार।[२३] उन्होंने संभोग शृंगार के चार प्रकार बताये हैं—पूर्वरागानन्तर संभोग, मानानन्तर संभोग, प्रवासानन्तर संभोग तथा करुण-विप्रलम्भानन्तर संभोग।[२४] उक्त भेदों के समर्थन में पूर्वाचार्य-वचन को भी उद्धृत किया है, जिसका आशय है कि विप्रलम्भ के होने पर ही संभोग सुपुष्ट होकर आनन्दप्रद होता है।[२५] यह लक्षण धनजय के लक्षण से मिलता है। पूर्वरागादि के आनन्तर्य से जो चार भेद किये है वे भी पहले किये जा चुके हैं, भोज के द्वारा सरस्वती-कठाभरण के पाँचवे परिच्छेद में उनका विस्तार से वर्णन किया जा चुका है।

उपर्युक्त परिभाषाओं को देखने से यह पता चलता है कि नायक-नायिका का एकत्र बने रहकर परस्पर दर्शन, स्पर्शन तथा तज्जन्य आनन्द का उपभोग करना संभोग के लिये आवश्यक है, पर पंडितराज जगन्नाथ इस सम्बन्ध में भिन्न दृष्टि रखते हैं, वे संभोग-काल में प्रेमानुभूति को महत्त्व देते हैं। जब स्त्री-पुरुषों के संयोग-काल में रति उपभुक्त होती रहती है तभी संयोग शृंगार होता है। वे स्त्री-पुरुषों के एक स्थान पर रहने को संयोग नहीं मानते, क्योंकि एक शयन पर भी ईर्ष्यादि के सद्भाव में विप्रलम्भ ही होता है, संयोग नहीं। इसी प्रकार वियोग का अर्थ भी अलग-अलग रहना नहीं है, अन्यथा एक शयन पर भी ईर्ष्यादि के सद्भाव में विप्रलम्भ कैसे हो सकता है। इसलिये वे यह मानते है कि संयोग और वियोग दोनों एक प्रकार की

---

२२. साहित्यदर्पण—३।२२०।
२३. वही, ३।२११,२१२।
२४. वही, ३।२१३।
२५ न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते ॥ — साहित्यदर्पण-३।

चित्तवृत्तियां हैं जिनके रहते "मैं संयुक्त हूं और वियुक्त हूँ" इस प्रकार की बुद्धि बनी रहती है।[२६]

पंडितराज की उक्त दृष्टि पहले से चली आती हुई संभोग की परिभाषाओं का सुन्दर परिष्कार है। उन्होने पूर्व की परिभाषाओं में विद्यमान त्रुटि को पहचाना, उसे अग्राह्य बताया तथा उसका तर्काविरुद्ध एवं भावानुकूल समाधान प्रस्तुत करके परिभाषा को सर्वथा पूर्ण बना दिया।

वैष्णव रसशास्त्र में दर्शन आलिंगन आदि के आनुकूल्य-निषेवन द्वारा युवक-युवतियों के चित्त में उद्रेक को प्राप्त उल्लास पर जो सुखदभाव आरोहण करता है उसे संभोग कहते है।[२७] उक्त लक्षण में आनुकूल्य-निषेवन पद अत्यन्त सार्थक है। इसका तात्पर्य यह है कि नायक और नायिका दोनों ही परस्पर विषय के आश्रय होते हैं, दोनों में दर्शन, आलिंगन, चुम्बनादि की निषेवा (वात्स्यायन तथा भरत के कलाशास्त्र द्वारा प्रचारित नितरां सेवा अर्थात् आचरण) चलती रहती है और वह भी पूरी पारस्परिक अनुकूलता के साथ। यही कारण है कि पशुवत् शृंगार के प्रसग इस संभोग की सीमा में प्रवेश नहीं पाते। यह संभोग मुख्य और गौण दो प्रकार का होता है। मुख्य का सम्बन्ध जाग्रत् अवस्था से होता है और गौण का स्वप्नावस्था से होता है। इन दोनों के पुनः चार-चार भेद होते है। वे है—संक्षिप्त संकीर्ण, सम्पन्न और समृद्धिमान्। जाग्रत् अवस्था की यथार्थता, सम्पन्नता एवं तीव्रता स्वाप्नभेदों में संभव नहीं। अतः मुख्यता जाग्रत् अवस्था के संभोग-भेदों की ही मानी गई है। स्वप्नावस्था के भेद इनकी अपेक्षा गौण ठहरते हैं।

जहां लज्जा, भय और असहिष्णुता के कारण भोगागों का बहुत थोड़ा उपयोग होता है, उसे 'संक्षिप्त' संभोग कहते है। साधारणतः पूर्वराग के अनन्तर ही इस प्रकार के संभोग का विकास देखने में आता है। जब नायिका को नायक के व्यलीक का स्मरण हो जाता है या उसके द्वारा किये गये किसी अन्य नायिका के गुण-कीर्तन आदि की स्मृति हो उठती है, तब आवश्यक भोगोपचार का समूह सकीर्ण होकर दिखाई देता है। यही 'संकीर्ण' संभोग है। यह कुछ गर्म ईख चूसने जैसा है जिसमें मधुरता और उष्णता की साथ—साथ अनुभूति होती है। यह सभोग मान के उपरान्त होता है। कुछ दूर के प्रवास से आये कान्त के साथ भोग 'सम्पन्न' संभोग कहलाता है। संगमन दो प्रकार का होता है—आगति और आविर्भाव। लौकिक व्यवहार से आगमन 'आगति' कहलाता है। प्रतिदिन प्रातः व्रज से जाना तथा प्रति

२६. रसगगाधर, प्रथम आनन, ।

२७. यूनोः परस्पर–विषयाश्रययोर्दर्शनालिगनचुम्बनादीनां नितरां या सेवा वात्स्यायनभरतकला-शास्त्रोक्तरीत्याचरणम् तयेति पशुवत् शृंगारो व्यावृत्तः। —उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ५७१

दिन सायं व्रज से लौट आना लौकिक व्यवहार है। प्रेम-संरम्भ में विह्वल श्रेष्ठ गोपियों के सामने हरि का अकस्मात् आविर्भूत होना 'आविर्भाव' है उक्त दोनों में से किसी प्रकार का संगम हो सकता है। जहां किसी परतन्त्रता के कारण युवक-युवती यहां तक अलग रहें कि उनके लिए एक दूसरे को देख पाना भी दुर्लभ हो, वहां दोनों के परस्पर दर्शनादि रूप उपभोगातिरेक को 'समृद्धिमान्' संभोग कहते हैं। सुदूर तथा चिर प्रवास के कारण दर्शन-क्षुधा—दर्शनस्पृहा की जितनी अतिशयता, संभोग-स्पृहा की जितनी अतिशयता तथा फलस्वरूप आनन्द की जितनी अतिशयता इसमें रहती है, उतनी अन्य किसी भेद मे नही होती, इसी कारण इस संभोग को 'समृद्धिमान्' कहते हैं। उक्त चारों संभोग चारों प्रकार के विप्रलम्भ के ताप को शमन करते हैं। पूर्वराग के ताप का निर्वापक संक्षिप्त संभोग होता है, मान के ताप का शमन संकीर्ण सभोग करता है, निकट प्रवास के ताप का शमन सम्पन्न संभोग से होता है तथा समृद्धिमान् संभोग दुस्सह चिरविप्रलम्भ का नाश करता है इसीलिये वह साध्वस-व्रीडायुक्त संक्षिप्त से, व्यलीकस्मरणायुक्त संकीर्ण से तथा सामान्य व्यवधानयुक्त सम्पन्न से उत्कृष्ट ठहरता है।

संभोग श्रृंगार में कुछ विशेष कामोपचार पाये जाते हैं जिनसे रति की भाव-दशा स्फुट होकर व्यक्त होती है। वे हैं दर्शन, स्पर्श, विश्रम्भालाप, राहरोकना, रास, वृन्दावन-क्रीडा, जलकेलि, नौका-विहार, चीरहरण, वंशी का छिपाना, दानलीला, कुंज आदि में आंख–मिचौनी, मधुपान, कृष्ण का वधूवेष धारण करना, कपट-निद्रा, द्यूतक्रीडा, वस्त्राकर्षण, चुम्बन, आलिगन, नखार्पण, विम्बाधरसुधापान आदि–आदि, और तदनन्तर सम्भोग।[२८] सहृदय रसिक इनमें से मिथः लीला–विलास में ही अधिक सुख मानते है, सम्प्रयोग में सुख की उतनी मात्रा नहीं मानते।[२९] ये लीला–विलास भी प्रकट रूप से चलते हैं, अप्रकट रूप से चलते हैं और नित्यरूप से भी चलते हैं। वनवृन्दावन में प्रकट लीला चलती है, मनवृन्दावन में अप्रकट लीला चलती है तथा नित्य वृन्दावन में नित्यलीला चलती है। नित्यलीला में कृष्ण का व्रज-देवियों से कभी वियोग होता ही नहीं। वहाँ दोनों का मिलन नित्य है, संभोग की शाश्वत स्थिति बनी रहती है, वियोग का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

(२)

विप्रलम्भ

विवेचनकाल में जब कोई गम्भीर प्रसंग आ जाता है, उसकी सुस्पष्टता के लिए हमारे आचार्य नाना उपायों का अवलम्बन करते हैं। सम्बद्ध शब्द की निरुक्ति

---

२८. उज्ज्वलनीलमणि–संभोगप्रकरण, श्लोक सख्या ३२ से ३५।

२९. वही, श्लोक सख्या ६३।

उनका सर्वप्रथम उपाय है। इसके द्वारा वह यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि किसी शब्द ने अपने में जो विशेष भावनाएं समेटी हैं, उनका उस शब्द के धातु, उपसर्ग और प्रत्यय से कितना सम्बन्ध है तथा साहित्यशास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त शब्द सम्बद्ध भावराशि को व्यक्त करने के लिए कितना उपयुक्त है। दूसरा उपाय है प्रसंग से सम्बद्ध समस्त अवस्थाओं की ओर संकेत करना, उससे वर्ण्य-विषय की सीमा निर्धारित करना तथा कुछ आवश्यक बहिरंग रेखाओं से उसके अन्तरंग को स्पष्ट कर देना। तीसरा उपाय है सम्बद्ध प्रसंग का स्वरूप–लक्षण प्रस्तुत करते हुए, जहां तक सम्भव हो, तटस्थ–लक्षण से दूर रहते हुए स्पष्ट परिभाषा प्रस्तुत कर देना। सभी तरफ के इस अभियान से प्रसंग चाहे जितना गम्भीर क्यों न हो, स्फुट होते देर नहीं लगती। प्रसंग की स्पष्टता के लिए उपर्युक्त उपायों का अवलम्बन उपयुक्त होगा।

विप्रलम्भ शृंगार की एक अवस्था है जो अभीष्ट नायक–नायिका की अप्राप्ति की स्थिति में उदित होती है, मधुर–व्यथा का विस्तार करती है, अनन्त आन्तर भावों को उपजाती है तथा रति—प्रेम की आत्मा के दर्शन कराती है। 'आंख से ओझल दिल से दूर' वाली उक्ति यहां चरितार्थ नहीं होती। इस अवस्था में संभोग की अपेक्षा कही अधिक गाम्भीर्य और स्थिरता पाई जाती है। इस अवस्था का प्रेम संभोग के अनुभवों से पुष्ट होने के कारण अधिक तीव्र अधिक तलस्पर्शी तथा मानस की सर्वाधिक भावमयी दशा का व्यंजक होता है। संयोग काल की क्रिया-क्रीडा यहां विलुप्त हो जाती है, उसका स्थान ले लेता है आत्मावलोकन। इन्द्रिय–चेष्टाओं के स्थान पर आत्मचेष्टाओं का प्राधान्य दीखता है। मानस की प्रवृत्तियां यहां बहिर्मुखी नहीं, अन्तर्मुखी होती हैं–बाह्य चेष्टाओं का उपराम हो जाता है तथा मानसमन्थन चलता रहता है। इस काल में प्रेम क्षीण नहीं होता, उत्तरोत्तर राशि-राशि रूप में बढ़ता चलता है, पक्का होता चलता है। महाकवि कालिदास ने मेघदूत में इसी स्थिति की ओर संकेत किया है—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्तेत्वभोगात्।
इष्टे वस्तुन्युपचितरसा प्रेमराशीभवन्ति॥

भोज ने विप्रलम्भ की जो निरुक्ति दी है, वह बड़े मतलब की है। निरुक्ति के द्वारा वह शब्द की मूलभावना को व्यक्त करने में बड़े प्रवीण हैं। उनकी निरुक्तियां शब्दो के मर्म को खोलकर रख देती हैं। विप्रलम्भ शब्द भ्वादिगणी लभ धातु से बना है जिसका अर्थ है प्राप्ति। लभ के साथ 'वि' उपसर्ग के संयोजन से उसका अर्थ परिवर्तित होकर वंचन–प्रतारण हो जाता है। 'गृधुवंच्योः प्रलम्भने' १/३/६९ के ज्ञापन से प्रलम्भन का अर्थ वंचन ही सिद्ध होता है। भोज ने प्रकृति–प्रत्ययसंयुक्त प्रलम्भन का वंचन अर्थ करके उसके चार रूप सामने रखे हैं। वे है प्रतिश्रुत्यादान, विसंवादन, कालहरण और प्रत्यादान। उपसर्ग 'वि' के भी उन्होंने चार अर्थ किए

है–विविध, विरुद्ध, व्याविद्ध और विप्रतिषिद्ध। इसके बाद उन्होंने उपर्युक्त प्रकृत्यर्थ और उपसर्ग के अर्थों को क्रमशः विप्रलम्भ की चारों दशाओं के साथ संयुक्त कर दिया। इस तरह विप्रलम्भ की सभी दशाओं पर निरुक्ति से प्रकाश पड़ा जिससे उसकी सभी विशेषताएं स्फुट होकर सामने आ गईं। स्पष्टता के लिए उनका अलग–अलग विवेचन प्रस्तुत है।

पूर्वराग की स्थिति में प्रेम विविध प्रकार का होता है, फिर भी दोनों (नायक-नायिका) को उसकी प्राप्ति नहीं हो पाती—दोनों ही उससे वंचित रहते हैं। इस स्थिति में प्रेम नाना रूपों में लहरें मारता है। दोनों ही परस्पर बड़ी स्निग्ध दृष्टि से देखते हैं। उनकी दृष्टियां बताती हैं कि दोनों दोनों के हो चुके हैं। दोनों ही प्रतिश्रुत हैं अपना सब कुछ दोनों को दे डालने के लिए। इतना होने पर भी जब नायक पास पहुंचता है, उसे अभीष्ट आलिंगनादि नहीं मिल पाते। इसमें व्यवधान खड़ा होता है लज्जा-भय आदि की ओर से। फिर नायिका चाहते हुए भी नहीं दे पाती। यही है प्रतिश्रुत्य अदान—वादा करके भी न दे पाना। इस प्रकार का वंचन पूर्वराग विप्रलम्भ में मिलता है।

मान विप्रलम्भ में विरुद्धता की स्थिति देखने में आती है। नायिका प्रिय के व्यलीक–स्मरणादि से ईर्ष्या और कोप में होती है–विरोध में रहती है। यह स्थिति अभीष्ट के प्रार्थी नायक के लिए बहुत बड़ा व्यवधान बन जाती है। या तो वह नायक को उसका अभीष्ट नहीं देती, और यदि देती है तो यथावत् नहीं देती। इस अवस्था में उपसर्गार्थ विरुद्ध और प्रकृत्यर्थ विसवादन-निवारण–अयथावत्प्रदान–से भोज ने विप्रलम्भ की इस द्वितीय प्रकार की विशेषता को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है।

विप्रलम्भ की तीसरी दशा है प्रवास। इसमें प्रकृत्यर्थ है कालहरण और उपसर्गार्थ है व्याविद्ध। इसमें प्रिय सुदूर प्रवास में होता है और प्रिया विरह-वेदना झेलती है। यह दीर्घकाल जब बीते, तब कहीं अभीष्ट आदि की प्राप्ति हो। यहां भी वंचन है पर वह कालहरण के रूप में है। दोनों का ही मन दोनों के प्रति तीव्र उत्कंठा से व्याविद्ध–परिपूर्ण है। यह स्थिति प्रवास में देखी जाती है।

करुण विप्रलम्भ में प्रेम और प्रेमिका में से एक दिवंगत हो जाता है और दूसरा उसके पुनरुज्जीवित होने की आशा लिए विमनायमान होता रहता है। यहां जो वंचन मिलता है, वह है प्रत्यादान प्रकार का जिसमें अदृष्ट एक को खींच लेता है और दूसरे को व्यथा झेलने के लिए छोड़ देता है और वह अदृष्ट के उक्त कार्य के

लिए उसको कोसता है और विरोध प्रदर्शित करता रहता है। करुण विप्रलम्भ की यही विशेषता है जो उपसर्गार्थ और प्रकृत्यर्थ से स्पष्ट हो गई हैं।[30]

विप्रलम्भ की एक अन्य निरुक्ति हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में दी है। वे भोज के–से विस्तार में नहीं गए है, संक्षेप में ही उन्होंने उसकी मूलचेतना को स्पष्ट कर दिया है। निरुक्ति इस प्रकार है-'संभोगसुखास्वाद-लोभेन विशेषेण प्रलभ्यते आत्मा अत्रेति विप्रलम्भः।'[31] यह शब्द विप्रपूर्वक 'लभ' धातु से घञ् प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न हुआ है। विप्रलम्भ का अर्थ होता है सम्भोग–सुख के आस्वाद से परस्परानुरक्त नायक–नायिका का विशेष रूप से वंचित रहना। यहां पर भी प्रपूर्वक लभ का अर्थ वंचन ही लिया गया है तथा प्रलम्भ में विउपसर्ग के जोड़ने से उक्त शब्द का विशेष रूप से प्रवंचन अर्थ स्पष्ट हो जाता है और यह प्रवंचन है नायक-नायिका का परस्पर सम्भोग–सुख के आस्वाद से।

---

३०. सश्रुत्य विप्रलम्भार्थान् गृधिवच्योः प्रलम्भने।
इत्यादिज्ञापकाज्ज्ञेयः प्रपूर्वो वंचने लभिः॥
आदानं च प्रतिश्रुत्य विसंवादनमेव च।
कालस्य हरणं चाहुः प्रत्यादानं च वंचनम्॥
पूर्वानुरागपूर्वेषु विप्रलम्भेषु तत्क्रमात्।
विशेषद्योतकेनेह व्युपसर्गेण सूच्यते॥
प्रतिश्रवो हि पूर्वानुरागे वक्रेक्षितादिभिः।
अभीष्टालिंगनादीनामदानं ह्रीभयादिभिः॥
माने निवारणं तेषां विसंवादनमुच्यते।
अयथावत्प्रदानं वा व्यलीकस्मरणादिभि.॥
प्रवासे कालहरणं व्यक्तमेषा प्रतीयते।
प्रोष्यागतेष्विहैतानि कान्ताः कान्तेषु युंजते॥
प्रत्यादाने पुनस्तेषां करुणे को न मन्यते।
स्वयं दत्तानि हि विधिस्तानि तत्रापकर्षति॥
प्रलम्भेत्यत्र यदि वा वंचनामात्रवाचिनि।
विना समासे चतुराश्चतुरोऽर्थान्नियुंजते॥
विविधश्च विरुद्धश्च व्याविद्धश्च क्रमेण सः।
विनिषिद्धश्च पूर्वानुरागादिषु विषज्यते॥
पूर्वानुरागे विविधं वंचनं व्रीडितादिभिः।
माने विरुद्धं तत् प्राहुः पुनरीर्ष्यायितादिभिः॥
व्याविद्धं दीर्घकालत्वात् प्रवासे तत्प्रतीयते।
विनिषिद्धं तु करुणे करुणत्वेन गीयते॥ —सरस्वती कंठाभरण ५।५६ से ६६

३१. काव्यानुशासन, पृ० ११०।

उपर्युक्त निरुक्तियाँ इतने व्यापक सन्दर्भ के साथ रखी गई हैं कि विप्रलम्भ की मूलभावना उसके समस्त भेदोपभेदों के साथ स्पष्ट हो जाती है। विप्रलम्भ के बारे में इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है। निरुक्ति के गर्भ में समस्त भेदोपभेद अपनी सभी विशेषताओं के साथ सन्निविष्ट हैं।

निरुक्तियों के अतिरिक्त विप्रलम्भ के मर्म को समझने के लिए कुछ परिभाषाओं का तुलनात्मक विवेचन भी आवश्यक है। भोज ने विप्रलम्भ की परिभाषा इस प्रकार की है–जहा रति नामक भाव प्रकर्ष को तो प्राप्त करले, पर अभीष्ट को प्राप्त न कर सके, वहां विप्रलम्भ होता है।[३२] भानुदत्त युवक और युवतियों की परस्पर मुदित पंचेन्द्रियों के पारस्परिक सम्बन्धाभाव अथवा अभीष्ट की अप्राप्ति को विप्रलम्भ करते हैं।[३३] विश्वनाथ ने भोज की परिभाषा अपनाई है। उनकी दृष्टि मे जहां नायक-नायिका की रति तो प्रगाढ होती है, किन्तु परस्पर-मिलन नहीं हो पाता, वहां विप्रलम्भ होता है।[३४] रूप गोस्वामी का कथन है-"नायक-नायिका के अयोग काल में और योग काल में भी अभीष्ट आलिंगनादि की अप्राप्ति के कारण प्रकर्ष को प्राप्त हुआ रतिभाव विप्रलम्भ होता है।"[३५] पंडितराज जगन्नाथ स्त्री–पुरुषों की 'वियोग–कालावच्छिन्ना रति' को विप्रलम्भ मानते हैं।[३६] परिभाषाएं और भी बहुत हैं पर यहां उनके उद्धरण की आवश्यकता प्रतीत नही होती। परिभाषाकारों के कथन-प्रकारों में भले ही अन्तर हो, मूलभाव सर्वत्र एक-जैसा ही है।

कुछ आचार्यो ने शृंगार के दो भेदों के स्थान पर तीन भेद स्वीकार किए हैं। धनंजय ने दशरूपक में शृंगार के अयोग, विप्रयोग और सम्भोग ये तीन भेद स्वीकार किए हैं।[३७] शारदातनय ने भी उक्त तीन भेदों को स्वीकार किया है।[३८] अयोग में नायक-नायिका का एक दूसरे के प्रति अनुराग रहता है, दोनों ही एकचित्त रहते हैं, परन्तु परतंत्रता या दैव आदि के कारण दोनों एक दूसरे से दूर रहते हैं

---

३२. भावो यदा रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति ।
नाधिगच्छति चाभीष्टं विप्रलम्भस्तदोच्यते ॥ —सरस्वती कण्ठाभरण ५।४५

३३. यूनोरन्योन्यं मुदितानां पंचेन्द्रियाणां सम्बन्धाभावोऽभीष्टाप्राप्तिर्वा विप्रलम्भः ।
—रसतरंगिणी, तरंग ६, पृ० १३६

३४. यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ । —साहित्यदर्पण ३।१८७

३५. यूनोरयुक्तयोर्भावो युक्तयोर्वाथ यो मिथः ।
अभीष्टालिंगनादीनामनवाप्तौ प्रकृष्यते ॥
स विप्रलम्भो विज्ञेयः सम्भोगोन्नतिकारकः —उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ५०७

३६. वियोगकालावच्छिन्नत्वे द्वितीयः । —रसगंगाधर, प्रथम आनन

३७. अयोगो विप्रयोगश्च सम्भोगश्चेति स त्रिधा । —दशरूपक ४।५०

३८ वियोगायोग-सम्भोगैः शृंगारो भिद्यते त्रिधा । —भावप्रकाशन, पृ० ८५

और उनका संगम नहीं हो पाता।[३९] यह वस्तुतः विप्रलम्भ के एक भेद पूर्वराग की ही स्थिति है उक्त भेदों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी आचार्य सम्भोग के भेद के पक्ष मे नहीं हैं। विप्रलम्भ को ही कुछ आचार्यो ने अयोग और विप्रयोग रूप से विभक्त कर रखा है। अयोग में विप्रलम्भ की पूर्वराग-दशा समाविष्ट है। विप्रयोग में विप्रलम्भ की मान और प्रवास दशाओं को सम्मिलित करके दो भेद कर लिए हैं। करुण विप्रलम्भ को उपभेद रूप मे नहीं माना है। वे करुण विप्रलम्भ को प्रवास में ही अन्तर्भुत समझते हैं। इससे इतना ही अन्तर पड़ा कि अयोग को विप्रलम्भ का एक उपभेद न माकर स्वतंत्र भेद ही मान लिया गया है।

आचार्यों द्वारा किए गए विप्रलम्भ के उपभेदों में भी कुछ अन्तर दीखता है। रुद्रट ने सम्भवतः सर्वप्रथम विप्रलम्भ के प्रथमानुराग, मान, प्रवास और करुण ये चार भेद माने हैं।[४०] भोज ने भी उक्त चार भेदों को स्वीकार किया है।[४१] विश्वनाथ भी इन्ही भेदों का उल्लेख करते हैं।[४२] मम्मट ने विप्रलम्भ के पाँच प्रकार बताए हैं—अभिलाषहेतुक, विरहहेतुक, ईर्ष्याहेतुक, प्रवासहेतुक और शापहेतुक।[४३] इसमें विरहहेतुक एक नया उपभेद हैं। अभिलाषहेतुक पूर्वराग है, ईर्ष्याहेतुक मान है, शापहेतुक को कुछ ने करुण में, कुछ ने प्रवास में माना है। भानुदत्त ने पहले जो पाँच उपभेद किए है वे हैं देशान्तरगमन के कारण, गुरुनिदेश के कारण, अभिलाष के कारण, ईर्ष्या के कारण और शाप के कारण।[४४] ये भेद मम्मट से भिन्न नही है। उनका देशान्तरगमन हेतुक जो भेद है, प्रवास–जन्य विप्रलम्भ है, अभिलाष हेतुक भेद पूर्वराग है, ईर्ष्याहेतुक मान है और शापहेतुक पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत भेद है। गुरुनिदेश हेतुक भेद देखने में नया है। विरहभेद के लिए गुरुनिदेश शब्द का प्रयोग भानुदत्त की कोई नई सूझ प्रतीत नहीं होती। समीप रहने पर भी गुरुजनों की लज्जा आदि के कारण समागम का न हो पाना ही विरहहेतुक विप्रलम्भ है। गुरुनिदेश शब्द से उक्त स्थिति स्पष्ट नहीं हो पाती। गुरुनिदेश का हेतु यों तो प्रवास के मूल में भी हो सकता है। बाद में समयहेतुक, दैवहेतुक और विड्वरादिहेतुक ये तीन भेद और स्वीकृत हुए हैं; किन्तु इनका उल्लेख प्रसगतः ही हुआहै, नियमतः नही। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने मम्मट के ही उक्त पाँच भेदों को स्वीकार किया है।[४५] हेमचन्द्र

---

३९. तत्रायोगोऽनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयो।
पारतन्त्र्येण दैवाद् वा विप्रकर्षादसंगमः॥ —दशरूपक ४।५१

४०. काव्यालंकार १४/१

४१. सरस्वतीकंठाभरण ५/४५

४२. साहित्यदर्पण ३/१८७

४३. काव्य प्रकाश ४

४४. रसतरगिणी, तरंग ६

४५. नाट्यदर्पण, तृतीय विवेक, पृ० ३०९

ने केवल अभिलाष, मान, प्रवास ये तीन भेद ही माने है। उन्होंने करुणविप्रलम्भ और करुण को एक बताया है। रूपगोस्वामी पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्य और प्रवास ये चार भेद मानते हैं।[४६] इनमें पूर्वराग, मान, प्रवास पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत उपभेद हैं। करुण विप्रलम्भ को उन्होंने अलग से मानने की आवश्यकता नहीं समझी। उसको वे प्रवास से भिन्न नहींमानते।[४७] प्रेमवैचित्य उनका सर्वथा नवीन एवं महत्त्वपूर्ण प्रकार है। यह वह प्रेम की तरंग है जिसमें संयोग और वियोग का युगपत् अनुभव होता है। संयोगानुभव के सर्वथा अभाव के कारण प्रत्यक्ष संयोग होते हुए भी प्रेम-वैचित्य की गणना वियोग के भेदों में ही की गई है। पडितराज जगन्नाथ ने उपभेद-विस्तार में अपनी अभिरुचि नहीं दिखाई। उन्हें विप्रलम्भ के नाना प्रकारों में कोई वैलक्षण्य नहीं दीखा। उन्होंने केवल प्राचीनों के मत को सादर उद्धृत किया है। अपने सम्बन्ध में केवल इतना कह दिया कि प्रवासादि उपाधियों के कारण किए गए भेदों में उन्हें कोई वैलक्षण्य प्रतीत नहीं होता, अतः वे भेद—विस्तार के प्रपच में नहीं पड़े हैं।

विप्रलम्भ के मर्म को समझने लिये यह आवश्यक है कि उसके उपभेदों और अवान्तर भेदों की मीमांसा की जाए। दर्जनों प्रामाणिक लक्षण—ग्रन्थ है, उनकी अपनी अलग—अलग परिभाषाएँ हैं। उन सबके विस्तार में जाना आवश्यक नहीं, क्योंकि उनमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। पूर्वराग, मान, प्रवास, विरह और करुण इन पाँच उपभेदों और उनके अवान्तर उपभेदों का विवेचन अलग से प्रस्तुत किया जा रहा है। जहाँ आचार्यो की दृष्टि में कोई उल्लेखनीय अन्तर होगा, उसे प्रकाश में अवश्य ला दिया जाएगा। विवेच्य प्रसंग में आए पारिभाषिक शब्दों में से प्रत्येक की यथासंभव एक—एक परिभाषा ही दी जाएगी, और विवेचन भी उसी सीमा तक किया जाएगा, जितना कि सम्बद्ध प्रसंग की स्पष्टता के लिए अपेक्षित होगा।

(क) पूर्वराग

मिलन अथवा समागम से पूर्व दर्शनश्रवणादि से नायक-नायिका के हृदय में जो अनुराग का उदय होता है, उसे पूर्वराग कहते हैं। रूप-सौन्दर्य आदि का श्रवण दूत, बन्दी, सखी आदि में से किसी के मुख से सम्भव हो सकता है। दर्शन का जहां तक सम्बन्ध है, वह इन्द्रजाल, स्वप्न, चित्र में अथवा साक्षात् किसी प्रकार हो सकता है।[४८] संस्कृत नाटकों में श्रवण-दर्शन के सभी प्रकारों को अपनाकर पूर्वराग वर्णित

---

४६. उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ५०८

४७. वही, ५५९

४८. श्रवणात् दर्शनाद् वापि मिथः संरूढरागयोः।
दशाविशेषो योऽप्राप्तौ पूर्वरागः स उच्यते॥

हुआ है। 'नैषध' का पूर्वराग दूत एवं वन्दीजन द्वारा वर्णित गुणों के श्रवण से तथा मालतीमाधव का पूर्वराग सखी द्वारा वर्णित गुणों के श्रवण से उत्पन्न हुआ है। 'मालविकाग्निमित्र' में जिस पूर्वराग का चित्र मिलता है, वह चित्र-दर्शन द्वारा उत्पन्न हुआ है। 'श्रीमद्भागवत' में उषा का अनिरुद्ध के प्रति पूर्वराग स्वप्नद्वारा जगा है। 'कर्पूरमंजरी' के पूर्वराग के मूल में इन्द्रजाल में दर्शन तथा शाकुन्तलम्' के पूर्वराग में साक्षात् दर्शन कारण है।

पूर्वराग के उक्त सभी चित्रण एक-सा महत्त्व नहीं रखते। राग का उदय दूत वन्दी सखी द्वारा गुणश्रवण, चित्रदर्शन, स्वप्नदर्शन आदि के कारण हो सकता है, इसमें सन्देह नहीं, पर वह रति कितनी पूर्ण हो सकेगी तथा उस रति के आलम्बन की अप्राप्ति के कारण आश्रय की विरह-वेदना कितनी गम्भीर कही जा सकेगी, इसमें सन्देह है। बार-बार बहुत कालतक गुण सुनते-सुनते प्रेम कुछ गम्भीर हो सकता है, पर वह अपनी पूर्णता तक पहुंच सके या उसे चित्त की कोई उदात्त या गम्भीर वृत्ति कहा जा सके, यह सम्भव नहीं। चित्रदर्शन और स्वप्न-दर्शन तो और हलके प्रसंग हैं। इनके द्वारा जो रति जगेगी, उसके मूल में काम या रूपलोभ के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? हां, इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि पूर्वराग की स्थिति होती है और वह स्वाभाविक भी है। आपत्ति केवल इस बात पर है कि पूर्वराग को उद्भूत करने वाले सभी कारण एक-सा पूर्वराग नहीं उत्पन्न कर सकते और न पूर्वराग-काल में वियोग की समस्त दशाएँ आश्रय में प्रकट हो सकती हैं। राग की उद्भूति के लिए इन्द्रजाल का आश्रय तो अत्यन्त उपहासास्पद लगता है। हां, साक्षात् दर्शन सुपुष्ट राग की उद्भूति के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन है। जिसके प्रति राग उद्भूत हो. उसके साथ साक्षात् परिचय अत्यन्त आवश्यक है। कुछ सुपुष्ट ऐमा आधार तो हो जिसके सहारे राग अपनी स्वाभाविकता मे उदित हो सके। पूर्वराग वस्तुतः रति–प्रेम की स्थायी दशा का वह पूर्वरूप है जो विकसित होकर धीरे-धीरे नाना रूपों में बढता है और अपनी पूर्णता पाता है। किसी को न जानना या बूझना, पर उसके तीव्र विरह की ज्वाला में भुनते रहना अस्वाभाविक लगता है। यदि ऐसा सम्भव और साध्य हो और उसका कुछ फल दीखे, तब तो आज प्रेस और फोटोग्राफी के युग में पढ़ कर, सुन्दर एवं संकल्प-रमणीय चित्र आदि देखकर पूर्वराग की स्थिति से बचपाना बड़ा कठिन लगता है। उक्त आपत्तियों का शमन करने के लिए प्राक्तनी रति की शरण ली गई है। किसी व्यक्ति की व्यक्ति विशेष के प्रति प्राक्तनी रति हो सकती है, जोकि गुणश्रवण, चित्र-स्वप्नदर्शन या साक्षात् दर्शन से विकसित हो सकती है, इसलिए उक्त कारण से

श्रवणं तु भवेत्तत्र दूतवन्दीसखीमुखात् ।
इन्द्रजाले च चित्रेच साक्षात्स्वप्ने च दर्शनम् ॥ —साहित्यदर्पण ३/१८८,१८९

पूर्वराग की स्थिति तक पहुँचने में किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं रह जाती। लेकिन प्रणय-प्रसंग में प्राक्तनी रति का सहारा लेने से स्थिति और बिगड़ जाती है। व्यक्ति की कलुषित वासना और उसकी रूपलोभ या रूपमोह की प्रवृत्ति के लिए एक अच्छा समाधान मिल जाता है। इसके आश्रय से तो सामाजिक अव्यवस्था ही बढ़ेगी। हाँ, भक्ति के क्षेत्र में इसका अपना विशेष महत्त्व है। विरल लोगों में यह पावन रति जगती है जिसके आस्वाद मे उन्हें स्थायी अलौकिक चरम विश्रान्ति मिलती है तथा जिसे पाकर उनका जीवन धन्य हो जाता है। यहां तो प्राक्तनी रति की कुछ अपनी विशिष्टता है। वह सबकी सम्पत्ति नहीं, वह किसी विशेष में ही जगती है। परन्तु जहाँ सबकुछ सामान्य हो, जहाँ व्यक्ति की सबलता नही, अधिकतर उसकी दुर्बलता ही प्रकाश में आती हो या आ सकती हो, वहाँ प्राक्तनी रति का अवलम्ब लेकर दोप पर पर्दा डालना समुचित नही प्रतीत होता। भक्तों ने तो इस रति को खुलकर स्वीकार किया है।[४९]

आचार्यों ने पूर्वराग का विवेचन करते हुए पूर्वराग में पाई जाने वाली दस कामदशाओं का उल्लेख किया है। वे हैं—अभिलाष, चिंता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, संप्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति।[५०] विप्रलम्भ की स्थिति में उक्त दशाएं प्राप्त होती हैं, परन्तु पूर्वराग की स्थिति में उक्त समस्त दशाएं सम्भव हो सकती हैं, इसमें सन्देह है। उद्वेग, जड़ता, व्याधि, मृति ये दशाएं तो सम्भोगपुष्ट विप्रलम्भ में ही अनुकूल प्रतीत होती हैं। अयोग की स्थिति मे इन सबका घटित होना अस्वाभाविक लगता है। दूसरी बात यह भी है कि कुछ आचार्यो ने पूर्वराग को अभिलाषमूलक विप्रलम्भ नाम दिया है। इससे भी कुछ ऐसा संकेत मिलता है कि पूर्वराग में अभिलाष से मिलती-जुलती सामान्य दशाएँ ही चित्रित होनी चाहिएं। ये अवस्थाएँ चाहे दस हों या बीस हों, या और भी अधिक हो सकती हैं, पर होंगी वे उसी श्रेणी की जो विप्रलम्भ रति की आरम्भिक स्थिति के अनुकूल हो सकेंगी। शारदातनय का कहना है कि आचार्यों ने दशाओं की दस संख्या प्रायोवृत्ति से ही बताई है। महाकवियों के प्रबन्धों में और भी बहुत-सी दशाएँ देखने में आती हैं।[५१]

आचार्यों ने पूर्वराग के भी तीन भेद किए हैं। वे हैं-नीलीराग, कुसुम्भराग और मंजिष्ठाराग। नीलीराग में बाह्यप्रदर्शन कुछ नहीं होता, पर अनुराग हृदय में

---

४९. प्राक्तनी रतिरुद्‌भूता सम्प्राप्तेः पूर्वमेव सा।
पाकद्वयान्तरे पूर्वरागतां प्रतिपद्यते॥ —अलकार कौस्तुभ किरण ५।७८

५०. अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडतामृतिरितिदशात्र कामदशाः॥ —साहित्यदर्पण ३/१९०

५१. दशावस्थत्वमाचार्यैः प्रायोवृत्त्या तु दर्शितम्।
महाकवि प्रबन्धेषु दृश्यन्ते तास्त्वनेकधा॥ —भावप्रकाशन, पृ० ८५

कूट–कूट कर भरा रहता है। कुसुम्भ राग में बाहरी चमक-दमक ही होती है, वह हृदय में नहीं होता। मंजिष्ठा राग में अनुराग हृदय में भी रहता है और अपनी वाह्य दीप्ति भी पूरी बनाए रहता है।[५२] पूर्वराग के उक्त उत्तमाधममध्यम प्रकारों में दशाएँ एकसी नहीं हो सकतीं। आचार्यो ने उक्त भेदों को ध्यान में रखकर प्रत्येक भेद के लिए उपर्युक्त दशाओं का अलग से विवेचन नहीं किया है। कवि कर्णपूर गोस्वामी ने एक चतुर्थ राग हारिद्रसंज्ञक और माना है जो कि कौसुम्भराग से भी हीन ठहरता है। यह न तो हृदय में रहता है और न अपनी कुछ चमक–दमक ही रखता है।[५३] इस विधा का पूर्वराग की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। हां, विधाओं के परिगणन में एक संख्या और बढ़ गई है।

रूपगोस्वामी ने भी राग के पहले दो भेद किए है—नीलिमा और रक्तिमा। फिर नीलिमा के दो भेद नीलीराग और श्यामाराग तथा रक्तिमा के दो भेद कौसुम्भ राग और मांजिष्ठ राग किए है। ये भेद पूर्वराग के सन्दर्भ में वर्णित नहीं हुए हैं। इनका वर्णन हुआ है उस राग के प्रसंग में जोकि अपने मूलभाव रति से प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय के रूप में उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होकर राग की स्थिति में पहुँचा है। लक्षण के अनुसार राग उस प्रेम को कहते है जिसमें प्रणयोत्कर्ष के कारण चित्त में अधिक दुःख भी सुख के रूप में अनुभूत होता है।[५४] परिभाषा की दृष्टि से भी रूपगोस्वामिपादकृत रागभेद अन्य आचार्यो द्वारा किए गए भेदों से कुछ अंशों में भिन्न भी हैं। राग के इन चारों भेदों में उत्तरोत्तार विकास परिलक्षित होता है। नीलीराग और श्यामाराग की अपेक्षा कौसुम्भराग उत्तम है जबकि अन्य आचार्यो ने इसे तृतीय स्थान पर अर्थात् सबसे नीचे रखा है। विस्तृत विवरण के लिए उज्वलनीलमणि का स्थायिभाव-प्रकरण द्रष्टव्य है।

रूपगोस्वामी ने पूर्वराग के भेद कुछ भिन्न ढंग से किए हैं। वे इस प्रकार हैं—प्रौढपूर्वराग, समंजसपूर्वराग और साधारण पूर्वराग।[५५] प्रौढपूर्वराग में रति अत्यन्त समर्थ होती है। प्राक्तन आचार्यो द्वारा बताई गई दस दशाएँ उसमें पाई जाती हैं और वे सभी प्रौढ होती हैं। उन्होंने जो १० नाम गिनाए हैं, वे है लालसा, उद्वेग, जागर्या, तनुता, जडिमा, वैयग्य्य, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु।[५६] समंजस पूर्वराग में रति अल्पप्रौढ होती है और उसमें भी अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण–

---

५२ साहित्यदर्पण ३/१९५, १९६, १९७

५३. हारिद्रः सतु बोध्यो यात्यपि न च शोभते यस्तु।

—अलंकार कौस्तुभ, पंचम किरण, पृ० १६६-

५४. उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ४४३, श्लोक संख्या ११५

५५. वही, पृ० ५११, श्लोक संख्या १७

५६. वही, पृ० ५१२, श्लोक संख्या १८-२०

संकीर्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद, व्याधि, जडता और मृति ये दस दशाएं अपेक्षाकृत कुछ कम उत्कट स्थिति में दिखाई जाती हैं।[५७] साधारण पूर्वराग में रति साधारण होती है। इसमें समंजस पूर्वराग की अभिलाष से लेकर विलाप तक केवल छह दशाएं पाई जाती हैं। ये दशाएं कोमल ही होंगी।[५८]

रूपगोस्वामी का प्रौढता, अल्पप्रौढता और कोमलता की दृष्टि से किया गया दशाओं का विवेचन और उक्त तीनों भेदों में दशाओं की संख्या का नियमन अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। उन्हें भी यह स्वाभाविक प्रतीत हुआ कि पूर्वराग के उत्तमाधममध्यम भेदों मे दशाओं की तीव्रता एक-जैसी नहीं होनी चाहिए और न सभी भेद सर्वत्र घटित किए जाने चाहिएँ। पूर्वराग के भेदो के नाम भिन्न अवश्य है, पर उनकी भावना नीलीरागादि भेदों से भिन्न नहीं है। पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट दशाओं की दश संख्या उन्होंने भी स्वीकार की है।

कवि कर्णपूर ने 'अलंकार कौस्तुभ' में 'केचित्तु' कहकर 'रससुधाकर' में वर्णित कुछ नई दशाओं का उल्लेख किया है। वे है--नयनप्रीति, चिन्ता, संकल्प, स्वप्न-विच्छेद, कृशता, विषयनिवृत्ति, ह्रीनाश, उन्माद, मूर्च्छा और मृति।[५९] रागके वर्णन के विषय में आचार्यों का विचार है कि पहले नायिका का राग वर्णित होना चाहिए, फिर नायक का।[६०] यह आवश्यक नहीं कि पहल नायिका की ही तरफ से हो, नायक की और से पहल होने की सम्भावना अधिक होती है, फिर भी पहले मृगाक्षियों के रागके वर्णन से चारुता अधिक आती है।[६१] इसलिए उन्हीं के राग का वर्णन पहले किया जाता है।

(ख) मान

मान का अभिप्राय है प्रणयकोप (मानः कोपः—'साहित्यदर्पण' ३।१९८)। इसमें नायिका प्रतिषेधार्थक 'मा' 'न' की वीप्सा से काम लेती है, फलतः ईप्सित आलिंगनादि का निरोध होता है।[६२] यह प्रतिषेधार्थक 'मा' 'न' की उक्ति सहेतुक और अहेतुक दोनों ही हो सकती है।[६३] एक स्थान पर स्थित अनुरक्त दम्पति का

---

५७. उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ५२०, श्लोक सं० ४५, ४६
५८. वही, पृ० ५२३, श्लोक सं० ५६
५९. अलंकारकौस्तुभ किरण ५, पृ० १६५, १६६
६०. साहित्यदर्पण ३/१९५
६१. अलंकार कौस्तुभ, पृ० १६६
६२. मुहुः कृतो मेति मेति प्रतिषेधार्थ-वीप्सया।
ईप्सितालिंगनादीनां निरोधो मान उच्यते॥ —रसार्णवसुधाकर, द्वितीय विलास
६३. अहेतोर्मेति मेत्युक्तेर्हेतोर्वा मान उच्यते। —सरस्वती कण्ठाभरण ५/४८

वह कोपभाव जिसके कारण अभीष्ट दर्शनादि का निरोध देखने में आता है, मान कहलाता है।[६४]

भोज ने मान शब्द की कई निरुक्तियां प्रस्तुत की हैं और उनके द्वारा उसकी समस्त विशेषताओं को स्पष्ट कर दिया है। प्रथम निरुक्ति है—'मान्यते पूज्यते अनेन इति मानः।' यहां 'मान पूजायाम्' धातु से घञ् प्रत्यय करने पर मान शब्द बना है। इस मान का अर्थ है प्रसादन, पूजा। नायिका जब कोप में होती है, नायक उसके साथ विशेष सत्कार से पेश आता है और इस तरह उसके कोप को दूर कर देता है। नायक के द्वारा नायिका का यह संमानन–प्रसादन–मान की एक प्रमुख विशेषता है।

दूसरी निरुक्ति है–'मन्यते दुःखैकहेतुमपि सुख-साधनत्वेन इति मानः।' यह मान शब्द 'मन ज्ञाने' धातु से निष्पन्न हुआ है। मान वियोग की एक दशा है, इसलिए उसमें वियोग-सुलभ वेदना का होना स्वाभाविक है। पर प्रेमी जनों को यह वेदना भी मधुर लगती है। इससे मान की दूसरी यह विशेषता स्पष्ट हो जाती है कि मान में दुःख भी सुख–सा अनुभूत होता है।

तीसरी निरुक्ति है—'मनते बुध्यते अस्मात्प्रेमास्तित्वमिति मानः।' यहां मान शब्द 'मनु अवबोधने' धातु से बना है। नायक के व्यलीक (अप्रिय) आचरण पर नायिका का ईर्ष्या क्रोध से अभिभूत हो जाना इस बात का प्रमाण है कि नायिका नायक से प्रेम करती है, इसीलिए उसे अपनी उपेक्षा असह्य हो जाती है। यदि नायक से उसे प्रेम न हो तो उसे नायक के व्यवहार की चिन्ता ही न हो। फिर तो दोनों ही अपनी मनमानी करें और एक-दूसरे की चिन्ता ही छोड़ दें। प्रेम की स्थिति में ही मान के लिए अवसर होता है। इससे यहां मान की तीसरी विशेषता यह पता चल जाती है कि मान-काल में प्रेम ही प्रमुख तत्व रहता है, भले ही उसके ऊपर कोप आदि का आवरण पड़ा हो।

चतुर्थ निरुक्ति है 'यो मिमीते स मानः'। यहां मान शब्द 'माङ् माने' धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। यहां मान का अर्थ है नापना। मान से पता चलता है कि नायिका का नायक पर कितना गहरा प्रेम है। मान से ही प्रेम की गहराई की नाप-जोख होती है। इस तरह मानकाल में प्रेम का गम्भीरता से बने रहना मान की चौथी विशेषता है।[६५] उक्त विशेषताओं के संयोजन से मान की और बहुत-सी अवस्थाएं प्रकाश में आ सकती हैं।

---

६४. दम्पत्योर्भाव एकत्र सतोरप्यनुरक्तयोः।
स्वाभीष्टाश्लेषवीक्षादि-निरोधी मान उच्यते॥ —उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ५३६

६५. मान्यते प्रेयसा येन यं प्रियत्वेन मन्यते।
मनुते वा मिमीते वा प्रेममानः स कथ्यते॥ —सरस्वती कंठाभरण ५/६६

वस्तुतः मान शब्द भी रस की तरह सर्वगामी संज्ञा-शब्द है। केवल रूठे रहना ही उसका अर्थ नहीं है। न जाने कितने भाव उसमें उन्मज्जन करते हैं। मान हर्ष, विषाद, भय, आशा, अहकार, क्रोध, प्रेम, वितृष्णा आदि का सम्मिलित रूप है। इसमें बाहर-बाहर मे उदासीनता और भीतर-भीतर से प्रबल आसक्ति पाई जाती है। इसके व्यक्त रूप की कल्पना कर पाना सरल नहीं।

आचार्यों ने मान के दो भेद किए है—प्रणय-मान और ईर्ष्यामान। ईर्ष्यमान पर आचार्यों ने विस्तार से विचार किया है। काव्यालंकार, रसतरंगिणी आदि कुछ लक्षण-ग्रन्थों मे उक्त दोनों भेदो का नाम से निर्देश न करके ईर्ष्यामान पर ही विवेचन किया गया है।

प्रेमपूर्वक दूसरे को वश में करना प्रणय कहलाता है और जो मान इस प्रणय को भग करता है, उसे प्रणयमान कहते है।[६६] इसमें प्रेम के एक सहज अंग का प्रकाशन होता है। प्रेम का वह अंग है उसकी सहज कुटिल गति, उसकी स्वाभाविक वामता। उसकी गति अहि की स्वभाव-कुटिला गति के समान होती है।[६७] उसके लिए किसी कारण की अपेक्षा नहीं होती।[६८] एक श्लोक प्रसिद्ध है कि नदियों की, वधुओं की, भुजंगों की तथा प्रेम की गति अकारण वक्र होती है—

नदीनां च वधूनां च भुजंगानां च सर्वदा।
प्रेम्णामपि गतिर्वक्रा कारणं तत्र नेष्यते॥

यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि जहा प्रेम उत्कर्ष स्थिति में होता है, वहा उसकी वक्रता प्रकाशित हुए बिना नहीं रहती। यही कारण है कि प्रणयमान निर्हेतुक होता है। यह नायक-नायिका दोनों में पाया जाना है, किन्तु नायिका के साथ इस के अवसर अधिक आते हैं और वे सुमधुर भी अधिक होते हैं। काम से लौटने में प्रिय को ज़रासी देर हो जाए या प्रेमोपचार में उससे कुछ भूल हो जाए, प्रिया की भृकुटि वक्र हो जाएगी, चेहरे पर हलकी-सी कृत्रिम कठोरता आ जाएगी, फिर वह प्रतीक्षा करेगी कि प्रिय मुझे मनाए और मेरे कोपाभास की क़द्र करे। लेकिन यह कोपाभास अनुनय-विनय की स्थिति तक बना रहना चाहिए। यदि वह क्षणिक हुआ, अनुनय-विनय का बिना अवसर आए ही नायक के सामने आने पर स्वतः दूर हो जाए, तो मानविप्रलम्भ नहीं होगा, वहां माना जाएगा सम्भोग शृंगार का संचारी असूया भाव। यह अहेतुक मान प्रेम का सहज अंग है और इसके अनन्त सुमधुर प्रकार हो सकते हैं।

---

६६. प्रेमपूर्वको वशीकारः प्रणयः, तद्भंगो मानः प्रणयमानः। —अवलोक (दशरूपक) ४|५८
६७. अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभाव-कुटिलेति सः। —सरस्वतीकंठाभरण ५/४८
६८. कोपो यः कारणं विना··· — ······ —साहित्यदर्पण ३/१९८

ईर्ष्यामान तो तभी प्रकट होता है जब प्रिय की अन्य के प्रति आसक्ति प्रकट हो जाती है। यह अन्यासक्ति या तो स्वयं आंखों से देखी गई हो अथवा किसी के मुख से सुनी गई हो। ईर्ष्यामान के और भी बहुत से कारण हो सकते है। उन्हें सीमा में बाँध पाना सम्भव नहीं। गुप्त रूप से लिखे गए पत्र, यदि नायक धीरललित हुआ तो उसकी कलाकृति पर पड़ी कनिष्ठा नायिका के प्रभाव की छाया तथा कनिष्ठा के दिख जाने पर नायक की आंखों में चमकती हुई स्नेह की दीप्ति आदि ऐसे अनेक कारण हो सकते हैं जिनसे ईर्ष्यामान का जनन होता है। प्रिय की अन्यासक्ति का अनुमान तीन तरह से हो सकता है—या तो नायक स्वप्न दशा में अन्य प्रिया से प्रणय-निवेदन कर उठे या उसके वियोग की आकुलता में कुछ कह जाए, या पत्नी को पुकारते समय अपनी नई प्रिया का नाम ले बैठे—गोत्रस्खलन कर बैठे अथवा प्रिय के शरीर पर अन्यनायिका के साथ हुए सम्भोग के नखक्षत आदि चिह्नों को देख ले।[६९] यह ईर्ष्यामान केवल नायिका में होता है। कृतापराध नायक को नायिका के प्रति तो भय हो सकता है। नायक के अन्यासंग के अपराध पर ईर्ष्या तो नायिका को ही होगी। नायक-नायिका दोनों में जो चीज़ पाई जाएगी, वह मान नामक रस होगा। नायक को भी भय तभी होगा जब वह नायिका से स्नेह करता होगा और नायिका की ईर्ष्या तभी जगेगी जबकि उसका नायक पर प्रणय होगा।[७०]

निर्हेतुक मान तो स्वयं शान्त हो जाता है। नायक का आकर नायिका का आलिगन-चुम्बनादि कर लेना, नायिका का हस पड़ना और दो चार आंसू ढलका देना यही उसकी अवधि है। हेतुज मान की शांति के लिए आचार्यों ने कुछ उपाय बताए हैं। वे हैं—साम, भेद क्रिया, दान, नति, उपेक्षा और रसान्तर।[७१] रसान्तर से तात्पर्य है अन्य रसादि की प्रस्तुति का। वह याद्च्छिक-अकस्मात् उपस्थित-भी हो सकता है, प्रत्युत्पन्न-बुद्धि कान्त के द्वारा कल्पित भी हो सकता है।[७२] ईर्ष्या के तारतम्य के आधार पर मान में भी तारतम्य देखा जाता है, अतः इस मान के तीन भेद किए गए हैं—लघु, मध्य और महिष्ठ। लघुमान सुसाध्य होता है, मध्यम मान यत्न-साध्य होता है और महिष्ठ दुस्साध्य होता है। इसीलिए नायक को पहले यह देखना आवश्यक होता है कि मान तीव्र है या मृदु है, फिर वह तदनुसार यथावश्यक उपायों का अवलम्बन करता है।[७३] इसके अतिरिक्त यह भी देखना पड़ता है कि देश, काल, पात्र और प्रसंग किस श्रेणी के हैं। यदि वे उत्तम श्रेणी के हुए तो

---

६९. साहित्यदर्पण, ३/१९९, २००

७०. स्नेहं विना भय न स्यात् नेर्ष्या च प्रणयं विना। —उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ५२७

७१. उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ५३९, श्लोक १००–१०३

७२. रसार्णवसुधाकर, द्वितीय विलास।

७३. उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ५४८, श्लोक-संख्या १२९, १३०

नायिका का कोप असाध्य होता है, यदि मध्यम श्रेणी के हुए तो वह कृच्छ्र-साध्य होता है और यदि हीन श्रेणी के हुए तो सुख-साध्य होता है।[७४] इनमें देश, काल और प्रसंग का महत्त्व अवश्य है, पर पात्र का महत्त्व उनसे भी अधिक है। पात्र जितना उत्तम होगा, देशकाल प्रसंग भी उस पर उतना ही प्रभाव डालेंगे। अनुकूल दक्षिण नायक से यदि ज्येष्ठा नायिका का अपराध हो जाता है तो वह असाध्य होता है, शठधृष्ट नायक से बन पड़ा अपराध कृच्छ्र-साध्य होता है और शठनायक द्वारा किया गया अपराध सुखसाध्य होता है। असाध्य स्थिति अत्यन्त गम्भीर होती है। उसमें मनस्विनी नायिका प्राणत्याग तक कर देती है या नायक से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेती है।

(ग) प्रवास

नायक-नायिका की भिन्न देश-स्थिति प्रवास कही जाती है।[७५] प्रवास से पूर्व नायक-नायिका संगत होते हैं। इन दोनों में जब देशान्तर, वनान्तर, ग्रामान्तर से व्यवधान उपस्थित होता है, तभी प्रवास की स्थिति आती है। प्रवासजन्य विप्रलम्भ को भी प्रवास ही कहते हैं।[७६]

भोज ने प्रवास की निरुक्ति कई प्रकार से की है और उसके द्वारा उन्होंने उससे सम्बद्ध सभी विशेषताओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। प्रवास शब्द वस धातु से भावकरणादि में घञ् प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है। वस धातु दो हैं—'वस निवासे' और 'वस आच्छादने'। दोनों ही धातुओं का प्रवास की सिद्धि में उपयोग किया गया है।

नीचे 'वसनिवासे' से निष्पन्न प्रवास शब्द की तीन निरुक्तियां दी जा रही हैं, जोकि उसकी तीन विशेषताओं की ओर संकेत करती हैं।

प्रथम निरुक्ति है 'प्रवसनं प्रवासः'। वस का अर्थ है रहना, पर 'प्र' उपसर्ग लगने से वह विपरीतार्थवाची हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्रवास का अर्थ होता है यात्रा पर दूर चले जाना। यह उसका मुख्य अर्थ है। इससे नायक-नायिका की भिन्नदेशस्थिति का पता चलता है।

वास का एक अन्य अर्थ सुगन्धि भी होता है। प्रकृष्टार्थक 'प्र' उपसर्ग के जोड़ने से उसका अच्छी सुगन्धि अर्थ होगा। निरुक्ति इस प्रकार है—'उत्कंठादिभिः

---

७४. काव्यालंकार, १४/१८

७५. प्रवासो भिन्नदेशित्वम् —साहित्यदर्पण ३/२०४

७६. तज्जन्यविप्रलम्भोऽय प्रवासत्वेन कथ्यते। —उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ५५०

चेतः प्रकर्षेण वासयति इति प्रवासः' ।[७७] सुदीर्घ विरह-काल में प्रेमी-प्रेमिकाओं का चित्त एक-दूसरे की सुखद स्मृति से सुवासित रहता है—दोनों के लिए दोनों का हृदय पूर्ण तन्मय रहता है।

प्रपूर्वक णिजन्त वस धातु का अर्थ अन्तः प्रमापण—आभ्यन्तर वध भी होता है। लम्बे वियोग में यह देखा जाता है कि नायक-नायिका में यदि कोई अधिक कल्पनाप्रवण और संवेदनशील हुआ तो वह दूसरे की याद में खुशी-खुशी मृत्यु का वरण भी कर लेता है। प्रवास की यह कादाचित्क विशेषता निम्न निरुक्ति से स्पष्ट हो जाती है—'प्रवास्यन्ते हन्यन्ते वियोगिन इति प्रवासः' ।[७८] उक्त अर्थ की पुष्टि में 'तूष्णीं प्रवासयेदेनम्' जैसे प्रयोग के द्वारा वृद्धों के अनुशासन की बात भी उन्होंने कही है।

प्रवास में एक बात और देखने में आती है। इस काल में नायिका अपने शृंगार की ज़रा भी परवाह नहीं करती। वह मलिन-वस्त्र धारण किए रहती है। वियोग के दिन बांधी गई वेणी मिलन से पूर्व खोलती नहीं या संवारती नहीं। शास्त्रों ने भी कुछ ऐसा निर्देश किया है[७९] और कवियों ने भी कुछ ऐसे ही वर्णन प्रस्तुत किए हैं।[८०] यह है नायिका का विरहव्रत। इस तथ्य को व्यक्त करने के लिए भोज ने 'वस आच्छादने' धातु का सहारा लिया। यहां 'प्र' उपसर्ग प्रकृष्टार्थक है, विपरीतार्थक नहीं। इस सन्दर्भ में उन्होंने प्रवास की निरुक्ति इस प्रकार की है—'वसते आच्छादयन्ति अस्मिन् वियोगिन्यो विशेषवेषादिकमिति प्रवासः' ।[८१]

उक्त निरुक्तियों द्वारा भोज ने यह बताया है कि प्रवास में प्रिय दूर यात्रा पर चला जाता है, दोनों ही वियुक्त हो जाते हैं, दोनों का हृदय एक-दूसरे की स्मृति से सुवासित रहता है, नायिका को अपने शृंगार की चिन्ता नहीं रहती, वह एक वेणी-धरा तथा मलिनवस्त्रधारिणी रह कर प्रियका ही चिन्तन करती रहती है और यदि वियोग बहुत लम्बा हुआ तो कल्पनाप्रवण, संवेदनशील प्रिया को कभी-कभी प्राणों तक से हाथ धोना पड़ता है। इससे अधिक प्रवास के सम्बन्ध में और क्या कहा जा सकता है—वह भी निरुक्ति के माध्यम से।

---

७७. चित्तोत्कठादिभिश्चेतो भृशं वासयतीह यः। —सरस्वतीकंठाभरण ५/७२

७८. प्रपूर्वको वसिर्ज्ञेयः कारितान्तःप्रमापणे।
तूष्णी प्रवासयेदेनमिति वृद्धानुशासनात् ॥ —सरस्वतीकंठाभरण ५।७३

७९. न प्रोषिते तु संस्कुर्यात् न च वेणी प्रमोचयेत्। —हारीत

८०. (क) आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा। —मेघदूत (उत्तरमेघ) २९

(ख) वसने परिधूसरे वसाना —शाकुन्तलम् ७।२१

(ग) तत्रांगचेलमालिन्यमेकवेणीधर शिरः।
निश्वासोच्छवासरुदितमूमिपानादि जायते ॥ —साहित्यदर्पण ३/२०५

८१. शृंगारप्रकाश, पृ० २२६

नायक का देशान्तर-गमन कार्यवश, शापवश या संभ्रमवश होता है। कार्य-वश बड़ा व्यापक शब्द है। कार्य किसी प्रकार का हो सकता है, चाहे वह धार्मिक हो, सामाजिक हो या राजनीतिक हो। कार्य ही वस्तुतः देशान्तर गमन का कारण है। कार्यानुरोध से यह गमन बुद्धिपूर्वक होता है और उसके भावी, भवन्, भूत ये तीन भेद हो सकते हैं। शाप से प्रवास का वर्णन संस्कृत-साहित्य में अनेक स्थलों पर हुआ है। कालिदास का 'मेघदूत' शापमूलक विप्रलम्भ का आद्यन्त उदाहरण है। उनके 'शाकुन्तलम्' और एक सीमा तक 'विक्रमोर्वशीयम्' में भी यह दृष्टिगोचर होता है। नायक-नायिका के समीप होने पर भी जहां उनका स्वरूप–स्वभाव या रूप शाप के कारण बदल जाए, वह भी शापज प्रवास कहा जाता है।[८२] वैशम्पायन और महाश्वेता का वियोग इसी प्रकार का था। सम्भ्रमज प्रवास वह होता है, जहां दैवी और मानुषी विप्लव के कारण नायक-नायिका एक-दूसरे से वियुक्त हो जाते हैं। यह सम्भ्रमजनित प्रवास उत्पात, बिजली गिरना, तूफान आना आदि की गड़बड़ी से या किसी दूसरे राजा के आक्रमण से होता है।

प्रवास में निम्नलिखित दस कामदशाएँ पाई जाती है—अगों की मलिनता, ताप (वियोगज्वर), पाण्डुता, दुर्बलता, अरुचि, अधृति (कहीं भी जी का न लगना), अनालम्बनता (चित्त की शून्यता), तन्मयता (सर्वत्र प्रिय का दर्शन करना), उन्माद और मूर्च्छा।[८३] रूपगोस्वामी ने भी इसकी दस दशाएँ बताई हैं जिनमें से कुछ उपर्युक्त दशाओं से मिलती हैं और कुछ भिन्न हैं। वे है—चिन्ता, जागर, उद्वेग, तानव, मलिनांगता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु।[८४] प्रेम की अनन्त स्थितियाँ हैं और तदनुसार उसकी दशाएँ भी अनन्त हो सकती है। आचार्य तो विस्तारभय से उनके वर्णन में प्रवृत्त नहीं होते।[८५] यही कारण है जो कि आचार्यों की दशा-सूची में अन्तर दीखता है।

शारदातनय ने विप्रलम्भ के अलग-अलग भेदों में पाई जाने वाली दशाओं का अलग से तो वर्णन नही किया है, पर सामान्य रूप से विप्रलम्भ की दशाओं का वर्णन करते हुए प्रत्येक दशा में पाए जाने वाले भावों और मान्मथ विकारों का विस्तार से अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन किया है। पहले उन्होंने जिन द्वादश मान्मथा-वस्थाओं का वर्णन किया है वे इस प्रकार हैं–इच्छा, उत्कंठा, अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणस्तुति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जाड्य और मरण। वह यह भी बताते हैं कि कुछ लोग इनमें से जाड्य और मरण को वर्जित मान कर दस दशाएं

---

८२. स्वरूपान्यत्वकरणात् शापजः सन्निधावपि। —दशरूपक ४/६६

८३. साहित्यदर्पण ३/२०६

८४ उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ५५४

८५. उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ५५६

ही ठीक समझते हैं। इन्द्रियों की समस्त गुणसम्पत्तियों के सहारे मन की अभीष्ट की ओर स्पन्दन करने की एकाग्रता को 'इच्छा' कहते हैं। संकल्पसहित अभीष्ट प्राप्ति की इच्छा 'उत्कंठा' है। उत्कंठाजन्य काम-दशाएं हैं-अन्तस्संभोग-संकल्प, प्रिय के पथ का अवलोकन, अंगग्लानि, मनोरक्ति, मनोरथ-विचिन्तन, जानु और करतल पर कपोल-भाग रख कर विचिन्तन, प्रसन्नमुखराग, स्वेद, ऊष्मा और गद्गद वाणी। संकल्प-इच्छा जिसके मूल में है ऐसे व्यवसाय मूलक प्रिय के समागम के उपाय को 'अभिलाष' कहते हैं। इसमें जो काम-दशाएं देखी जाती है, वे हैं-बराबर भीतर-बाहर जाना-आना, प्रिय के सामने पड़ने पर नाना काम-चेष्टाएँ करना, अपने को अलंकृत करना तथा कहीं एकाकिनी होकर चिन्तन करते रहना। मुझे किस प्रकार प्रिय की प्राप्ति होगी, वह क्या कहेगा, मैं क्या कहूंगी, क्या दूत भेजूं, पर उसे भी भेजने से क्या प्रयोजन इस प्रकार का वितर्क 'चिन्ता' कहलाता है। चिन्ताजन्य काम-विकृतियाँ हैं-मेखलादि बाँधना, पाणि से उनका स्पर्श करना, उरु और नाभि का स्पर्श करना, नीवी को शिथिल करके फिर कसना, नेत्रों का अश्रुपूर्ण रहना तथा भीतर-बाहर, आगे-पीछे निराधार देखना। देशकाल-सम्बद्ध सुखदुःखादि भावों का मन से सानुभव विमर्श 'स्मृति' है। ध्यान करते रहना, दीर्घनिश्वास लेना, न खाना, न सोना, न कहीं शान्ति पाना तथा कार्यद्वेष ये मन्मथकल्पित स्मृतिजन्य भाव हैं। रूप, औदार्य, गुण, लीला, चेष्टा, हसित, विभ्रम, सौन्दर्य, आलाप-माधुर्य में कोई भी प्रिय की बराबरी नहीं कर सकता, इस प्रकार की वाणी को 'गुणस्तुति' कहते हैं। स्वैर गुणानुवाद, भावमन्थर वीक्षण, रोमांच, गद्गद वाणी, कपोलों पर स्वेद, दूती से विश्रम्भालाप तथा प्रिय के समागम की चिन्ता ये गुणस्तुतिजन्य कामसूचक भाव हैं। क्रोध 'शोक' भयादि से उत्पन्न मन का कम्प 'उद्वेग' है। उद्वेगज भाव हैं निश्वास, उन्निद्रता, चिन्ता, स्तम्भ, वैवर्ण्य, अश्रु, शय्या और आसन से अप्रीति, हृल्लेख और दीनता। प्रिय को यहाँ देखा था, यहाँ आलिंगन किया था, यहां हम आए थे, यहाँ सोए थे, इत्यादि वाक्य 'प्रलाप' कहे जाते हैं। कहीं देखना, कहीं जाना, कहीं पर रुक जाना कहीं सो जाना, कहीं निद्रा में प्रवृत्त होना, इधर-उधर गलियों में रो पड़ना, घूमना, दौड़ना आदि कामवशानुवर्ती 'प्रलापज' भाव हैं। विरहोत्थ 'उन्माद' में अतत् में तत् का ग्रहण देखा जाता है। इसमें मन सदा सभी अवस्थाओं में, सर्वत्र प्रियगत होता है, प्रिय की कथा से आह्लाद पाता है, अन्य इष्टों से द्वेष करता है, बार-बार दीर्घ निश्वास लेता है, निर्निमेष देखता रहता है, विहारकाल में भी उसमें क्षण-क्षण पर रुदन,क्रन्दन और ध्यान देखने में आता है, वह कभी गाता है, कभी स्तुति करता है और कभी विमूढता को प्राप्त हो जाता है। अभीष्ट-संगम के अभाव में जो व्याधि उत्पन्न होती है, उसमें जो कामज भाव देखे जाते हैं, वे हैं—मोह, अंगदाह, सन्ताप, शिरःशूल, वेदना, मुमूर्षा, जीवनोपेक्षा, जहां-कहीं गिर पड़ना, निःश्वसित, स्तम्भ और परिदेवित। समस्त कार्यों के प्रति सर्वदा चेतनाराहित्य 'जड़ता' है। इस दशा में व्यक्ति इष्टानिष्ट नहीं पहचानता, सुखदुःख नहीं समझता, पूछने पर कुछ नहीं

बोलता, न सुनता है, न देखता है, हा हा करता रहता है, उसमें कृशता, वैवर्ण्य, निश्वास और स्पर्शानभिज्ञता पाई जाती हैं। इसके बाद कामाग्निदग्ध की मरण—दशा आती है।[८६]

उपर्युक्त वर्णन इस बात का निदर्शन है कि विप्रलम्भदशा बड़ी व्यापक दशा है। इस सम्बन्ध के जिन कामदशाओं का वर्णन किया गया है, वे उपलक्षण मात्र हैं। वर्णितदशाओं से कई गुनी और हो सकती हैं। विप्रलम्भ की व्यापक स्थिति को देखते हुए ही इनका वर्णन यहां किया गया है। प्रिय-विरह से उत्पन्न वेदना कितनी गम्भीर और व्यापक होती है, इससे पता चल जाता है।

विप्रलम्भ के भेदों में प्रवास-विप्रलम्भ विशेष महत्त्व रखता है। विरह की सम्पूर्णता और गम्भीरता जो इसमें होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें न पूर्वराग का-सा अर्ध-परिचय रहता है और न मिलन का अनिश्चय ही। यहा न मान की-सी ईर्ष्या देखने में आती है, न उसका-सा कोप और न करुण-विप्रलम्भ का-सा एकान्त अरण्यरोदन। यह विरह अन्य प्रकारों की अपेक्षा स्थायी है, फलतः इसकी वेदना भी स्थायी है। इसमें प्रिय पर जो विश्वास, जो आस्था तथा अंगनाओं के कुसुमकोमल अतएव वियोग में प्रायः शीघ्र ही टूट जाने वाले हृदय को रोक रखने वाला जो आशाबन्ध मिलता है, वह अन्य प्रकारों मे कहां? इसमें विरह की समस्त दशाएँ जितनी अपनी सम्पूर्णता और तीव्रता के साथ मिलती हैं, उतनी अन्य किसी प्रकार में नहीं। जिसे पूर्ण विरह कहते हैं, वह यही प्रवाम-विरह है। यही कारण है कि विरह की गम्भीर अनुभूतियों के दर्शन इसी में सम्भव हो पाते हैं।

(घ) विरह–विप्रलम्भ

आचार्यों ने विप्रलम्भ के उपभेद या तो पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण रूप से किए हैं या अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास, शापहेतुक रूप से। धनंजय, शारदातनय, रूपगोस्वामिप्रभृति कुछ आचार्य करुण उपभेद को नही मानते। वे पूर्वराग, मान और प्रवास ये ही तीन उपभेद स्वीकार करते हैं। पूर्वरागादि उपभेद सम्भवतः सर्व-प्रथम रुद्रट के काव्यालंकार में[८७] और अभिलाष-विरहादि ध्वन्यालोक में मिलते हैं।[८८] अभिनव ने भी अभिलाषादि भेदों पर लोचन और अभिनवभारती दोनों में प्रकाश डाला है। लोचन में कौनसी नायिका किस उपभेद के साथ उपयुक्त होगी, यह बताते हुए उन्होंने विरह-विप्रलम्भ के साथ विरहोत्कंठिता का सम्बन्ध उचित

---

८६. भावप्रकाशन, चतुर्थ अधिकार, पृ० ८८–६१

८७. काव्यालंकार १४/१

८८. ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत, कारिका १२ की वृत्ति

ठहराया है।[८९] अभिनवभारती में संयोगवियोगोभयमूलक शृंगार में अभिलाष ईर्ष्याप्रवासादि दशाओं का अन्तर्भाव बताया है।[९०] मम्मट भी विरह के अभिलाषादि पाँच भेदों का कथन करते है।[९१] रामचन्द्र गुणचन्द्र और विद्यानाथ भी उक्त पाँच भेदों की सीमा में ही विरह का वर्णन करते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य अभिलाषादि भेदों का परिगणन किया है।[९२]

जिन नायक-नायिकाओं ने समागमसुख का अनुभव किया हुआ है, उनका माता-पिता आदि के प्रतिबन्ध के अभाव में भी कार्यान्तर मे व्यापृत होने के कारण एक-दूसरे के पास न पहुंच पाना विरह-विप्रलम्भ होता है।[९३] विद्यानाथ लब्धसंयोग नायक-नायिका के कारणविशेषवश पुनः पुनः समागम-काल के अतिक्षेप को विरह कहते हैं।[९४] वामनाचार्य काव्यप्रकाश की टीका में दोनों में से किसी एक के अनुरागशून्य होने के कारण, दैवप्रतिबन्ध से या लज्जादि-पारवश्य से असंयोग को विरह मानते है।[९५] मुरारिदान जसवन्तभूषण में प्रेमी-प्रेमिका में कारणविशेष से पड़े कुछ काल के व्यवधान को विरह बताते हैं।[९६] रसगंगाधर की नागेशभट्ट कृत टीका समीप रहने पर भी गुरुजनों की लज्जा आदि के प्रतिबन्ध से समागम न हो पाने को विरह कहती है।[९७] उक्त लक्षणों की मीमांसा से यह निष्कर्ष निकलता है कि विरह विप्रलम्भ का एक प्रकार है जिसमें समागम हो जाने के बाद कादाचित्क समागम का अभाव देखने में आता है। यह स्थिति दोनों के पास रहते हुए भी हो सकती है। गुरुजन के रहते हुए उनके सामने मर्यादा का ध्यान रखते हुए हृदय से मिलने के लिए आकुल रहने पर भी दोनों मिल नहीं पाते। दोनों में से एक के अनुराग-शून्य होने पर भी यह स्थिति देखने में आती है। कार्य-व्यापृतता भी मिलन में बाधा पहुंचाती है तथा दोनों में जो प्रतीक्षा में रत होता है, वह इस विरह की वेदना का अनुभव करता है।

---

८९. लोचन, द्वितीय उद्योत, पृ० २१७

९०. अभिनवभारती (गायकवाड़ सिरीज), पृ० ३०३

९१. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास।

९२. रसगंगाधर (निर्णयसागर प्रेस), पृ० ४२

९३. सम्भूतभोगयोर्माताद्यभावेऽपि कार्यान्तर-व्यापृततया अननुसर्पणं विरहः।
—नाट्यदर्पण, तृतीय विवेक, पृ० ३०९ (दि. वि. प्रकाशन)

९४. लब्धसंयोगयोर्नायकयोः केनचित् कारणेन पुनः समागमकालातिक्षेपो विरहः।
—प्रतापरुद्रीय, रसप्रकरण, पृ० २००

९५. एकदेशस्थितयोरपि एकतरस्याननुरागात् अनुरागे सत्यपि वा दैव-प्रतिबन्धात् गुरुलज्जादिवशाच्चासंयोगः। —काव्यपकाश—वामनझलकीकर, पृ० १०२

९६. प्काल्स्यान्तरं हि विरहः परिकीर्तितः। —जसवन्तभूषण, पृ० १७९

९७. एकदेशस्थितयोरपि गुरुजनादिलज्जादितः संगमप्रतिबन्धो विरहः।
—रसगंगाधर (निर्णयसागर प्रेस), पृ० ४२

जसवन्तभूषण की टीका में इस विरह-प्रकार की जो निरुक्ति दी गई है, वह इसकी भावना के अनुकूल ठहरती है। विरह शब्द वि (उपसर्ग) पूर्वक रह त्यागे धातु से भाव में घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। 'वि' का अर्थ है ईषत् और रह का अर्थ है त्याग। दोनों को मिल कर अर्थ हुआ ईषत् त्याग। निरुक्ति है 'वि (किंचित्कालपर्यन्तम्) संयोगस्य रहः त्यागो विरहः।' इस विरह का निमित्त गुरुजन-लज्जा और कार्य-पारवश्य कुछ भी हो सकता है।[९८] 'वि' का ईषत् अर्थ करके ही निरुक्तिकार ने इस उपभेद की विशेषता व्यक्त की है। वैसे संयोग का अभाव तो प्रत्येक प्रकार में हो सकता है।

यह विरह मूलक विप्रलम्भ वियोग की पूर्वरागादि दशाओं मे एक भिन्न प्रकार की दशा है। पूर्वराग मिलन अथवा समागम से पूर्व की दशा है, पर उक्त विप्रलम्भ समागम के बाद ही सम्भव हो पाता है। इसमें न मान में पाया जाने वाला प्रणय-कोप दीखता है न ईर्ष्यामूलक विरह की-सी वक्रदृष्टि, वाष्पमोक्ष एवं रोषोक्तियाँ देखने में आती हैं। इसमें तो सोत्कंठ नायिका में प्रिय के मिलन के लिए आकुलता तथा कामना ही पाई जाती है। इसमें न तो प्रवास की तरह नायक दूर लम्बी यात्रा पर जाता है और न नायिका उसकी विरह–वेदना में एक-वेणीधरा और मलिन–वसना रहती है। इसमें नायक या तो कार्य की परवशता से आसपास गया होता है और नायिका अपने सहज वस्त्राभूषण में प्रिय का पन्थ निहारती हुई आकुलता से प्रतीक्षा करती रहती है, करवटें बदलती रहती है, या समीप रहने पर भी गुरुजनों की लज्जा आदि के कारण दोनों में समागम नहीं हो पाता। दोनों का हृदय एक-दूसरे से मिलने के लिए आतुर रहता है, फिर भी दोनों मिल नहीं पाते। यही ईषत्–अल्पकालिक–विरह, विरह–विप्रलम्भ की विशेषता है। विप्रलम्भ की यह विधा उसके अन्य प्रकारों में अन्तर्भूत नहीं हो पाती, अतः इस विधा की उद्‌भावना आचार्यों की एक नई सूझ है।

(ङ) करुणविप्रलम्भ

प्रेमी-प्रेमिकाओं में से किसी एक के दिवंगत हो जाने और उसके पुनरुज्जीवित होने के बीच की विरहव्यथा करुणविप्रलम्भ कहलाती है। लेकिन विप्रलम्भ की स्थिति तभी मानी जाएगी, जबकि दिवंगत प्रिय के इसी जन्म में, इसी देह से पुनः मिलने की आशा बनी रहे। यदि यह आशा न रही तो वहां शोकस्थायीभाव ही रहेगा, रतिस्थायीभाव नहीं। वह करुणरस का प्रसंग होगा, विप्रलम्भ-शृंगार का नहीं।[९९] उक्त दोनों रसों में अन्तर उनके स्थायीभावों के कारण ही किया जाता

८. जसवंत भूषण, पृ० १७८–१८०

यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
यते यदैकस्ततोभवेत्करुणविप्रलम्भाख्यः॥ —साहित्यदर्पण ३/२०९

है। करुणरस में स्थायीभाव शोक होता है और प्रिय-मिलन की आशा बिल्कुल नहीं रहती। परन्तु करुणविप्रलम्भ का स्थायीभाव रति है, यद्यपि शोक का संस्पर्श उसमें अवश्य है।[100] 'रघुवंश' में इन्दुमती की मृत्यु के पश्चात् महाराज अज द्वारा किया गया विलाप करुणरस का उदाहरण है, परन्तु पुण्डरीक-महाश्वेता वृत्तान्त में आकाशवाणी सुनने के बाद प्रियमिलन की आशा अंकुरित होने पर महाश्वेता की विरह-व्यथा रतिभाव से परीत होने के कारण करुणविप्रलम्भ कही जा सकती है। विप्रलम्भ में प्रिय के प्रति आशातन्तु—भले ही वह क्षीण क्यों न हो—बना रहता है, इसीलिए वहां आलम्बन के प्रति सापेक्षता पाई जाती है। करुण में वह आशातन्तु सर्वथा टूट चुका होता है, अतः वहां आलम्बन के प्रति निरपेक्ष भाव ही रहता है। भरत ने भी करुण और विप्रलम्भ के बीच यही ठोस अन्तर माना है।[101] शृंगार के विप्रलम्भ प्रकार में वस्तुतः कुछ करुणाश्रयी भाव पाए जाते हैं, उसमें बहुत से संभोग-व्यभिचारी भी पाए जाते है। आचार्यों ने इसे शृंगार का भूषण ही माना है, इसीलिए वे उसे समग्र वर्णनाधार कहते हैं।[102]

करुण—(विप्रलम्भ) की मुख्य विशेषताओं को व्यक्त करने के लिए भोज के द्वारा की गई करुण शब्द की निरुक्ति भी बड़े काम की है।

करुण की निरुक्ति (डु) कृञ् करणे (तनादि) और कृ विक्षेपे (तुदादि) धातुओं से की गई है। करणार्थक कृ धातु के प्रयोग के आधार पर उन्होंने उसके करुण से सम्बद्ध चार अर्थ किए हैं। प्रयोग हैं—'कुरुघटम्'। 'चौरकारं क्रोशति।' 'अश्मानमितः कुरु'। 'पादौ मे सर्पिषा कुरु।' 'घटं कुरु' से अब तक जो घट अभूत था, उसके उत्पादन की बात कही गई है। 'चौरंकारं क्रोशति' में किसी को तुम चोर हो, दस्यु हो ऐसा कह कर—उच्चारण करके—आक्रोश व्यक्त किया जाता है। 'अश्मानमितः कुरु' से पत्थर के अन्यत्र अवस्थापन का पता चलता है तथा 'पादौ मे सर्पिषा कुरु' मे सर्पिष् के द्वारा पाद के अभ्यंग—बाहर—भीतर व्याप्ति—का संकेत मिलता है। उक्त आधार पर 'कृ' के चार अर्थ होते हैं। वे हैं—अभूतोत्पादन, उच्चारण, अवस्थापन और अभ्यंग। उक्त संदर्भ में करुण का 'कृ' धातु विप्रलब्ध व्यक्ति में मूर्च्छा की जो स्थिति अब तक नहीं थी, उसका उत्पादन करता है, उसे विलापादि में प्रवृत्त करके उसके द्वारा प्रिय के गुणों का कथन—उच्चारण—कराता है, उसके हृदय में मृत के

---

१००. शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रसः।
विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः संभोगहेतुकः॥ —साहित्यदर्पण ३/२२६

१०१. करुण स्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजन–विभवनाश–बध–बन्ध–समुत्थो निरपेक्षभावः। औत्सुक्य–चिन्ता–समुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः। एवमन्य करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भः।
—नाट्यशास्त्र ३०९, ३१०

१०२. समग्रवर्णनाधारः शृंगारो वृद्धिमश्नुते। —भावप्रकाशन, चतुर्थ अधिकरण, पृ० ९१

साथ अपने को अवस्थापित करने—उसके स्नेह में अपना भी प्राणान्त कर देने—की भावना भरता है तथा शोकातिरेक से जीवित के बाह्याभ्यन्तर को अभ्यक्त—व्याप्त—कर देता है।[१०३] इस आधार पर भोज ने करुण की 'कृ' के योग से निम्न चार निरुक्तिया दी है। उनमें प्रथम है 'करोति अभूतमुत्पादयति इति करुणः'; द्वितीय है 'करोति विलापादिभिस्तद्गुणमुच्चारयति इति करुणः'; तृतीय है 'करोति स्थापयति मरणजीवितयोरेकत्र इति करुणः'; चतुर्थ है 'करोति अभ्यंजयति बहिरन्तश्च व्याप्नोति विश्रम्भोत्पत्या स्त्रीपुंसयोरन्यतरस्य हृदयमिति करुणः।[१०४]

करुण की एक अन्य व्युत्पत्ति उन्होने 'कृ विक्षेपे' धातु से की है। विक्षेप का अर्थ है विखेरना। कृ से उणादिसूत्र 'कृवृदारिम्य उनन्' से उनन् प्रत्यय करने पर करुण शब्द बना है। यह बिखरना है शोकातिरेक के कारण जीवित एकाकी व्यक्ति के दिल—दिमाग़ का या दानों साथियों का—एक को लोकान्तर भेज कर और दूसरे को व्यथा झेलने के लिए यहीं बने रहने देकर। सुखों से दोनों को दूर फेंक देना ही विक्षेप है। निरुक्ति इस प्रकार है—'किरति प्राणिनः सांसारिकेभ्यः सुखेभ्यो विक्षिपति इति करुणः।'

उक्त निरुक्तियों का निष्कर्ष यह निकला कि करुणविप्रलम्भ की स्थिति में जब नायक-नायिका में से एक लोकान्तर-गत हो जाता है तो शोकातिरेक से दूसरा मूर्च्छित होता रहता है, विलाप करता रहता है, उससे वियुक्त होकर अपना प्राणान्त करने पर तुल जाता है, शोक मे उसका मानस संविग्न रहता है तथा सांसारिक सुख उससे हमेशा के लिए दूर हो जाते हैं।

मूलतः उक्त निरुक्तियां और उनसे प्राप्त अनेक अर्थ शोकस्थायी करुण के ही है। यही करुण शब्द विप्रलम्भ के एक प्रकार के रूप में जो स्वीकृत हुआ है, उसके मूल में यही कारण है कि उक्त करुण की स्थिति के साथ आकाशवाणी के कारण मृत के पुनरुज्जीवित होने की आशा पैदा हो जाती है। अतः आशा की किरण से अभिमडित होने के कारण शोक के डंक की चुभन कम हो जाती है तथा उस प्रेम में रति के प्रवेश हो जाने से उसे विशुद्ध करुण नहीं कहा जा सकता, उसे करुण विप्रलम्भ ही कह सकते हैं।

प्रिय के लोकान्तर-गमन और देवता या ऋषि के वरदान से उसके पुनरुज्जीवन की कुछ पौराणिक कथाएं मिलती हैं। वे काव्यों का विषय भी हुई हैं। सावित्री और सत्यवान् की कथा इसी प्रकार की है। पुण्डरीकमहाश्वेता-वृत्तान्त भी आकाशवाणी हो जाने के बाद से इसी श्रेणी में आता है। यही है 'गतवति लोकान्तरंपुन-

१०३. सरस्वतीकंठाभरण ५/७४, ७५

१०४. शृंगारप्रकाश, पृ० ४२७

लंभ्ये' की स्थिति। ऐसे ही प्रसंगों को ध्यान में रख कर करुणविप्रलम्भ शृंगार की उद्भावना हुई है। ऐसे प्रसंगों में मिलन की आशा के कारण रति स्थायीभाव प्रमुख रहता है और शोक विप्रलम्भ का पोषक होकर आता है, अतः गौण रहता है। इसीलिए आचार्यों ने ऐसे प्रसंगों को करुण में न मान कर विप्रलम्भ में माना है।

धनंजय, हेमचन्द्र, शारदातनय, रूपगोस्वामिप्रभृति आचार्यों ने करुण-विप्रलम्भ को माना ही नही है। न मानने के दो कारण है। प्रथम यह है कि करुणविप्रलम्भ न मानकर उसके प्रसंग को विशुद्ध करुण में डाल दिया जाए। दूसरा यह है कि करुण विप्रलम्भ के प्रसंग को प्रवास के अन्तर्गत समझ लिया जाए। हेमचन्द्र ने 'करुण-विप्रलम्भस्तु करुण एव' कहकर विप्रलम्भ के अभिलाष, मान और प्रवास ये तीन भेद ही माने हैं।[१०५] धनंजय कहते हैं कि एक व्यक्ति के मर जाने पर जहाँ दूसरा व्यक्ति प्रलाप करे, वहाँ करुण रस ही होगा, शृंगार नहीं, क्योंकि जहाँ आलम्बन ही विद्यमान नहीं है, वहाँ शृंगार हो ही कैसे सकता है। कारण यह है कि शृगार मे आलम्बन के प्रति सापेक्षता अनिवार्य है। किन्तु मरण के बाद यदि कोई दैवी शक्ति से पुनरुज्जीवित हो उठेगा तो वहां करुण न होकर प्रवास-विप्रलम्भ होगा।[१०६] इन्होंने करुणविप्रलम्भ-प्रसग को प्रवास में समाहित कर लिया है। रूपगोस्वामी का भी कुछ ऐसा ही मत है। उनका कथन है—'कुछ लोग विप्रलम्भ का एक करुण प्रकार भी मानते है, परन्तु वह प्रवास विशेष ही है, अत उसके पृथक् परिगणन की आवश्यकता नही।[१०७] विश्वनाथ चक्रवर्ती का कथन है—अनिष्ट-शंकामय होने से ऐसे प्रसंगों को करुणविप्रलम्भ कहने की आवश्यकता पड़ी थी। परन्तु यहां वास्तविक अनिष्ट तो होता नही, अतः करुण कहने की आवश्यकता नहीं है। इसे तो प्रवासरूप ही मानना चाहिए, अत: अलग से करुणविप्रलम्भ मानने की आवश्यकता नहीं है।[१०८] शारदातनय भी मरण को वियोग का भेद नहीं मानते, मरणानन्तर किए गए प्रलाप को वे शोक में ही परिगणित करते है।[१०९]

कुछ आचार्यो ने करुण प्रकार को प्रवास में समाहित कर लिया है। वे लोकान्तर-गमन को प्रवास ही मानते है। पर वस्तुतः यदि देखा जाए तो लोकान्तर-गमन और प्रवास एक नहीं हैं। काव्य नाटकों में वर्णित वह लोकान्तरगमन अवश्य प्रवास है—भले ही वह वर्णन पौराणिक हो और आज के युग में तर्क-सगत न प्रतीत होता हो–जबकि देवराज की सहायता के लिए मनुष्यलोक के नृपति देवलोक

---

१०५. काव्यानुशासन, पृ० १११
१०६. दशरूपक, ४/६७
१०७. उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ५५६
१०८. वही, आनन्दचन्द्रिका, पृ० ५५६
१०९. लोचन रोचनी (उज्ज्वलनीलमणि) विप्रलम्भभेद प्रकरण (वृत्ति), श्लोक संख्या १७०

जाया करते थे और विजय के बाद फिर लौट आते थे। पर मर कर—इहलोक की लीला समाप्त कर—लोकान्तर जाना मरण ही कहा जा सकता है, प्रवास नहीं और यदि प्रवास शब्द से कुछ विशेष मोह है तो प्रवास को विशेषित करने के लिए उसके साथ लोकान्तर जैसे किसी न किसी शब्द का लगाया जाना अनिवार्य है, पर उसका अर्थ परलोकगमन—मरण—ही होगा, दूसरा नहीं। परलोकगमन—लोकान्तरगमन का अर्थ है इहलोक की समाप्ति। नृपति आदि जो देवों की सहायता के लिए जाया करते थे, उनका वह गमन परलोकगमन नहीं होता था। वे सशरीर देवलोक जाते थे। कृष्ण का कालियह्रद—प्रवेश भी प्रवास ही था, लोकान्तरगमन नहीं। इसलिए जीवगोस्वामी का यह कहना कि कृष्ण का कालियह्रद-प्रवेश भी प्रवास का विषय हो सकता है, ऐसे प्रसंगों के लिए करूणविप्रलम्भ की कल्पना उचित नहीं,[११०] ठीक नहीं लगता। कृष्ण का उक्त प्रवेश लोकान्तरगमन नहीं है, हर हालत में प्रवास ही है। हां, विश्वनाथ चक्रवर्ती के तर्क में कुछ सार अवश्य है। वे कहते है कि यदि वास्तव में अनिष्ट हो तो करुण विप्रलम्भ माना भी जाए, पर व्यक्ति के पुनरुज्जीवित हो जाने पर अनिष्ट तो वस्तुतः होता नहीं, इसलिए ऐसे प्रसंगों को करुण न मानकर प्रवास ही मानना चाहिए।[१११] परन्तु लोकान्तरगमन और पुनरुज्जीवन ये शब्द ही इस बात के साक्षी हैं कि अनिष्ट होता ही है, पर बाद में देव—प्रसाद से अनिष्ट का निवारण हो जाता है। यदि अनिष्ट न होता तो पुनरुज्जीवन का प्रश्न ही न उठता। इन्ही सब तथ्यों को देखते हुए यह ठीक लगता है कि करुणविप्रलम्भ की विधा आवश्यक है।

लोकान्तरगमन और पुनरुज्जीवन के अतिरिक्त भी कुछ विरह के प्रसंग ऐसे भी हैं जिन्हें न पूर्वराग मे समाहित किया जा सकता है, न मान में, न प्रवास में और न विरह में। जो विरह-व्यथा बहुत लम्बे अरसे तक—आजीवन भी रह सकती है, उसे क्या कहेंगे? जहाँ प्रिय जीवित है, दोनों तरफ स्नेह भी भरपूर है, प्रियमिलन की आशा नष्ट हो गई है. पर मिलन की भौतिक सम्भावना सर्वथा विलुप्त नहीं हुई है, वहाँ कौनसा विप्रलम्भ होगा? गौतम के निर्वाण के लिए महाभिनिष्क्रमण के बाद यशोधरा के आजीवन विरह को क्या कहेंगे? क्या वह प्रवास है? उसकी समस्त भावनाएं और परिस्थितियां प्रवास में समाहित नहीं हो सकतीं। पर यह भी सही है कि करुण विप्रलम्भ का उक्त लक्षण ऐसे स्थलों पर घटित नहीं हो सकता। पर ऐसे प्रसगों के साथ न्याय करने के लिए यह आवश्यक है कि उक्त लक्षण को कुछ विस्तार दिया जाए जिससे कि वह केवल पौराणिक प्रसंगों को ही नहीं, आज के मौलिक यथार्थ प्रसंगों को भी अपनी सीमा में समाहित कर सके और अपने को पूर्ण बना सके।

---

११०. आनन्दचन्द्रिका (उज्ज्वलनीलमणि) विप्रलपम्भेद प्रकरण (वृत्ति), श्लोक-संख्या १७०
१११. आनन्दचन्द्रिका ,, ,, ,,

दशम परिच्छेद

शृंगाराभास

शृंगाराभास पर कुछ लिखने से पूर्व उसकी पृष्ठभूमि के रूप में रसाभास की भावना को स्पष्ट करना आवश्यक है। काव्य की आत्मा रस है, परन्तु रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवन औचित्य है।[1] जो वस्तु जिस प्रसंग में, जितनी, जिस रूप में तथा जिस सन्दर्भ के साथ अनुकूल लगे, उसे उचित कहते हैं। उचित का उक्त धर्म ही औचित्य कहलाता है।[2] जीवन के किसी क्षेत्र में प्रवेश कीजिए, चाहे वह क्षेत्र व्यवहार का हो, नीति का हो, साहित्य का हो या कला का हो, औचित्य के निर्वाह पर उसकी उत्तमता की परीक्षा होती है। साहित्य के क्षेत्र में तो औचित्य के परिपालन का महत्त्व और बढ़ जाता है। इसका क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसकी परिधि में रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, गुण, अलंकार सभी समाविष्ट हैं। रसध्वनिगुणादि का यदि सफल और सप्रभाव संयोजन करना है और यदि अन्तरंग और बहिरंग दोषों से बचना है तो औचित्य का पूर्ण ध्यान रखना पड़ेगा। रस की सहज एवं समर्थ अभिव्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि उसमें प्रकृत रस से सम्बद्ध रसानुकूल वर्णों एवं प्रसंगों की योजना की जाए, उसके अंगांगित्व-निबन्धन पर ध्यान रखा जाए तथा विभावानुभाव-व्यभिचारियों के उचित सन्निवेश को अपनाया जाए तभी विगलित वेद्यान्तर आनन्द मिल पाएगा, अन्यथा सब कुछ नीरस और सहृदय-हृदयोद्वेजक हो जाएगा। विषय एवं प्रसंग की स्पष्टता को ध्यान में रख कर विनिवेशित अलंकारों से काव्य की शोभा का आधान और गुणों से उसके उत्कर्ष का आधान हो पाता है। औचित्य का परिपालन हर हालत में आवश्यक है। इसीलिए विभिन्न मतों की स्थापना करने वाले आचार्यों में अन्य ब्यौरों में मतभेद मिलता है, परन्तु औचित्य के परिपालन के सम्बन्ध में उनमें कोई वैमत्य नहीं। आनन्दवर्धन औचित्य को रस की परा उपनिषद् बताते हैं।[3] आचार्य अभिनव भी विभावादि के औचित्य को रसवत्ता-प्रयोजक मानते हैं तथा औचित्य के निर्वाह होने पर स्थायी चित्तवृत्ति के आस्वादन को रस-संज्ञा देते हैं।[4] कहने का तात्पर्य यह है कि सभी आचार्यों ने औचित्य को

---

१. औचित्यं रस-सिद्धस्य स्थिर काव्यस्य जीवितम्। —औचित्यविचारचर्चा ५

२. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥ —औचित्यविचारचर्चा ७

३. औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा। —ध्वन्यालोक

४. (क) विभावाद्यौचित्येन हि विना का रसवत्ता कवेरिति। तस्माद्धि विभावाद्यौचित्यमेव रसवत्ता-प्रयोजकं नान्यत्। —लोचन, पृ. १४७
(ख) औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिना रसः। —लोचन, पृ. ७८

साहित्य और कला का एक अनिवार्य मानदंड माना है तथा अनौचित्य से सदा बचने की सलाह दी है।[५]

रसके क्षेत्र में औचित्य की पृष्ठभूमि को अनिवार्य समझते हुए ही आनन्दवर्धन ने यह निर्णय दिया था कि रस-भंग का कारण अनौचित्य के अतिरिक्त कुछ हो ही नहीं सकता।[६] अभिनवगुप्त,[७] मम्मट,[८] विश्वनाथ,[९] विद्याराम[१०] तथा पंडितराज[११] प्रभृति आचार्य भी अनौचित्य को ही रसाभास का मूल बताते हैं। इस अनौचित्य पर आचार्यों ने सभी सम्भव दृष्टियों से विचार किया है। अंगी रस को अंग रस बना देना, विरोधी रसों का संयोजन करना, आश्रय को उसके जातीय धर्म के प्रतिकूल भाव प्रदर्शित करने देना, देश, काल, जाति, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति तथा व्यवहारादि के सम्बन्ध में लोकाचार एवं शास्त्र के प्रतिकूल आचरण करना, अयोग्य विषय तथा अभिव्यक्ति के अनुचित विभावादि को अपनाना आदि जैसे बहुत से प्रसंग हैं जो अनुचित होने के नाते रसाभास के जनक हैं। यदि रसभंग से बचना है तो इनसे दूर रहना-होगा।[१२]

औचित्य के महत्त्व की स्वीकृति के पीछे कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो साहित्य को प्राणवान् बनाते हैं। उनमें सर्वप्रमुख तत्त्व है यथार्थता। औचित्य के सन्निवेश से ही यथार्थता आती है। कारयित्री प्रतिभा से सम्पन्न साहित्यकार के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह अपने चिन्तन को रूप देने से पहले यह देख ले कि वह अपने चिन्तन में सम्बद्ध विषय और उसके जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था, प्रकृति तथा व्यवहार आदि का पूरा-पूरा ध्यान रख रहा है न?[१३] ऐसी बात तो नहीं कि वह गाय-बैल आदि से जाति-विरुद्ध पराक्रम के कार्य करा बैठे और सिंह आदि हिंस्र जीवों को सीधा दिखा दे। स्वर्ग के निवासियों को बूढ़ा और रोगी दिखाए तथा भूतल के निवासियों को अमृत-पान करते हुए अजर-अमर रूप में प्रस्तुत करे। शीतकाल में जल-बिहार दिखाए और ग्रीष्म में अग्नि-सेवन कराए। उसके

---

५. अनौचित्यं तु रसभंगहेतुत्वात् परिहरणीयम्। —रसगंगाधर, पृ. ६४
६. अनौचित्यादृते नान्यत् रसभंगस्य कारणम्। —ध्वन्यालोक, पृ. ३३० (का. सं. सि.)
७. अनौचित्येन तदाभासः। —लोचन, पृ. ७८
८ रसाभासा अनौचित्यप्रवर्तिता। —काव्यप्रकाश
९. अनौचित्यपवृत्तत्वमाभासो रसभावयोः। —साहित्यदर्पण, ३/२६२
१०. अनौचित्य-प्रवृत्ताश्चेद् रसाभासाभवन्त्यमी। —रसदीर्घिका, चतुर्थ सोपान, श्लो. सं २९
११. अनुचित-विभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम्। —रसगगाधर १/११९
१२. सर्वथौचित्यमेवात्र रसतां प्रति कारणम्।
इतिनिष्कृष्टसिद्धान्तः कृतः पूर्वैः कवीश्वरैः॥ —रसदीर्घिका, चतुर्थ सोपान, श्लो. स. ४६
१३. तच्च जाति-देश-काल-वर्णाश्रम-वयोऽवस्था-प्रकृति-व्यवहारादे प्रपंचजातस्य तस्य तस्य, यल्लोकशास्त्रसिद्धमुचितव्य-गुणक्रियादि। —रसगंगाधर, १/६४

ब्राह्मण-पात्र शिकार खेलते दीखें, क्षत्रिय दान लें तथा शूद्र वेदाध्ययन करें। ब्रह्मचारी और संन्यासी पान चबाएं और स्त्री को स्वीकार करे। बच्चे और बूढ़े स्त्री-सेवन करते दीखें और युवक वैरागी बने विचरण करें। दरिद्र धनिकों-सा आचरण करें और धनी दरिद्र बने घूमते रहें।[१४] इसी तरह प्रकृति और व्यवहार के औचित्य का पूरा ध्यान रखा जाए। कहने का तात्पर्य यह है कि औचित्य का पूरा ध्यान रखा जाए क्योंकि वह रसका सर्वोत्तम प्रकाशनोपाय है और अनौचित्य का परिहार अवश्य किया जाए क्योंकि उसी से सर्वाधिक वैमुख्य सहृदयों मे देखा जाता है। इसे अपनाने में साहित्यकार किसी वाद के प्रति अपना आग्रह नही दिखाता, बल्कि स्वाभाविकता की सही स्थिति ही उसे ऐसा करने की प्रेरणा देती है। औचित्य से उद्भूत यह यथार्थता विश्व-साहित्य की सम्पत्ति है।

इस औचित्य से कुछ तत्त्व ऐसे भी उद्भूत होते हैं, जिनका किन्हीं विशिष्ट देशकाल की सीमा में विशेष (महत्व) रहता है, यद्यपि वे थोड़ी-बहुत सीमा में अन्य देशकाल में भी लागू हो जाते हैं या हो सकते हैं। नैतिकता एक इसी प्रकार का अन्य तत्त्व है जो औचित्य से उद्भूत होता है तथा जिसकी संयोजना साहित्य में शिवम् की प्रतिष्ठा के लिए की जाती है। भारतीय मनीषी इस तत्त्व को भी साहित्य के लिए आवश्यक समझता रहा है। लोकशास्त्र-सिद्ध तत्त्व ही उसके लिए महत्त्व के रहे हैं, लोकशास्त्र-विरुद्ध तत्त्वों को प्रश्रय देना उसने उचित कभी नहीं समझा। औचित्य–सिद्धान्त की दृष्टि से उपर्युक्त दोनों ही तत्त्व आवश्यक हैं। लोक–स्वभावानुसार वह जो कुछ करता है उससे 'नानावस्थान्तरात्मक' 'सर्वकर्मानुदर्शक' यथार्थ 'लोकवृत्तानुकरण' प्रस्तुत करता है तथा शास्त्रसिद्ध प्रसंगों के आधार पर नीतिशास्त्र और उसकी आचार–सहिता को जीवन के लिए उचित ठहराता है। संक्षेप में वह आदर्शोन्मुख–यथार्थवाद को महत्त्व देता है जिससे साहित्य में जीवन का यथार्थ–पक्ष सामने आए, पर उसे ऊर्ध्व–संचरण के लिए प्रगति भी मिले; वह स्थिर ही न बना रहे, गतिशील भी हो सके।

रस के सम्बन्ध में औचित्य की यह विच्युति रसभंग का कारण होती है, अतः रसाभास कही जाती है। यह अनौचित्य चाहे रसके आलम्बन विभाव के अनुचित होने के कारण हो या उसके रति आदि स्थायी भाव के अनुचित रूप से प्रवृत्त होने के कारण हो, वैरस्य का जनक होगा ही। यही कारण है कि आचार्यो ने इसके परिहार को आवश्यक बताया है।

---

१४. जात्यादेरनुचितं यथा–गवादेस्तेजोबलकार्याणि पराक्रमादीनि, सिंहादेश्च साधुभावादीनि। स्वर्गे जराव्याध्यादि, भूलोके सुधासेवनादि। शिशिरे जलविहारादीनि, ग्रीष्मे वन्हिसेवा। ब्राह्मणस्य मृगया, बाहुजस्य प्रतिग्रहः, शूद्रस्य निगमाध्मयनम्। ब्रह्मचारिणो यतेश्च ताम्बूलचर्वणम्, दारोपसग्रहः। बालवृद्धयोः स्त्रीसेवनम्, यूनश्च विरागः। दरिद्राणामाढ्याचरणम्, आढ्यानां च दरिद्राचारः। —रसगंगाधर, २/६४

भारतीय मनीषी लोकव्यवहार को इस अनौचित्य की कसौटी मानता है।[१५] उसका यह चिन्तन रूढिग्रस्त नहीं है। लोकव्यवहार को अनौचित्य की कसौटी बता कर उसने सार्वदेशिक और सार्वकालिक सत्य को पूरी स्वतन्त्रता और मौलिकता के साथ प्रस्तुत किया है। आज के लोक–प्रतिष्ठित विधि–निषेध कल पुराने—गतावधि हो सकते हैं और कल अपने साथ लोक-व्यवहार की नई मर्यादाएं ला सकता है। लोक–व्यवहार बदलते रहते है, उनके पुराने पैमाने नए सन्दर्भ में बेकार हो जाते हैं, फलस्वरूप मूल्यांकन करने वाले को विशेष सतर्कता से काम लेना पड़ता है। आज का विश्व एक परिवार बनने का स्वप्न देखता है। आज एक देश के साहित्य और दूसरे देश के बीच के व्यवधान समाप्त हो चुके है। दोनों एक दूसरे के सम्पर्क में आकर कुछ अपना देते हैं और कुछ दूसरे का लेते भी हैं। साहित्य और समाज के सौ, दो सौ वर्ष पूर्व के बहुत से मानदण्ड आज की इस परिवर्तित परिस्थिति में काम के नही रहे। कोई भी समझदार उन मानदण्डों से आज के साहित्य व समाज की गतिविधि को परखने की भूल नहीं करेगा। क्यों करे? वह तो पहले से ही इस शाश्वत सत्य से परिचित था। उसकी यह उदार दृष्टि उसके जीवन का सम्बल रही है। यह तो उन मानदण्डों के उपयोग करने वाले की कमी है जोकि वह ग़लत पैमानों से काम लेता है तथा औचित्य एव अनौचित्य के सम्बन्ध में भ्रान्त दृष्टि को सही रूप में प्रस्तुत करने का दावा करता है; स्वयं तो भ्रान्त है ही, दूसरों को भी भ्रम में डालता है।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष यह निकलता है कि रस–प्रक्रिया में जब किसी तरह की अयथार्थता आ जाती है, उसमें किसी तरह का व्यवहार–विरोध या नीति–विरोध देखने में आता है, रसका परिपाक ही नहीं हो पाता, फलस्वरूप रसानुभूति अपूर्ण रह जाती है। यही अपूर्ण–रसानुभूति रसाभास कहलाती है।

आचार्यों ने रति के अनौचित्य को ही शृंगाराभास का कारण माना है। वह अनौचित्य कई प्रकार का होता है। जब नायिका की रति नायक के बदले उपनायक-विषयक, प्रतिनायक-विषयक या बहुनायक-विषयक होती है, अथवा नायक की रति मुनि-पत्नी या गुरु-पत्नी के विषय में प्रवृत्त होती है, अथवा जब वह अनुभयनिष्ठ अर्थात् नायक-नायिका में एक ही तरफ से होती है तथा जब वह अधमपात्र एवं तिर्यगादिगत होती है, तब वह रति रस न कही जाकर रसाभास (शृंगाराभास) कही जाती है।[१६] शिंगभूपाल ने कथन-प्रकार में कुछ अन्तर करके उक्त आभास की बात

---

१५. अनौचित्यं पुनर्लोकानां व्यवहारतो ज्ञेयम्, यत्र तेषाम् 'अनुचितम्' इति धीः।

—रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ. ११९

१६. उपनायक–संस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायक–विषयाया रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्॥
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते।

—साहित्यदर्पण ३।२६३, २६४

कही है। उन्होंने उसके चार भेद किए है—अराग, अनेकराग, तिर्यक्राग तथा म्लेच्छ राग।[17] अराग से वे अनुभयनिष्ठ की तरफ संकेत करते हैं, क्योंकि एकत्र रागाभाव को ही वे अराग मानते हैं।[18] उसका अनेकराग अपने में उपनायकनिष्ठ, बहुनायकनिष्ठ तथा प्रतिनायकनिष्ठ रति को समाहित किए हुए है। तिर्यक् राग तिर्यगादिरति तथा म्लेच्छराग अधमपात्रगत रति है। यहां अराग को लेकर शिंग-भूपाल ने दो नए प्रश्न उठाए हैं। प्रथम प्रश्न यह है कि पूर्वराग मे एकत्र रागाभाव सम्भव होने के कारण क्या उसे रसाभास मानना चाहिए? दूसरा प्रश्न यह है कि क्या एकत्र रागाभाव के कारण यह रसाभास नायिका में रागाभाव होने पर ही होता है या नायक में भी वैसी स्थिति में हो सकता है? प्रथम प्रश्न के सम्बन्ध मे उनका उत्तर यह है कि अभाव तीन प्रकार का होता है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ता-भाव। पूर्वराग प्रागभाव के अन्तर्गत आता है। उस काल में दर्शनादि कारणों के विद्यमान रहने के कारण रागोत्पत्ति की सम्भावना रहती है अतः उसे रसाभास न कह कर रस ही कहते हैं।[19] अराग की परिभाषा में आए 'एकत्र' के अन्तर्गत नायिका को ही लिया जाए या नायक को भी, जहां तक इस प्रश्न का सम्बन्ध है, उन्होंने नायक-नायिका दोनों मे से किसी एक मे पाए जाने वाले रागाभाव से रसाभास माना है। उपर्युक्त शृंगाराभास के प्रकारों को और व्यापक बनाने के लिए अनौचित्य का विवेचन करते हुए उन्होंने उसके दो भेद प्रस्तुत किए है। वे हैं असत्यत्व और अयोग्यत्व। अनौचित्य के असत्यत्व रूप के आधार पर वे यह प्रति-पादित करते हैं कि जो पदार्थ अचेतन—जड़ होने के कारण निरिन्द्रिय एवं अनुभूति-शून्य होते है, वहां न रसके परिपाक की सम्भावना हो सकती है और न सहृदय के लिए हृदय—सम्वाद सम्भव हो सकता है। ऐसे स्थल पर वर्णित रति असत्य होने के नाते अनौचित्य—प्रवर्तित होती है, अतः रसाभास की सीमा में आती है। अधम पात्र तथा तिर्यगादि रसपर्यवसायिनी रति के सर्वथा अयोग्य होते हैं। इस अयोग्यता के कारण उनमे प्रवर्तित रति में अनौचित्य आ जाता है, अतः वहां भी रसाभास होता है।[20]

---

१७. अत्र शृंगारस्यारागादनेकरागात् तिर्यग्रागान्म्लेच्छरागाच्चेति चतुर्विधमाभासभूयस्त्वम्।

—रसार्णवसुधाकर, पृ. २६४

१८. तत्रारागस्त्वेकत्ररागाभावः। —रसार्णवसुधाकर, पृ. २६४, श्लोक २६३ की व्याख्या

१९. अभावोहित्रिविधः। प्रागभावोऽत्यन्ताभावः प्रध्वसाभावश्चेति। तत्र प्रागभावे दर्शनादिकारणेषु रागोत्पत्तिसंभावनयानाभासत्वम्। इतरयोस्तु कारणसद्भावेऽपि रागानुपपत्तेराभासत्वमेव।

— रसार्णवसुधाकर श्लोक २६३ की व्याख्या

२०. आभासताभवेदेषामनौचित्यप्रवर्तिनाम्।
असत्यत्वादयोग्यत्वादनौचित्यं द्विधा भवेद्॥
असत्यत्व—कृत तत्स्याद् अचेतनगतं तु यत्।
अयोग्यत्वकृतं प्रोक्तं नीच-तिर्यगनाश्रयम्॥

—रसार्णवसुधाकर पृष्ठ, २०७.

शृंगाराभास के उपर्युक्त भेदों में नायिका की उपनायक-विषयक रति तथा नायक की मुनिगुरुपत्नी-विषयक रति नैतिक दृष्टिकोण से अनुचित ठहरती है। नायिका की उपनायकविषयक रति की अपेक्षा नायक की मुनिपत्नी एवं गुरुपत्नी विषयक रति में नैतिक अनौचित्य कहीं अधिक है। स्त्रीपुरुष के दैहिक संसर्ग की संकुचित सीमा ही रति नहीं है, उत्तरोत्तर विकसित होने वाला, भीतर-बाहर अपनी दिव्य दीप्ति विकीर्ण करने वाला, रूप-सौन्दर्य की राशि किसी को अपने अनुकूल पाकर भी कभी विचलित न होने वाला ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक प्रेम भी इसका एक प्रमुख तत्त्व है। यह रति दाम्पत्य-जीवन के व्यवहार-क्षेत्र में सर्वत्र वह वैसा अनिवार्य धर्म बनी नहीं दीखती जैसे पृथ्वी मे गन्ध और अग्नि में दाहकता। जो चीज़ जीवन के सुख के लिए परमावश्यक है, उसे नीतिशास्त्र और समाज के कठोर नियम भी ज़ोर-जबर्दस्ती पैदा नही कर सकते। हां, दूसरी ओर प्रधावित होते हुए रागात्मक आकर्षण को संयत किया जा सकता है, जीवन की स्थूल आवश्यकताओं के लिए इधर-उधर न भटक कर परस्पर सतुष्ट रहा जा सकता है तथा परस्पर सहानुभूति और सद्भाव के साथ सहयोग करते हुए साथ दिया जा सकता है। पर रति इतनी ही तो नहीं होती। वह इससे आगे भी कुछ है। उक्त निष्ठा के साथ जीवन-यापन करते हुए भी यदि दम्पति में से किसी की किसी अन्य की ओर उदात्त पावन रति बनी रहती है, तो उस सम्बन्ध में यह सोचना है कि उसमें कितना अनौचित्य है, उससे बचने का क्या उपाय है, क्या उससे बच पाना सम्भव भी है तथा ऐसी स्थिति में नीति के नियमों से रति का निर्धारण कहां तक उचित और कलात्मक है आदि आदि ? संसार में ऐसे युगलों की कमी नहीं है जिनके जीवन में रति अपनी पूर्णता के साथ लहरें लेती देखी जाती है, पर शायद ऐसे युगलों की संख्या कहीं अधिक है जिन्होंने प्रेमपट में पैबन्द लगा रखा है और उससे अपने जीवन को ढक कर काम चला रहे हैं, पर पैबन्द पैबन्द ही है, वह चाहे जितने कलात्मक ढंग से क्यों न लगाया गया हो। ऐसे स्थलों पर लोक-बाधा और शास्त्रबाधा नहीं रहती, क्योंकि लोक और शास्त्र का अंकुश यहीं तक काम कर पाता है। कारण यह है कि समाज और शास्त्रों ने कर्त्तव्य-पक्ष को लेकर जितना चिन्तन किया है उतना विशुद्ध रति-पक्ष को लेकर नहीं। इसीलिए समाज को इतने से सन्तोष हो जाता है। आगे के ब्योरों के बारे में आचार्यों ने विचार ही नही किया है। मैं जहां तक समझता हूं उन ब्योरों को अनौचित्य की सीमा में नहीं डाला जा सकता।

बहुनायक–विषयक रति तो पूर्णतः अस्वाभाविक है। रति स्वभावतः एक-निष्ठ होती है, उसकी अनेक–निष्ठता बहुत बड़ा दोष है, अतः उपहासास्पद है। पुरुषसत्तात्मक समाज में बहुनायकविषयक रति का विवेचन अधिक हुआ है, होना भी चाहिए। कुछ आचार्यों ने नायक की बहुनायिकाविषयक रति में रसाभास का प्रश्न उठाकर प्रकारान्तर से उसे रस की सीमा में बनाए रखने का प्रयत्न भी किया है। शिंगभूपाल दक्षिणनायक के सम्बन्ध में उक्त प्रश्न को उठाकर यह कहते हैं कि

दक्षिण-नायक वृत्तिमात्र से अनेक नायिकाओं के साथ साधारण भाव रखता है, राग के कारण नहीं। ऐसा नहीं होता कि उसका राग किसी में प्रौढ हो, किसी में मध्यम हो या किसी में मन्द हो। उनकी दृष्टि से जहां यह वैषम्य होगा वहीं रसाभास होगा। अतः प्रकृत स्थल को वह रसाभास नहीं मानते, रस ही मानते हैं।[२३] किन्तु अल्लराज नायक की बहुनायिकाविषयक रति को भी आपाततः उसी तरह रसाभास मानते हैं जैसे कि नायिका की बहुनायकविषयक रति को। पर बाद में वह यह भी कहते हैं कि यदि नायक का दृढ राग किसी एक नायिका के साथ लक्षित होता हो तो वहां रस ही होगा, रसाभास नहीं।[२४] इसे भी प्रकारान्तर से नायक की बहुनायिकाविषयक रति का समर्थन ही कहा जा सकता है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं, चाहे नायक की बहुनायिकाविषयक रति हो या नायिका की बहुनायकविषयक रति हो, दोनों ही समान रूप से सदोष हैं।

अनुभयनिष्ठ रति का सर्वथा रसाभास माना जाना समझ में नहीं आता। इसका विचार रति के आश्रय की दृष्टि से ही किया जाना चाहिए। कुछ आश्रय ऐसे होते हैं जो अपने आलम्बन से कुछ ही नहीं, बहुत कुछ आशा करते हैं। वे चाहते हैं कि उनका आलम्बन उनके साथ उठे-बैठे, घूमे-फिरे, खाए-पीए, जो कुछ वे चाहें, देता रहे, खुल कर प्रणयनिवेदन करे, उन्हीं के लिए तारे गिनगिन कर रात काट दे, स्वप्न में उन्हीं को देखे, दिन मे उनके पथ पर आँखें बिछाकर उन्हीं की राह देखता रहे, उन्हीं का गुणगान करे, जिए तो उन्हीं के लिए, मरे तो उन्हीं के लिए। ये सब किया तो तभी जा सकता है, जबकि आलम्बन के हृदय में आश्रय के प्रति प्रेम हो। यदि प्रेम नहीं है तो आलम्बन आश्रय की इच्छा और चेष्टा के प्रति केवल उदासीन ही नहीं रहेगा, वह उसके प्रति अपनी अरुचि और वितृष्णा भी व्यक्त करेगा। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त प्रकार के आश्रय का रतिभाव अवश्य अपूर्ण रहेगा, फलतः जब रस-परिपाक ही न होगा तो रसानुभूति का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसे आश्रय के प्रसंग में अनुभयनिष्ठ रति रसाभास ही कही जाएगी। परन्तु आश्रय का एक-दूसरा रूप भी होता है, जहां वह अपने आलम्बन से किसी प्रकार के प्रतिदान की अपेक्षा ही नहीं रखता। उसके आलम्बन से उसे कुछ मिलता है या नहीं, इस बारे मे वह पूर्ण उदासीन रहता है। उसे तो उससे प्रेम है—निस्वार्थ प्रेम है प्रतिदान

---

२३. दक्षिणस्य नायकस्य नायिकास्वनेकासु वृत्तिमात्रेणैव साधारण्यं, न रागेण। तदेकस्यामेव रागस्य प्रौढत्वमितरासु तु मध्यमत्वं मन्दत्वं चैति तदनुरागस्य नाभासता। अत्र तु वैषम्येणानेकत्र प्रवृत्तेराभासत्वमुपपद्यते।

—रसार्णव सुधाकर, पृ० २०६.

२४. यदि पुनर्बहुषु कामिनीषु एकस्य पुरुषस्योपभोगे प्रतिपद्यमाने एकस्यामनुरागो ध्वन्यते, तदा रस एव स्यात्।

—रसरत्नप्रदीपिका, पृ० ८१.

की भावना से मुक्त प्रेम है । वह तो आत्मदान को ही सर्वस्व समझता है । ऐसे स्थलों को अनुभयनिष्ठरति होने के कारण शृंगाराभास में परिगणित करना समझ में नहीं आता । अन्य भाषाओं के विशेषतः उर्दू और फारसी भाषा के साहित्य में ऐसे स्थलों को, जहां वे बहुतायत से मिलते भी है, अत्यन्त सरस और काव्यमय माना जाता है । ऐसी स्थिति में यह कहना कि जहां अनुभयनिष्ठ रति हो, रसपरिपाक न होने के कारण रसाभास ही होगा, सर्वथा संगत नहीं है । सम्भोग शृंगार में अनुभयनिष्ठरति के कारण रसाभास की बात समझ में आती है, परन्तु विप्रलम्भ-दशा में आश्रय जब किसी प्रतिदान की अपेक्षा नही रखता, तब वहां रस–परिपाक को कौन रोक सकेगा । वहां निर्विघ्न रसानुभूति होगी ही ।

अचेतन रति और तिर्यक् रति के सम्बन्ध में आचार्यों का विचार है कि अचेतन रति इसलिए रसाभास है, क्योंकि अचेतन पदार्थ जड़ एव निरिन्द्रिय होते हैं, उनमें रति की कल्पना मूलतः असत्य है । और तिर्यक् जीवो का अपना कोई भाव जाग्रत नहीं होता, उनके पास सूक्ष्म-भावना-संवलित वह मनःशक्ति ही नहीं होती जो रस के लिए उपयुक्त होती है । वे रति के लिए पूर्णतः अयोग्य हैं, अतः उनकी रति भी रसाभास ही मानी जानी चाहिए । न केवल निरिन्द्रिय जड़-पदार्थों तथा तिर्यगादि की रति के ही साथ, निकृष्ट श्रेणी के मानव की रति के साथ भी सहृदय सामाजिक हृदय-संवाद के लिए तैयार नही हो सकता । कारण यह है कि उनके पास वह मानस-सम्पत्ति ही नहीं होती जिसके सहारे रतिभाव पूर्णता और परिपाक को पाकर रसदशा तक पहुंच सके । यही कारण है कि आचार्य उक्त रतित्रय को रसाभास मानते है, रस नहीं । यह विषय का एक पक्ष है जो आपाततः ठीक भी लगता है । परन्तु इसका एक दूसरा पक्ष भी है । प्रश्न उठता है कि उक्त स्थलों पर हृदय-संवाद क्यों नहीं होगा ? हृदय-संवाद होता किसका है ? पात्रों के कथनों का या उनके कथनों से अभिव्यक्त की गई कवि की भावना का ? वस्तुतः पात्र प्रमुख नहीं होता, कवि प्रमुख होता है । कवि अपनी भावना को सामाजिक तक पहुंचाने के लिए किसी माध्यम को अपनाता है । वह माध्यम सचेतन या सेन्द्रिय हो अथवा अचेतन या निरिन्द्रिय । कवि अपनी अभिव्यक्ति के लिए आरम्भ से ही प्रतीकों को अपनाता रहा है, अपनी भावना का उन पर आरोप करता रहा है और उनसे समर्थ रसाभिव्यक्ति करता रहा है । ऋग्वेद का उषःसूक्त कवि की काव्य-प्रतिभा का सर्वोत्तम आदर्श माना जाता रहा है । प्रकाश के शुभ्र वस्त्र पहन कर कुमारी उषा जब पूर्व दिशा में प्रकट होती है और अपनी आकर्षक छवि को अनावृत करके[२५] नर्तकी के समान अपने वक्षस्थल का प्रदर्शन करती है[२६] और जब उसका प्रेमी सूर्य अपनी प्रकाशमय

---

२५. ऋग्वेद १।१२४।४.

२६. वही, १।९२।४,

कनखियों से उसे उल्लसित करता हुआ[२७] उसका अनुसरण उसी प्रकार करता है जैसे कोई युवक अपनी प्रेयसी के पीछे-पीछे चलता हो, तो किस सहृदय को वहां हृदय-संवाद नहीं होता ? वल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि सस्कृत कवियों के हृदयावर्जक प्रकृति-चित्रण क्या रसाभास है ? कोई गौर्वाहीक भले ही रस से वंचित रहे, सहृदय को कभी निराश नहीं होना पड़ेगा। उसे तो ऐसे स्थलों पर रस-मन्दाकिनी में अवगाहन का सुअवसर मिलता है। भारतीय सहृदय का यह आमूलचूल अवगाहन कोई अपवाद नहीं है विश्व की सभी समृद्ध भाषाओं में प्राप्त प्रकृति के मनोरम प्रसंगों के अगणित पारखियों की यह अपरोक्ष अनुभूति है। इसका अपलाप नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में अचेतन और तिर्यगादि के माध्यम से रसानुभूति नहीं होती, यह बात युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होती।

शृंगार के सम्बन्ध में अनौचित्य से सम्बद्ध एक प्रश्न और उठता है जिसे आचार्यों ने सीधे शृंगार के साथ न उठा कर दोषों के माध्यम से उठाया है। वह है अश्लीलता का प्रश्न। आचार्यों ने इसे पद, पदांश, वाक्य और अर्थ में अश्लील दोष के नाम से और रसदोष में अनौचित्य के नाम से वर्णित किया है। ग्राम्य दोष भी अभिव्यक्ति के फूहड़पन के कारण शृंगार के लिए अश्लील-सा ही वैरस्यजनक होता है। आचार्यों ने अश्लील के व्रीडाव्यजक, जुगुप्सा-व्यंजक और अमंगल-व्यंजक नाम से तीन भेद किए हैं। अपने सन्दर्भ में वे ठीक हैं, दोष ही हैं।

आज शृंगार के सम्बन्ध में श्लील और अश्लील की सीमारेखा नाना वादों के बीच में पड़ कर अत्यन्त विवादास्पद हो गई है। कुछ लोग श्लील और अश्लील के प्रश्न को साहित्य का प्रश्न ही नहीं मानते। उनकी दृष्टि में वह नैतिकता का प्रश्न है। कुछ लोग श्लील-अश्लील को सुन्दर असुन्दर या सुरुचि और कुरुचि का प्रश्न बना कर साहित्य में उतारते हैं। प्रश्न इससे समाप्त नहीं होता, और उलझता है। साहित्य का जब तक जीवन से सम्बन्ध है श्लील-अश्लील का प्रश्न बना रहेगा, अश्लीलता मे बचने के लिए सतर्कता बरतनी पड़ेगी। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, शैक्सपियर आदि का नाम लेकर अश्लीलता का समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उक्त महाकवियों के महत्त्व का कारण कुछ और है, अश्लीलता नहीं। पर इसका मतलब यह भी नहीं कि साहित्य को जीवन की सभी बीमारियों को दूर भगाने के लिए धन्वन्तरि की पुडिया समझ लिया जाए, नैतिकता और शुचिता को उसका अनिवार्य उपकरण मान लिया जाए, अथवा जीवन की नाना वर्जनाओं की पूर्ति की उससे अपेक्षा की जाए तथा उसके सामने बहुत-सी भौतिक एवं सामाजिक अतिरिक्त माँगें रखी जाएँ। इस नैतिकता और शुचिता के दुराग्रह का परिणाम यह होगा कि सैंकड़ों उत्कृष्ट कोटि की रचनाएं और दर्जनों कला की

---

२७. वही, १।६२।११,

अनुपम कृतियां जन-समाज के लिए वर्जित हो जाएंगी, गीतगोविन्द केवल प्रेमी-प्रेमिकाओं के पढ़ने की चीज़ रहेगा, कुमारसम्भव का केवल एकान्त में पाठ किया जा सकेगा, पुरी, भुवनेश्वर, कोणार्क तथा खजुराहो के मन्दिर केवल पति-पत्नियों तथा कुछ दुर्वासनाग्रस्त प्रौढों के देखने के लिए ही होंगे। हज़ारों वर्षों से अवयवों के सौष्ठव-प्रदर्शन की दृष्टि से योरप में निर्मित होती चली आती हुई तथा प्रतीक रूप में भारत में भी प्राप्त नग्न प्रतिमाओं का जो कि विशिष्ट कला कृतियाँ समझी जाती रही हैं, क्या होगा ? मध्ययुग में तान्त्रिक प्रभावों के अन्तर्गत बनी अनेकानेक नग्न-मूर्तियां तथा नग्न जैन प्रतिमाएं निर्माताओं के कलुष को ही व्यक्त करेंगी ? इसे साहित्य पर नैतिकता और शुचिता को आवश्यकता से अधिक थोपने का दुष्परिणाम ही कहा जा सकता है। इससे यह सामान्य निष्कर्ष निकलता है कि श्लील और अश्लील की कलागत मर्यादा का विचार करते समय वे ही मानदण्ड लागू नहीं किए जा सकते जो कि जीवन की नैतिक मर्यादाओं का विचार करते समय लागू होते हैं।

इस सम्बन्ध में यह भी आवश्यक है कि कलाकृति के सभी साझेदारों को ध्यान में रख कर भी उक्त प्रश्न पर विचार किया जाए। कलाकृति के साथ तीन श्रेणी के लोगों का सम्बन्ध देखा जाता है। उनमें सर्वप्रथम है कारयित्री प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार जोकि अपनी सार्थक अनुभूति की पूरी ईमानदारी के साथ स्वान्तः-सुखाय सार्थक अभिव्यक्ति करके कला को जन्म देता है। ऐसे कलाकार के मन में कहीं भी अश्लीलता का कण भी न मिलेगा। दूसरी श्रेणी के लोग हैं कला के पारखी भावयित्री प्रतिभा के धनी सहृदय समालोचक, जो कि तटस्थ भाव से कला को परखते हैं, उसके गुण-दोष की मीमांसा करते हैं तथा उसका मूल्य-निर्धारण करते हैं। इनके साथ कलाकार—साहित्यकार की-सी अभिव्यक्ति की मजबूरी नहीं होती। फिर भी जब तक कोई बहुत ही अशोभन व्रीडाजनक अर्थ या प्रसंग नहीं होता, इनकी उदार दृष्टि को कोई आपत्ति नहीं होती, इन्हें उन प्रसगों से रस ही मिलता है। तीसरी श्रेणी में आता है साधारण जनसमाज। इसमें कई तरह के लोग होते हैं। कुछ तो ऐसे होते हैं जिनके लिए 'भैंस के आगे बीन बजाए भैंस खड़ी पगुराए' वाली कहावत चरितार्थ होती है। ये ही हैं वे व्रजलेप, बिल्कुल पाषाण-हृदय, जिनकी दुनियां में साहित्य या कलानाम की कोई चीज़ ही नही होती। इनसे कलाजगत् को कोई खतरा नहीं होता। इनके अतिरिक्त कुछ अधकचरे ऐसे भी होते हैं जो हर तरफ हाथ-पैर मारते हैं। जो कुछ हाथ लगता है उसमें सीप-घोंघों की संख्या ही अधिक रहती है, मोतियों की नही के बराबर। समाज में ऐसे ही लोग अधिक होते हैं। अधिकतर इन्हीं के सन्दर्भ में श्लीलता और अश्लीलता का प्रश्न उठता है। कारण यह है कि कलाकृति को समझने के लिए जिस प्रशिक्षण, अनुशासन और कलात्मक ऊंचाई की आवश्यकता होती है, वह इनमें नहीं होती। ऐसी स्थिति

में दोष कलाकृति का नहीं होता, उसके उपयोग करने वाले का होता है। इससे तात्पर्य यह निकला कि दोष उतना विषयनिष्ठ नहीं होता जितना कि विषयिनिष्ठ होता है। जब किसी निर्मिति के सम्बन्ध में दस भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ देखने को मिलें, तो और कहा भी क्या जा सकता है? अश्लीलता की कोई सर्वसम्मत, शाश्वत परिभाषा नहीं दी जा सकती। वह देशकाल–सापेक्ष होती है, प्रसंग-सापेक्ष होती है और व्यक्ति–सापेक्ष भी होती है। देशकाल, प्रसग और व्यक्ति–विशेष के साथ उसकी परिभाषा बदलती रहती है। अधिक नहीं, लगभग १०० वर्ष हुए होंगे फ्रांस में 'मादाम बोबेरी' उपन्यास के लेखक फ्लाबेयर पर अश्लील, दुर्वासनाग्रस्त एवं अनैतिक साहित्य से जनसमाज के मस्तिष्क को विकृत करने के अपराध में मुक़दमा चलाया गया था। डी. एच. लारेन्स का उपन्यास 'लेडी चैटर्लीज़ लवर' इंगलैण्ड में अभी कल तक क़ानूनन निषिद्ध था। भारत में भी सुप्रीम कोर्ट ने सन् ६४ में उक्त उपन्यास के अश्लील होने के पक्ष में बहुमत से निर्णय दिया था। यदि सौ पचास वर्षों के बाद उक्त कोर्ट का निर्णय फिर मांगा जाए, सम्भव है, वही न हो। उक्त तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष यह निकलता है कि औचित्य-अनौचित्य का रूप स्थिर नहीं होता, उसमें देशकाल, विषय और प्रसंग के अनुसार परिवर्तन देखा जाता है। कला जीवन की अनुकृति है, यह सत्य होने पर भी जीवन का औचित्य और अनौचित्य उसी रूप में और उतनी ही मात्रा में कला का औचित्य एवं अनौचित्य नहीं होता तथा जीवन की अनुभूति का प्रत्येक अधिकारी कलागत सौन्दर्यानुभूति की क्षमता भी नहीं रखता। साहित्य एवं कला के सौन्दर्य की अनुभूति के लिए एक विशिष्ट प्रकार की भावन-सम्पत्ति चाहिए। अतः कलागत औचित्य और अनौचित्य की मीमांसा ऐसे लोगों के सन्दर्भ में ही की जानी चाहिए, प्राकृतजनों को ध्यान में रख कर नहीं। तभी उसके साथ न्याय हो सकेगा। परन्तु साहित्य या कला का जो प्रकार अपेक्षाकृत अधिक सार्वजनिक हो, कम पिहित हो, अधिक सुगम हो, तथा जिसमें अभिधा के सहारे बात सीधे अनावृत रूप में कह दी जाती हो, उसमें अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में सावधानी की आवश्यकता है, अन्यथा वहां ग्राम्य उद्वेगों को उत्पन्न होने से कोई न बचा सकेगा, नैतिकता के आग्रहियों को आवश्यकता से अधिक शोरगुल करने का अवसर मिलेगा, प्रेस–प्रोपेगण्डा चलेगा और मुक़दमेबाजी शुरू हो जाएगी।

इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने की है कि किस प्रयोजन की पूर्ति के लिए साहित्यकार अपनी प्रतिभा का उपयोग कर रहा है। किसी की सुरुचि या कुरुचि को सन्तुष्ट करने के लिए उसने ऐसा किया है अथवा उसका उद्देश्य धन, मान, मर्यादा या ख्याति की प्राप्ति है। उक्त प्रयोजनों की सिद्धि के लिए साहित्यकार को परमुखापेक्षी होना पड़ता है, दूसरे की रुचि का ध्यान रखना पड़ता है और कभी-कभी वह भी करना पड़ता है जिसे वह सामान्य स्थिति में न करता। ऐसे ही साहित्य में अनौचित्य का मिलना स्वाभाविक है। उससे मुक्ति का कोई उपाय ही नहीं।

मुक्ति तो तभी मिल पाती है, जब मान, आदर, प्रतिष्ठा, धन, वैभव सबसे विमुख होकर स्वान्तःसुखाय सद्यः परनिर्वृति के लिए रचना की जाती है। यहां भावना की विकृति के लिए कोई स्थान नहीं। ऐसी ही रचना प्राणवान् होती है, अमर होती है। भले ही इसे व्यक्तिवाद की सीमा कहा जाए, पर यह सीमा भी महान् है, रचनात्मक है और विगलित-वेद्यान्तर आनन्द का मूलस्रोत है।

मैं तो नीति-अनीति की दृष्टि से अश्लीलता के चक्कर में न पड़ कर यथार्थ दृष्टि को ध्यान में रखते हुए आचार्य मम्मट द्वारा प्रस्तुत अश्लीलता की परिभाषा को अधिक उपयुक्त मानता हूं। मम्मट के विचार से जो व्रीडाव्यंजक हो, जुगुप्सा-व्यंजक हो तथा अमंगल–व्यंजक हो, वही अश्लील है। इनमें व्रीडा और जुगुप्सा-व्यंजक तत्त्व स्वरूपाधायक होने के कारण अश्लीलता से साक्षात् सम्बद्ध हैं। जिससे व्रीडा का जनन हो तथा जो जुगुप्सा (गोपन करने की इच्छा) पैदा करे, उसी को अश्लील समझना चाहिए। ऐसे स्थल श्री—कमनीयता का आवहन नहीं करते, इसी लिए अश्लील कहे जाते हैं (न श्रियं लाति इति अश्लील:)। यह अश्लीलता पद, पदांश और वाक्य के स्तर पर हो सकती है तथा अर्थ के स्तर पर भी। अर्थ के स्तर पर अश्लीलता तीन रूपों में देखने में आती है। कहीं विवक्षित अर्थ ही व्रीडादिव्यंजक होता है, कहीं विवक्षितान्वयी अविवक्षित अर्थ को भी अश्लीलता अपने क्रोड में कर लेती है तथा कहीं विवक्षितान्वयी अविवक्षित अर्थ के भी आगे जाकर तत्सदृश अप्राकरणिक अर्थ की स्मृति करा देती है।[२८]

हो सकता है कुछ साहित्यकार ऐसे हों, पर बहुत कम होंगे, जिनके दिमाग में व्रीडा-जुगुप्सा-व्यंजक शब्द, भाव एवं प्रसंग उसी तरह पूरी बौद्धिक तटस्थता के साथ निष्क्रिय रूप में ज्ञान के विषय होने के नाते ही पड़े रहते हों, जैसे कि कोश-ग्रन्थों में। कुछ साहित्यकार ऐसे होते हैं जिनकी कल्पना में उक्त भाव सक्रिय रहते हैं पर अपनी प्रतिभा के सामर्थ्य से वे उक्त प्रसंगों को विशेष अर्थवत्ता देकर, उनमें कोई गम्भीर उद्देश्य निहित करके दूरतापादन के कौशल (distancing device) से काम लेते हुए, रम्य कल्पना के रसायन द्वारा प्रसंग को रमनीय बनाते हुए तथा उसे अभूतपूर्व नूतनता देते हुए कुरूप को सुरूप बना कर और विकृत को सुकृत करके प्रस्तुत कर देते हैं। इस स्थिति में भी अश्लीलता नहीं होती। उसका अवसर तो वहां आता है, जहां रचनाकार–साहित्यकार नहीं और कलाकार भी नहीं–बात के

---

२८. तत्र प्रत्येकं त्रिविधम्। क्वचिद् विवक्षितस्यैवार्थस्य व्रीडाद्यालम्बनत्वात्। क्वचिदविवक्षितस्य निर्वाहिणस्तथात्वात्। क्वचित्तादृशार्थस्यानिर्वाहिणोऽपि स्मृतिमात्र–हेतुत्वात्।

—प्रदीप (गोविन्द ठक्कुर कृत)

(काव्यप्रकाश), पृ० २५६.

कहने के ढंग को नहीं जानता और सब कुछ फूहड़ ढंग से कह जाता है, इस तरह पद, पदांश, वाक्य और अर्थगत अश्लीलता से बच पाना उसके लिए मुश्किल हो जाता है। आचार्य धनंजय ने ठीक ही उद्घोष किया है:—

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच—
मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु ।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके ।।

दशरूपक ४/८५

एकादश परिच्छेद

रसराज शृंगार

शृंगार को सर्वोत्कृष्ट रस के रूप मे आरम्भ से ही सभी आचार्य स्वीकार करते आए हैं। शृंगार का मूलभाव रति वस्तुतः एक ऐसा विश्व-व्यापक तत्त्व है जिसकी अनुभूति से नरनारी, पशुपक्षी, लता-पादप, सृष्टि के सकल जंगम-स्थावर अनुप्राणित हैं। इतना व्यापक और हृद्य भाव दूसरा नहीं। यही कारण है कि रस शब्द शृंगार के और शृंगारी शब्द रसिक के समानार्थक रूप में साहित्य में व्यवहृत हुए हैं। नीतिवचनों में जहाँ-कहीं रसालाप के वर्जन का प्रसंग मिलता है, वहां रस शब्द से शृंगार का और रसालाप से शृंगारमूलक प्रसंगों का ही बोध होता है।[१] बाण रोचकता और रागवर्धकता के कारण कादम्बरी-कथा की जहाँ अभिनव वधू से समता प्रदर्शित करते है, वहाँ रस शब्द से वह भी शृंगारभाव की ही बात करते हैं।[२] कालिदास भी शाकुन्तल में मिश्रकेशी के द्वारा यह कहलाकर कि वीर जन में भी रस से विकार पैदा हो जाता है, शृंगार और उसके भाव के लिए ही रस शब्द का प्रयोग करते दीखते हैं।[३] शृंगारी शब्द रसिक के और अशृंगारी शब्द अरसिक के समानार्थक रूप में पर्याप्त व्यवहृत हुआ है।[४]

भरतमुनि यह स्वयं स्वीकार करते हैं कि जो कुछ लोक में पवित्र, उज्ज्वल और दर्शनीय है, वह शृंगार से ही उपमित होने योग्य है।[५] रुद्रट भी यह स्वीकार करते हैं कि शृंगार रस–जैसी रस्यता अन्य कोई रस उत्पन्न नहीं कर सकता। आबालवृद्ध संसार इसी से व्याप्त है। इसके अभाव में काव्य रसहीन रहता है, अतः

---

१. रसालापाश्च वर्जयेत्।

२. स्फुरत्कलालाप–विलास–कोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव॥

—कादम्बरी, प्रास्ताविकश्लोक ८.

३. धीरमपि जनं रसो विकारयति।

—शाकुन्तलम्, अंक ६.

४. शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव चेदशृंगारी नीरसं सर्वमेव तत्॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण ५।३.

५. यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्य दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते।

—नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, पृ० ३००.

इसकी योजना के लिए कवि को विशेष प्रयत्न करना चाहिए।[6] आनन्दवर्धन भी शृंगार को सर्वाधिक मधुर और प्रह्लादन मानते हैं।[7] अभिनवगुप्तपाद भी शृंगार को सर्वजाति-सुलभ और अत्यन्त परिचित होने के कारण प्राथमिकता देते हैं।[8] भोज तो शृंगार–वीर–करुणाद्भुत–रौद्र–हास्य आदि ग्यारह रसों के स्थान पर रस की संज्ञा केवल शृंगार को देते हैं।[9] यद्यपि यह शृंगार अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकृत शृंगार से भिन्न है, फिर भी वह शृंगार भी इसी से उद्भूत है और भोज ने उस रति प्रकर्ष शृंगार को अन्य अवान्तर भेदों की अपेक्षा विशेष महत्त्व दिया हैं। अग्निपुराण का कथन है कि आनन्द ब्रह्म का सहज धर्म है। अभिव्यक्त होने पर इस आनन्द को ही चैतन्य, चमत्कार, रस कुछ भी कहा जा सकता है। इसी रस का विकार अहंकार है। उससे अभिमान और अभिमान से रति की उत्पत्ति होती है। यही रति संचार्यादि से संयुक्त होने पर शृंगार कहलाती है। अपने-अपने स्थायी भावों से परिपुष्ट हास्यादि रस इसी रति या शृंगार के ही भेद हैं।[10] शारदातनय भी शृंगार को समस्त वर्णनों का आधार बताकर उसकी सर्वव्यापकता की ओर संकेत करते है।[11] सभी आचार्य व्यापकता एवं आस्वाद्यता की दृष्टि से शृंगार की सर्वोत्कृष्टता के विषय में एकमत है। शृंगार के लिए रसराज पद का प्रयोग उन्होंने नहीं किया है, परन्तु अपने वर्णन के प्रकार से वे कहना यही चाहते है।

---

६. सर्वरसेभ्यः शृंगारस्य प्राधान्यं प्रकटयिषुराहः—
अनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्य
सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम्
तदितिविरचनीयः सम्यगेष प्रयत्नात्।
भवति विरसमेवानेन हीनं हि काव्यम्॥
—का० अ०, १४–३८.

७. शृंगारएवमधुरः परः प्रह्लादनो रसः। ध्वन्या० २१७.

८. तत्र कामस्य सकलजाति-सुलभतयात्यन्तपरिचिततवेन सर्वान् प्रति हृद्यतेति पूर्वः शृंगारः।
—अभि० भारती, पृ० २६७..

९. शृंगार–वीर–करुणाद्भुत–रौद्र–हास्य–बीभत्सवत्सल–भयानक–शान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु शृंगारमेव रसनाद् रसमामनामः॥
—शृंगारप्रकाश, प्रति १, पृ० २..

१०. आनन्दस्सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य–चमत्कार–रसाह्वया॥
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः।
ततोऽभिमानस्तत्रेद समाप्तं भुवनत्रयम्॥
अभिमानाद् रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी।
व्यभिचार्यादिसामान्याद् शृंगार इतिगीयते॥
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।
—अग्निपुराण, अ० ३३८।२–५..

११ समग्रवर्णनाधारः शृंगारो वृद्धिमश्नुते। भावप्रकाशन, पृ० ६१..

भक्त–कवि भी शृंगार या मधुररस को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। शृंगार के लिए रसराज उपाधि का आरम्भ इन्होंने ही किया है। इस उपाधि के प्रवर्तक हैं रूपगोस्वामी। वे उज्ज्वलनीलमणि के आरम्भ में मधुर-रस को भक्तिरसों का राजा बताते हैं।[१२] यही रूपगोस्वामी अपने हरिभक्ति रसामृत सिन्धु में शान्त, प्रीति, प्रेयान्, वत्सल, मधुर इन पाँचों मुख्य रसों में शृंगार की ही उत्तमता प्रतिपादित करते हैं।[१३] मधुसूदन सरस्वती भी शृंगार में रतिभाव की सर्वाधिक तीव्रता देखकर उसे सब रसों में बलवत्तर बताते हैं।[१४] कवि कर्णपूर गोस्वामी प्रेमरस में–जिसका कि वह शृंगार को अंग मानते हैं—समस्त रसों का अन्तर्भाव स्वीकार करके उसको सर्वोत्कृष्ट ठहराते हैं।[१५] वैष्णव शास्त्रों का यह भावनिष्कर्ष है कि शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य रतियों में मधुरा रति ही सर्वश्रेष्ठ है। उसमें भी समर्था मधुरा रति का तो कहना ही क्या। वह बलवत्तर होने के नाते हस्तिजाति की जाठराग्नि के समान है और अन्य रतियां शशक जाति की जाठराग्नि के समान ठहरती हैं। यह रूप कविराज का कथन है।[१६]

उक्त उद्धरणों को ध्यान में रखते हुए शृंगार की रसराजता के मूल में प्रतिष्ठित कारणों की यदि छानबीन की जाए तो वे सामान्यतः निम्न ठहरते हैं:—

१. शृंगार–भाव की व्यापकता।

२. शृंगार–भाव की उत्कट आस्वाद्यता।

३. शृंगार में अन्य रसों को समाहृत करने की योग्यता।

---

१२. पृथगेव भक्तिरसराट् सविस्तरेणोच्यते मधुरः। उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ४

१३. मुख्यस्तु पंचधा शान्तः प्रीतिः प्रेयांश्च वत्सलः।
मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमाः।

—भक्तिरसा० (द. वि.) लहरी ५–३७.

१४. शृंगारो मिश्रितत्वेऽपि सर्वेभ्यो बलवत्तरः।
तीव्रतीव्रतरत्वं हि रतेस्तत्रैव वीक्ष्यते॥

—भक्तिरसा. उल्ला. २, श्लो. ३६.

१५. उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेम्ण्यखंडरसत्वतः।
सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ॥

—काव्य कौस्तुभ, पृ० १४६.

१६. समर्था रतिर्यथा हस्तिजातेर्जाठराग्निः। इतरा रतयो यथा शशकजातेर्जाठराग्निः। निवारणादि-सद्भावेऽपि ताः समर्था–सादृश्यं न प्राप्नुवन्ति। यथा बहुलंघनैरपि शशकजाठराग्नि–हस्ति-जाठराग्निसादृश्यं न प्राप्नोतीति।

—सारसंग्रह, पृ० ६५–६६

४. सभी भावों को आत्मसात् करने का सामर्थ्य ।

५. विभावादिकों की विशेषता ।

१. श्रृंगार–भाव की व्यापकता

श्रृंगार के मूल में प्रतिष्ठित रति अथवा काम की व्याप्ति विश्व में सर्वत्र दीखती है । विश्व की समस्त जंगमस्थावर सृष्टि में इसकी अनुभूति देखी जाती है । यह भाव आबालवृद्ध सभी का जन्म से मृत्यु–पर्यन्त साथ देता है । श्रृंगार को हेय समझने वाले ब्रह्मज्ञानी योगी आदि विरक्त भी किसी न किसी रूप में श्रृंगार के उपासक होते हैं । उनका मन भी उपास्य की श्रृंगारयुक्त मूर्ति में ही रमता है इस अनुभूति को बिना आत्मसात् किए लेखक, कवि वक्ता आदि सफल नही कहे जा सकते । कविगण मानवीय, दैव, प्राकृतिक किसी न किसी श्रृंगार को अपनी रचना में अवश्य अपनाते हैं । श्रृंगार का सृष्टि के दो मूल महान् तत्त्वों–सौन्दर्य और प्रेम से सम्बन्ध है और काम उसके मूल में प्रतिष्ठित है ही । ये ही उसकी व्यापकता के कारण हैं । प्रीति के जितने भी रूप हैं दाम्पत्य–प्रेम, वात्सल्य-प्रेम और ईश्वर–प्रेम-सभी इसमें समाविष्ट हैं ।

२. श्रृंगार की उत्कट आस्वाद्यता

अन्य रसों की तुलना में श्रृंगार रस की चर्वणा अत्यन्त उत्कृष्ट होती है । इसका स्थायीभाव रति रसानुभूति का सर्वोत्कृष्ट आश्रय और मानव प्रकृति का प्रबलतम भाव है । इसीलिए तीव्रता और प्रभावशालिता की दृष्टि से यह भाव सर्वश्रेष्ठ ठहरता है । इस भाव की अनुभूति में तन्मयता की चरम सीमा मिलती है । यहाँ वस्तुतः काम जो स्वभावतः कमनीय होता है, उदात्त रूप में प्रतिष्ठित होकर सहृदय के लिए और भी आकर्षक हो जाता है।अर्थवत्ता से वेष्टित करके काम को यहां मन, बुद्धि और चिन्तन के स्तर पर लाया जाता है । वैसे आस्वाद्यता तो समस्त रसों का प्राण है, परन्तु श्रृंगार रस में आस्वाद्यता की जो तीव्रता और उत्कृष्टता मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है ।

३. सब रसों का मूलरस श्रृंगार

श्रृंगार रस वस्तुतः मूल रस है । वह अपने में अन्य सभी रसों को समाविष्ट किए हुए है । दूसरे शब्दों में वह प्रकृति रस है, अन्य रस उसकी विकृति मात्र है । इसकी उस अष्टदल कमल से तुलना की जा सकती है जिसकी आठों पंखड़ियाँ कर्णिका से सम्बद्ध रहती हैं और अपने जीवन के लिए उसी से रस ग्रहण करती हैं ।

शृंगार कर्णिका है और रस उससे सम्बद्ध पखड़ियाँ हैं। भोज, रूपगोस्वामी और कवि कर्णपूर गोस्वामी की दृष्टि इस सम्बद्ध में द्रष्टव्य है।

देखने में बीभत्स, करुण, रौद्र, भयानक और शान्त शृंगार के विरोधी लगते है और आचार्यों ने इस विरोध पर प्रकाश डाला है। परन्तु यदि गौर से देखा जाए तो यह भेद वास्तविक नही ठहरता। देखने में तो यह आता है कि एक व्यापक भाव दो प्रतिकूल भावों को अपने में समाहित किए रहता है। उदाहरण के लिए धर्म और विज्ञान को लीजिए। दोनो परस्पर विरोधी है। धर्म विश्वासमूलक है और विज्ञान विश्वास का विरोधी, परन्तु दर्शन धर्म विज्ञान दोनों को अपने में समाहित किए रहता है। यही स्थिति शृंगार और अन्य रसों की है। देखिए हास्य और करुण दोनों परस्पर विरोधी है, पर शृंगार में इन दोनों की स्थिति है—संयोग शृंगार में हास्य की और वियोग शृंगार में करुण की। यही विरोध की स्थिति रौद्र और भयानक की है, पर वीर में दोनों ही निर्विरोध स्थित रहते हैं। वीर और रौद्र का सीधा सम्बन्ध तो है ही, परन्तु समस्त वीर कार्य कोप–प्रेरित होते हैं अतः बाह्य आकार भयोत्पादक हो ही जाता है। बीभत्स और अद्भुत परस्पर-विरुद्ध होते हुए भी शान्त के साथ पूरा सहयोग देते हैं। बीभत्स सब ओर से इन्द्रियों के संकोच का विधान करके वैराग्य की उत्पत्ति में सहायक होता है और अद्भुत विस्मय का परिपोष करते हुए चित्तवृत्ति को आकर्षित करके ईश्वर में केन्द्रित कर देता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वीर और शान्त व्यापक भाव जरूर हैं, पर शृंगार उनसे भी अधिक व्यापक है, तभी शृंगार में वीर का उत्साह और शान्त का-सा अन्य सब वस्तुओं का विराग और आनन्द सुलभ होता है। जितना और सब रसों का शृंगार के साथ मेल है, उतना और किसी रस के साथ नहीं। हास्य, वीर और अद्भुत ये तीनों शृंगार के संयोग–पक्ष के साथ मिले रहते हैं। रौद्र, करुण और भयानक का सम्बन्ध शृंगार के वियोग–पक्ष के साथ है। बीभत्स और शान्त शृंगार के उक्त दोनों पक्षों के साथ सम्बद्ध दीखते हैं।

शृंगार में एक अन्य दृष्टि से भी सभी रसों का समावेश किया जा सकता है। संसार वस्तुतः सुखदुःखात्मक है। शृंगार के भी संयोग–वियोग दो पक्ष है—एक सुखात्मक और दूसरा दुःखात्मक। नाट्यदर्पण के रचयिता रामचन्द्र और गुणचन्द्र भी रस को सुखदुःखात्मक ही मानते है।[१७] मधुसुदन सरस्वती आंशिक रूप से इसका समर्थन ही करते है, जबकि रसानुभूति के अवसर पर वह आनन्द में तारतम्य की बात करते है।[१८]

---

१७. सुखदुःखात्मको रसः —नाट्यदर्पण.

१८. रजस्तमस्समुच्छेद–तारतम्येन गम्यते।
तुल्येऽपि साधनाभ्यासे तारतम्यं रतेरपि ॥ —भक्ति रसायन, उल्लास २।५६.

४. सभी भावों को आत्मसात् करने की सामर्थ्य

शृंगार ही एक ऐसा रस है सभी संचारियों और सात्त्विकों को आत्मसात् करता है। कुछ आचार्यों ने कुछ संचारियों के परिहार करने की बात कही है। भरत के अनुसार आलस्य, औग्र्य और जुगुप्सा को छोड़कर शेष तीस संचारी शृंगार में प्रयुक्त हो सकते हैं।[१९] विश्वनाथ औग्र्य, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को शृंगार में प्रतिषिद्ध बताते हैं।[२०] हेमचन्द्र जुगुप्सा, आलस्य और औग्र्य संचारियों का रति के साथ वर्णन ठीक नहीं समझते।[२१] परन्तु शृंगार-रचनाओं में इन प्रतिषिद्ध व्यभिचारियों का प्रयोग बड़ी सफलता से कवियों ने किया है। विप्रलम्भ की काम-दशाओं में मरण का ग्रहण है ही।[२२] नायिका के स्वभावज अलंकारों में एक अलंकार विब्बोक है, उसमेंउग्रता और जुगुप्सा दोनों पाये जाते है। नायिका का प्रेम प्राप्त करने के बाद गर्व और अभिमान के कारण अनादर और उपेक्षा प्रदर्शित करना इसका लक्षण है।[२३] प्रौढा अधीरा एवं मानिनी नायिकाओं में उक्त दोनों संचारी अनेक अवसरों पर उग्र रूप धारण कर लेते हैं। रसतरगिणी में भानुदत्त द्वारा प्रथम प्रवर्तित जृम्भा नामक नवम सात्त्विक भाव आलस्य-जनित ही ठहरता है। धनंजय की दृष्टि से उनचास भावों का काव्य में युक्तिपूर्वक निबन्धन शृंगार रस की पुष्टि करता है।[२४] इस पर धनिक भी अपनी वृत्ति में उक्त अविरोध का ही समर्थन करते हैं।[२५] भोज की दृष्टि में समस्त एकोनपंचाशत् भाव शृंगार तत्त्व की शोभा ही बढ़ाते हैं। वह तो इससे यह

---

१९. व्यभिचारिणश्चास्यालस्यौग्र्य-जुगुप्सावर्ज्याः।

—नाट्यशास्त्र, ६-३०,

२०. त्यक्त्वौग्र्य-मरणालस्य-जुगुप्साव्यभिचारिणः।

—सा० द०, परि० ३, श्लोक १८६.

२१. जुगुप्सालस्यौग्र्यवर्जितव्यभिचारिका रतिः।

—काव्यानु० अ० २, सू० ३.

२२. अभिलाषश्चिन्तास्मृति-गुणकथनोद्वेग-सम्प्रलापाश्च।
उन्मादोऽथव्याधिर्जडता-मृतिरितिदशात्र कामदशाः॥

—सा० द० परि० ३।१९०.

२३. बिब्बोकस्त्वति गर्वेण वस्तुनीष्टेऽप्यनादरः।

—सा०दर्पण, परि० ३, पृ० १००.

२४. ये सत्वजा स्थायिन एव चाष्टौ त्रिंशत्त्रयो ये व्यभिचारिणश्च।
एकोनपंचाशदमी हि भावा युक्त्या निबद्धाः परिपोषयन्ति॥
आलस्यमौग्र्य मरणं जुगुप्सा तस्याश्रयाद्वैत विरुद्धमिष्टम्॥

—दशरूपक, ४।४८, ४९.

२५. त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणश्चाष्टौ स्थायिन अष्टौ सात्त्विकाश्चेत्येकोनपंचाशत्।
युक्त्या अंगत्वेनोपनिबध्यमानाः शृंगारं सम्पादयन्ति।

—अवलोक० श्लोक ४८-४९.

भी सिद्ध करते हैं कि रत्यादि एकोनपंचाशत् भाव शृंगार-प्रभव हैं। वीरादि को रस कहना केवल मिथ्या रस-प्रवाद है चतुर्वर्ग का एक कारण श्रृंगार ही केवल एक रस है।[२६] कवि कर्णपूर गोस्वामी का कथन है कि सभी रस और भाव प्रेम रस से उसी प्रकार उद्भूत होते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं जैसे वारिधि में तरंग।[२७]

५. विभावादिकों की विशेषता

विभाव--आलम्बन, उद्दीपन की दृष्टि से श्रृंगार की स्थिति समस्त रसों की अपेक्षा उत्कृष्ट ठहरती है। शृंगार के आलम्बन नायक-नायिका होते हैं जिनके साथ आश्रय पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर सकता है। यहां आश्रय-आलम्बन में जैसा द्वैत का विलोप दीखता है, वैसा अन्य रसों में नहीं। यहां तो दोनो में काया-छाया का सम्बन्ध हो जाता है—एक मन दो तन की उक्ति पूर्णतः चरितार्थ होती है। श्रृंगार रस के उद्दीपन भी अन्य रसों की तुलना में अधिक व्यापक और रमणीय होते है। वे केवल लौकिक ही नहीं, अलौकिक और अतिलौकिक भी हो सकते है। ये उद्दीपन सभी काल और सभी स्थान पर सुलभ होते हैं और सृष्टि के जड़जंगम किन्हीं भी पदार्थों से लिए जा सकते हैं। यह स्थिति अन्य रसों में नहीं पाई जाती।

अनुभाव की दृष्टि से भी शृंगार का विशेष महत्त्व है। शृंगार के अनुभाव संख्या में सबसे अधिक होते हैं। नाट्यशास्त्र में जिन सात्त्विक अलंकारों की चर्चा की गई है—तीन अंगज-भाव, हाव, हेला, सात अयत्नज--शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य. एवं धैर्य, दस स्वभावज–लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित तथा विहृत, ये सभी शृंगार में प्रयुक्त होते हैं। सात्त्विकों का पूर्ण परिष्कार शृंगार में ही देखा जाता है।

इसके अतिरिक्त श्रृंगार रस की अपनी एक और विशेषता है जो अन्य रसों में नहीं पाई जाती। अन्य रसों की रचनाओं में जब तक उनके समस्त अवयवों--विभाव

---

२६. (क) रत्यादयोऽर्धशतमेकविवर्जिता हि
भावाःपृथग्विधविभावभुवो भवन्ति।
शृंगार–तत्त्वमभित. परिवारयन्तः
सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्धयन्ति॥

(ख) अतः सिद्धमेतत् रत्यादय. शृंगारप्रभवाएव एकोनपंचाशद्भावाः
वीरादयोमिथ्यारसप्रवादाः, शृंगार एवैकः चतुर्वर्गकारणम्।
स रस इति।

—शृंगारप्रकाश, प्रति १, पृ० ३
(मद्रास पाण्डुलिपि)।

२७. काव्यकौस्तुभ, पृ० १४६.

अनुभाव, संचारी-का चित्रण नहीं होता, उनकी अनुभूति सम्भव नहीं होती। पर श्रृंगार के साथ यह बात नहीं है। उसका स्थायीभाव—रति जीवन की एक सर्वाधिक प्रबल भावना है उसकी अभिव्यक्ति के लिए उसमें सम्बद्ध रस के किसी अवयव को ले लीजिए, अन्य अवयव स्वतः खिंचते चलेआएँगे, फलतः सहृदय पाठक की रसानुभूति में ज़रा भी बाधा नहीं पड़ेगी।

उपर्युक्त तत्त्वों को देखते हुए यह निर्भ्रान्ति रूप से कहा जा सकता है कि श्रृंगार के मूल में विद्यमान काम और प्रेमतत्त्व श्रृंगार को जीवन के बहुत ही व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। प्राणी किसी धरातल—लौकिक, अलौकिक अतिलौकिक पर रहे, इनकी अनुभूति और अभिव्यक्ति से बच नहीं सकता। यदि उसे इसका भौतिक रूप न रुचेगा, वह इसके मानसिक, बौद्धिक आध्यात्मिक रूप की शरण जाएगा और जब तक उनकी परिमार्जित एवं अन्तर्विशोधक अभिव्यक्ति न कर लेगा, तब तक चैन नहीं पाएगा। ये भाव मानव-जीवन के पाथेय हैं। यह समर्थ भाव यदि सर्वोत्कृष्ट न कहा जाएगा तो फिर किसे सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है। इन भावों को मूल में प्रतिष्ठित करने वाले रस को यदि रसराज न कहेंगे, तो फिर किसे कहेंगे ? श्रृंगार अन्य रसों की तुलना में सर्वोत्कृष्ट हैं—वह रसराज है।

उपसंहार

भरत से पंडितराज जगन्नाथ तक पहुंचते-पहुंचते लगभग एक सहस्त्राब्दी से अधिक काल बीत चुकता है। इस अवधि में शृंगार रस और मूल भाव रति के जिन विविध पक्षों की अवतारणा देखने में आई उसने पाठक को दिशा भी दी और जब तब गुमराह भी किया। शृंगार रस और उसकी रति पर पड़े प्रभावों की विविधता ने एक अलग समस्या खड़ी कर दी। कहीं उन पर दार्शनिक आवरण पड़ा, कहीं भक्तिशास्त्रीय, कहीं काव्यशास्त्रीय, कहीं तन्त्रशास्त्रीय और कहीं रतिशास्त्रीय। दार्शनिक आवरण के भी कहीं इतने रूप परस्पर संग्रथित हैं कि सर्वत्र उनका सुलझा पाना कठिन है। कहाँ कितना, कौनसा वेदान्त है, कहाँ सांख्यदृष्टि प्रश्रय पा रही है, कहाँ कश्मीर का अद्वैतमूलक शैव दर्शन बोल रहा है और कहाँ तन्त्र अपनी साधना के लिए मार्ग प्रशस्त कर रहा है, इन्हें सही मानों में समझ पाना और विवेचन में इनका उचित उपयोग करते रहना भी सरल नहीं है। और कहाँ, कितने अनुपात में कौन-कौन दर्शन मिलकर कैसी सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र कला-सर्जना और कला-चिन्तना प्रस्तुत करते हैं, यह एक अलग विचारणीय बात है। इस सम्बन्ध में आचार्यों में भी मतभेद दीखता है। रति सर्वत्र है, उसके आधार पर भी विभावादि के सहारे शृंगार रस की निष्पत्ति भी होती है, पर कितनी अलग-अलग। प्रभावों के अनुपात का प्रश्न भी कम जटिल नही है। काव्येतर तत्त्वों का कितना बोझ रति संभाल सकती है, इस प्रसंग को भी आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता। उक्त प्रसंगों के सन्दर्भ में उनकी रसोपयोगिता और काव्योपयुक्तता पर भी विचार आवश्यक है। इसे भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि 'ब्रह्म विहार' और 'रसविहार' में कितना तात्त्विक अन्तर है तथा काव्य के क्षेत्र में दोनों का समानार्थी बन कर रहना कहाँ तक समीचीन है।

दूसरी समस्या खड़ी होती है रति के उन चित्रों से जिनका साहित्य में अनुपात सर्वाधिक है। ये चित्र कामोपचार-बहुल कथ्य को प्रश्रय देते हैं, इनके मूल में अस्वस्थ व अमर्यादित स्थूल भोग-लिप्सा काम करती है, ये पाशविक मिलन या मांसाचार की प्रवृत्ति के द्योतक होते हैं, फलतः इनमें काम-सौन्दर्य के मांसल, कामोष्ण कटु-तिक्त आवेग चटकीले रंगों में अंकित मिलते हैं। इनमें भी जहाँ इनका उपयोग विशुद्ध ऐहलौकिक रति के स्वस्थ रूप को उभारने के लिए या उसका महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है, वहाँ तो बात समझ में आती है, यथा कालिदास के 'मेघदूत', 'कुमारसम्भव', 'रघुवंश' और 'शाकुन्तलम्' में। 'मेघदूत', में

यक्ष का आरम्भिक वासनात्मक उद्दाम प्रेम अन्त में पक कर सहज अद्वैतानुभूति में पर्यवसित हो जाता है। 'कुमार सम्भव' के स्थूल आकर्षण पर उभरा प्रेम अपने उत्प्रेरक काम के दहन के बाद (उसे जीतकर या उस पर पूरा काबू पाकर) निर्मल मानस प्रेम में परिवर्तित होता है। 'रघुवंश' में विलास-पंक में पूर्णतः निमग्न अग्निवर्ण के मात्र भोग-पर्यवसायी प्रेम के दुःखद अन्त को दिखा कर कवि प्रेम के उत्कृष्ट रूप की तरफ संकेत करता है। "शाकुन्तलम्" का कामावेग-जनित वासनामूलक प्रेम शकुन्तला के प्रत्याख्यान का कारण होता है और उसे दिव्य दीप्ति मिलती है मरीचि के आश्रम में, जहाँ सारी वासना धुल चुकी होती है और शारीरिक आकर्षण बहुत पीछे छूट चुका होता है। ऐसे स्थलों पर वासनात्मक चित्रों का अपना महत्त्व है। वे सही दिशा देते हैं और नैसर्गिक मांगल्य-शक्ति से परिपूर्ण लौकिक रति के सही रूप को प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक भूमिका प्रदान करते हैं। परन्तु प्रेम के वे चित्र जो पाठक के हृदय में उद्दाम वासना की उत्ताल तरंगों को उभार कर ही अपनी सार्थकता सिद्ध करते हैं तथा जिनसे परिणाम में 'मनः-प्रसाद' न मिल कर अवसाद ही मिलता है, उनका क्या किया जाए ? केवल भोग से तो इन्सान स्वयं भुक्त हो जाएगा—जीर्ण हो जाएगा। क्या ये चित्र रसकोटि में परिगणित हो सकते हैं ? यदि हाँ तो इनका रसन किस स्तर पर होगा ? रस तो भाव के पूर्ण परिपाक की सहज परिणति है। वह तो भावना या उसके आगे के स्तर पर ही पलता है। पर जहाँ शारीरिक एवं ऐन्द्रिय स्तर ही सब कुछ हो, उसे रस कैसे माना जाए। क्योंकि ये अपने निर्माता (इन्हें न सर्जक कहना उपयुक्त होगा न कलाकार) की संकीर्ण अस्मिता से जनित है, अतः ये न पाठक की अस्मिता को विस्तार दे सकते हैं, न उसका उन्नयन कर सकते हैं। रस एवं भाव की अनुभूति के क्षण अस्मिता के विस्तार की इसी चेष्टा में कवि या कलाकार के स्वप्नों का सत्य निहित रहता है। फिर रस की दृष्टि से ऐसे स्थलों की परिणति क्या होगी जबकि उनमें रसास्वादन के मयस्सर होने का कोई मौका ही नहीं ?

दूसरी ओर शृंगार रस के ऐसे विविध प्रसंग मिलते हैं जिनके मूल में रस को औपनिषदिक आधार देने का प्रयत्न परिलक्षित होता है। ये ही वे स्थल हैं जहाँ काव्यशास्त्र और दर्शन की सीमा-रेखाओं में सिमट कर रस-धारा प्रवाहित होती है। जहाँ दोनों का मणिकांचन-योग है, वहाँ रतिधारा अत्यन्त सहज और सुपुष्ट रूप में अभिव्यक्त होकर पाठक के हृदय को रससिक्त करती है। पर जहाँ दोनों में से किसी का कृत्रिम विषमानुपात हुआ, वहाँ या तो दर्शन की सूक्ष्म तकनीक हाथ लगती है, या विभावानुभावसंचारियों के क्षार नद में डूबना-उतराना पड़ता है। इस दमघोट स्थिति में रसावगाहन का प्रश्न ही नहीं उठता। लोलिम्बराज ने अपने

"वैद्यजीवन" में नायक–नायिका का आधार देकर प्रेमोद्‌बोधक सम्बोधनों के साथ आयुर्वेद की चिकित्सा-प्रक्रिया की दिलचस्प दास्तान सुना दी। पर हुआ क्या? सुना जाता है कि उसमें बहुत से आजमूदा नुस्खे हैं। हुआ करें, पर इतना तय है कि उसमें से रस का नुस्खा गायब है। क्योंकि 'रस' पद में रस-सिद्धान्त के प्रवर्तकों को कविकर्म के प्रारम्भ किए जाने के प्रथम क्षण से लेकर कवि-निर्मिति के सहृदय सामाजिक द्वारा आस्वाद लिए जाने के अन्तिम क्षण तक की काव्य-प्रक्रिया के सभी स्तरों का समाहरण अभीष्ट था। उसमें कवि की सर्जनानुभूति, सामाजिक की सौन्दर्यानुभूति तथा काव्य गुणों की परमावश्यक समष्टि सभी कुछ समाहित है। किसी रस का प्रसंग हो, उक्त पहलुओं के साथ उसका परखा जाना ज़रूरी है। रस-सिद्धान्त एक संश्लेषणात्मक प्रक्रिया है, विश्लिष्टता रसता की बाधक है। वैसे काव्य के क्षेत्र में रसहीन कुछ होता ही नहीं (नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते)। रस के बिना विभावादि रूप अर्थ निस्सार होते हैं, तथा रसनात्मक प्रतीति की एकघनता के विश्वासी सामाजिक के हृदय में पानकरसन्याय से रसभावादिरूप अर्थ अप्रविभक्त होकर अनुभूति का विषय बनते हैं। अतः कवि-कर्म के कच्चे माल में काव्येतर तत्त्वों के मेल से रसाभिव्यक्ति के पक्षपातियों को अपनी क्षमता का भी ध्यान रखना चाहिए।

इस सम्बन्ध में एक और जो मुसीबत झेलनी पड़ती है वह है रस के सैद्धान्तिक विवेचन और प्रयोग-पक्ष में उसके क्रियान्वयन को लेकर। काव्यशास्त्र का सिद्धान्त-पक्ष अपनी पूरी ऊँचाई में सर्वथा निर्दोष है, परन्तु जब उदाहरणों में उसे घटित करके दिखाया जाता है, तो अधिकतर उसकी ऊँचाई मिट्टी में मिल जाती है। उदाहरण सिद्धान्त के स्वास्थ्य को बनाए नहीं रह पाते। कहने का तात्पर्य यह है कि सिद्धान्तों में निरूपित रस तो 'वेद्यान्तर-स्पर्शशून्य' और 'ब्रह्मास्वाद-सहोदर' होता है, सत्त्वोद्रेक उसकी अनुभूति के क्षण की अनिवार्यता है। परन्तु जिन उदाहरणों के आधार पर विभिन्न रसों को निरखा-परखा जाता है उनमें से कुछ में मानसिक अनुभूति का सम्बल होता है और कुछ में शरीर, उसकी विविध पेशियों एवं इन्द्रियों के लिए एक शानदार भोज का आयोजन ही रचयिता को अभीष्ट होता है। यहीं उनका अन्त है, इसके आगे कुछ नहीं। जब तक अन्नमय कोश से पूरा छुटकारा न मिले, मनोमय कोश तक कैसे पहुँचा जा सकता है, और बिना वहाँ पहुँचे रस का उपक्रम ही नहीं हो पाता। वैसे अच्छे उदाहरणों की कमी नहीं है, पर जिनका चयन किया जाता है, वे नितान्त साधारण कोटि के और ग्राम्य होते हैं। 'शृंगार के क्षेत्र में यह अव्यवस्था विशेष रूप से देखने को मिली। वहाँ तो अधिकतर सब कुछ एक जैसा स्थूल, संकीर्ण दायरों में सिमटा हुआ रह गया। इसी

के परिणामस्वरूप सहज, स्वस्थ अमूर्त भाव भी मांसल बन कर टकराने लगे और पाठक के शारीरिक और ऐन्द्रिय स्तर पर हलचल उठ खड़ी हुई। इन सब हलचलों के पीछे हूणों, शकों, आभीरों और यवनों की स्वच्छन्द रोमांस की प्रवृत्ति का भी बहुत हाथ रहा है। इनके कारण पहले से ही प्राकृत में चली आ रही लौकिक, शृंगार-परम्परा में और भी उन्मुक्तता आ गई।

ये ही सब कारण हैं जिन्होंने शृंगार रस और उसके रतिभाव को विविधता में उपस्थित किया। अलौकिक प्रेम भी अपनी अनेक विधाओं में अभिव्यक्त हुआ। परकीया-साधना की सिद्धान्ततः स्वीकृति से अभिव्यक्ति ने कुछ स्वैराचार अधिक अपना लिया। ऐहलौकिक प्रेम की भी अलौकिक धरातल पर अभिव्यक्ति हुई जिसमें लौकिक जीवन की रतिपरक आस्था और उसके आस्वाद के स्वर प्रमुख थे। इसके अतिरिक्त कवियों की रचनाओं में घासलेटी साहित्य (पोर्नोग्राफ़ी) ने भी खूब अभिव्यक्ति पाई जिसे सामान्य पाठक (जो हमेशा बहुमत में होता है) बड़ी रुचि से रस के रूप में पूजता रहा और इस तरह रस के क्षेत्र में अव्यवस्था पनपती रही। उक्त सभी अभिव्यक्तियाँ रस की सीमा में समाहित हो गईं या समझी जाने लगीं। फलतः शृंगार के क्षेत्र में एक सुव्यवस्थित अव्यवस्था देखने को मिली जो शास्त्रीय दृष्टि से भले ही किसी न किसी व्यवस्था में बँधी हो पर पाठक के लिए वह बहुत कुछ अव्यवस्थित और अस्थिर रही। वह भले ही उक्त प्रसंगों को शृंगार की सीमा में परिगणित करता चला आ रहा हो पर वह उनसे हमेशा साधारणीकरण नहीं कर पाया। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ और उनमें प्राप्त विवेचन की विविधता शृंगार रस और रति के विभिन्न पक्षों की कहानी सफ़ाई से कह देती है। इनमें भी एक कालक्रम है और उसके भी पीछे उसको गति प्रदान करती हुई एक विशिष्ट युग-चेतना है।

वस्तुतः काव्यरस का अपना स्थान बना रहा और उसके विशुद्ध और अनाविल सौन्दर्य का मानस आस्वाद सहृदय सामाजिक को मिलता रहा। बार-बार इस प्रश्न को उठा कर मैं केवल इस बात पर बल देना चाहता हूँ कि रस को सैंडविच बना कर ही हमेशा उपयोग में न लाया जाए। जहाँ तक सैद्धान्तिक रस का प्रश्न है, उसके पीछे तो विवेचकों के दार्शनिक पूर्वाग्रह काम करते हैं। वैसे इन के सहारे जो विवेचन हुए और उन्हें रस रूप में उतारने के लिए विविध प्रयत्न किए गए, उन्होंने संस्कृत-वाङ्मय को प्रभूत समृद्धि दी, फिर भी निष्पक्ष विवेचन से यह सिद्ध होते देर न लगेगी कि विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं की सहमति-असहमति से असली रसका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। इसकी प्रत्यक्ष सत्ता को तो कहीं से कोई चुनौती नहीं मिल सकती। भरत ने इसी मूल रस या काव्य रस की

उपादेयता पर बल दिया था, इसी आधार पर काव्य–साहित्य के रस की वस्तुपरक हृदयावर्जक व्याख्या प्रस्तुत की थी और रस को नाट्य का सार उद्घोषित किया था। लोकभाव पर आधारित–आत्मभाव नहीं—रस ही उनको अभीष्ट था और आस्वाद्यता उसका विशेष गुण था। रूद्रट ने भी 'रसनाद्रसत्वमेषाम्' कह कर उस पर अपनी मुहर लगाई थी। इसी लोकभाव पर आधारित रति को भरत ने शृंगार का सर्वस्व ठहराया था और उसी के परिपाक से उज्ज्वल, शुचि, मेध्य शृंगार रस की निष्पत्ति की बात कही थी। आगे चल कर इसी पर आचार्यों ने न जाने कितने दर्शन के रुपहले–सुनहरे आवरण चढ़ाए जिससे चिन्तन तो पर्याप्त समृद्ध हुआ, परन्तु रस की मूल चेतना दबती चली गई।

भरत ने रस के जिस रूप को प्रस्तुत किया वह लोकभाव पर आधारित होने के कारण सहज ही नहीं, सार्वकालिक भी है। आज के साहित्य के सन्दर्भ में जिस रस पर नाना आक्षेप किये जाते हैं, उसके नकारने की बात की जाती है, उसका सम्बन्ध भरत–प्रतिपादित रस से नहीं (हालाँकि उसकी स्पष्ट रूपरेखा से लोग परिचित कम दीखते हैं)। उसका सीधा सम्बन्ध है आनन्दमूलक तत्त्ववाद से सम्बद्ध रस के आस्वादपक्ष से। इस अध्यारोप से (विद्वमन्डली यदि यह कहने से बुरा न माने तो) सैद्धान्तिक स्फीति तो पर्याप्त देखने में आई, पर उसमें प्रत्यक्ष रस्वास्वाद का गुर नहीं मिल पाया। इस ऐकेडेमिक आरोप का परिणाम यह हुआ कि एक अच्छाखासा शब्द-व्यूह बनकर तैयार हो गया जिसका भेदन करने में न जाने कितने अभिमन्यु-सामाजिकों को रस की वेदी पर अपनी बलि देनी पड़ी। यह आरोपित दृष्टि लोगों के आध्यात्मिक स्वास्थ्य के अनुकूल होने के कारण, उस समय और आगे चलकर भी बड़े काम की सिद्ध हुई। पर आज स्थिति इतनी बदल गई है कि पुराने समीक्षा के औजारों से आज पूरा काम नहीं चल पाता, आज की साहित्य-विद्या का अनुशासन उनके वश की बात नहीं। आज समीक्षक के लिए यह देखना जरूरी हो गया है कि भारतीय काव्यशास्त्र में क्या कुछ ऐसा है जो सार्वकालिक या सार्वभौम हो तथा जिससे लोकदृष्टि को सही मानों में उरेहा जा सके। भरत की रस–दृष्टि कुछ ऐसी ही थी। उसके द्वारा आज के साहित्य का अनुशासन सम्भव है। आज जिस 'टेन्शन' और 'शाकट्रीटमेंट' की बात की जाती है, जिस तीव्र बाह्यान्तर्द्वन्द्व और अभिघात की अभिव्यक्ति को प्रश्रय दिया जाता है उस का रसन–आस्वादन भरत की दृष्टि से उसकी पूरी समग्रता में किया जा सकता है। यह रसन कटुतिक्तकषाय कुछ भी हो सकता हैं। न आनन्द के रसन की अनिवार्य शर्त आवश्यक है और न रसास्वादयिता के लिए मनः-प्रसाद या बुद्धि–नैर्मल्य की अपेक्षा है। भरत की रसदृष्टि जिसके पीछे परम्परा का भी साक्ष्य है, आज के साहित्य के परख के लिए बड़े काम की है। संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के जमघट में भरत का नाट्यशास्त्र एक

ऐसाग्रन्थ है जो कि सौन्दर्यशास्त्र के सभी प्रमुख अंगों को अपनी रसयोजना में समेंटे हुए है। अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ तो केवल काव्य के शास्त्र हैं। उनके विवेचन की सीमा केवल काव्य तक है। यही कारण है कि उनके निष्कर्ष एक व्यापक निकष पर परीक्षित होने के कारण अधिक सारवान् एवं उपयोगी है। भरत का 'नाट्य' ही इतना व्यापक हैं कि उसमें काव्य, संगीत-(वाद्य, नृत्य एव गीत) चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं का समुच्चय है। उनकी मान्यता है :

न तच्छास्त्रं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।।

यद्यपि आगे चलकर यह मात्र 'अवस्थानुकृति,' रह गया।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है भरत ने रस के किसी आवश्यक पार्श्व को न बेजा महत्त्व दिया है और न उसकी अकारण अवहेलना की है। न वे भौतिकवादी मीमांसकों की तरह 'विभाव' को ही सब कुछ समझते रहे और न उन्होंने लोकोत्तरवादी मामांसकों की-सी प्रमाता पर ही पूर्णतः अपनी दृष्टि रखते रहने की एकांगिता अपनाई। मूल तथ्य को उन्होंने कभी आँखों से ओझल नही होने दिया। यदि ऐसा होता तो बीज लुप्त हो चुका होता, फलतः रस की पुष्पफल-समृद्धि देखने को भी न मिल पाती। बीज की अंकुरित होने की प्रक्रिया से लेकर, पौधे के रूप में उसके पल्लवन, क्रमशः पुष्ट शाखा-प्रशाखाओं से परिपूर्ण वृक्ष रूप मे उसके सवंर्धन तथा सुरभि पुष्पों एवं अमृत मधुर फलों से उसके आनमित होने की प्रक्रिया तक जो अपेक्षित लोकोत्तर वातावरण मिलता है और बाद में सामाजिक को जो लोकोत्तर रसास्वाद मिलता है वह सभी कुछ अपेक्षित है। यही कारण है कि भरत की सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि अपने सभी पार्श्वों में पूर्ण है। प्रतिभा के पंखों पर उड़ते रहना और हवाई महल खड़े करते रहना भरत के लिए सम्भव ही न था। वे नाट्यशास्त्र का निर्माण कर रहे थे। काव्य में लोकभाव जबतब उपेक्षित हो जाता है (वैसे होना नहीं चाहिए) पर नाट्य में इसके लिए जरा भी गुंजाइश नहीं। यदि दुर्भाग्य से ऐसा हुआ तो वह दो कौड़ी का रह जाएगा।

शृंगार रस पर भरत की अपनी अत्यन्त सहज दृष्टि है यद्यपि वह वासना के पैरों पर खड़ा है, पर हृदय की रासायनिक क्रियाओं से उसमें जो अभिनव और कृत्रिम औदात्त्य उन्मिषित हुआ है उसने उसकी अपेक्षित गरिमा बनाए रखी है। वह लौकिक होते हुए भी अलौकिक है वासनामूलक होतेहुएभी अपने परिणति-काल में वासना-पंक से सर्वथा अलिप्त है उसका मानस आस्वाद होता है फलतः वह अनिर्वचनीय है। वह लोक-भावाघृत है,उसमें लोक–हृदय का रस प्रवाहित रहता है (सकलमिदमनेन व्याप्तमाबाल-वृद्धम्) वह शुचि है, उज्ज्वल है, उसमें हमारे–आप जैसे हाड़मास के लोग होते हैं, स्त्रीत्व-पुरुषत्व के मात्र आरोप से काम नहीं चलाया जाता, उक्त शृंगार-दृष्टि वस्तुतः जीवन का रस है। इसी सहज कसौटी के पर कसकर शृंगार रस का आकण्ठ पान

स्वस्थ रहने के लिए नितान्त आवश्यक है। यहां यह ध्यान रखना जरूरी है कि कान्ताभाव की रति जिसमें स्वभावतः जड़ाशक्ति का चरमोत्कर्ष लोक में देखने को मिलता है वह यहां अपने रस-रूप में परिणति के समय उज्ज्वल, मेध्य व शुचि हो जाने के कारण अपनी लौकिकता और जडोन्मुखता का परित्याग करके अलौकिक, चिन्मुख एवं हृद्य मानस-रसायन प्रस्तुत करती है। भक्ति के क्षेत्र में यही सहज, तीव्र मधु-आनन्दात्मक प्रवृत्ति—रति मानव-मन को जब अखंड माधुर्यानन्द से आप्यायित करती हुई कई प्रकार के मानवीय सम्बन्धों द्वारा प्रत्यक्षानुभूत होकर, मधुर रस में भक्त के निर्मल अन्तर मे सुप्रकाशित होकर निखिल रसानन्दमूर्ति आराध्य के विग्रह व उनकी चिन्मयी शक्तियों के साथ लीला-विलास में प्रवृत्त होकर जो (रमणीय, सरस व दिव्य भावालोक) प्रस्तुत करती है, वह अपनी हृद्यता और पूर्णता में बेजोड़ है। इसी तरह उक्त रस को आधार बनाकर नाना दार्शनिक व तान्त्रिक साधनाएं जिन्होंने शृंगार रस को नये आयाम दिए, प्रवृत्त हुईं। लेकिन यह स्थिति भरत के बाद की है। भारतीय रस (शृंगार)-दृष्टि विभिन्न दर्शनों और सम्प्रदायों की साधना-दृष्टि के लिए अत्यन्त अनुकूल सिद्ध हुई। उनमें रस-निष्पत्ति का क्रम तो यही रहा, पर आस्वाद की अन्तर्वस्तु और उसका तारतम्य बदलता रहा। यद्यपि रति ही विभावादिसमूहों से अभिव्यक्त होकर रस-रूप में अवतरित होती रही, फिर भी कान्ताविषयक लौकिक रति का आधार लेकर उन्मिषित रस के आस्वादकों की अपेक्षा रति के उक्त विभिन्न रूपों का आधार लेकर अभिव्यक्त शृंगार रस के आस्वादकों की संख्या काफी घटती चली गई। इसका परिणाम (अच्छा या बुरा जो कुछ भी समझा जाए) यह हुआ कि जो रस अब तक लोक-सम्पत्ति था वह वर्ग-सम्पत्ति बन गया। पर शृंगार रस की सही समझ के लिए इन सबका लेखाजोखा आवश्यक है। विवेचन के दौरान उन सभी पृष्ठभूमियों और साधना-दृष्टियों पर संकेत किया जाता रहा है जिनके विविध रूपों के सहारे शृंगार रस का समष्टि-चिन्तन मुखरित होता रहा।

शृंगार के साथ सम्बद्ध उसके अंगों और उपांगों के विवेचन के दौरान अनेक नये तथ्य सामने आए हैं जिससे उनकी उपयोगिता और अनुपयोगिता पर भी प्रकाश पड़ता रहा है। कुछ समस्याएं उठी हैं, कुछ विसंगतियां सामने आई हैं, कुछ खण्डन-मण्डन भी हुआ है तथा स्पष्टता को ध्यान में रखते हुए कुछ अपनी बात भी कही गई है। इन्हीं से जब-तब कुछ ग्रन्थियां भी खुली है, क्योंकि दूसरी ओर कोई राह मेरे लिए न थी। मैं स्वभावतः साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में निर्णायक रुख के साथ कुछ अड़कर कहने का विश्वासी नहीं हूं। शायद ऐसा करने से जब-तब हो जाने वाले सत्य के अपलाप के दोष से मुक्ति मिल सके.

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

	ग्रन्थ	लेखक
१.	अग्निपुराण	—
२.	अथर्ववेद	—
३.	अभिलषितार्थचिन्तामणि	सोमेश्वर
४.	अमरकोश	अमरसिंह
५.	अमरकोशोद्घाटन	क्षीरस्वामी
६.	अमरुशतक	अमरुक
७.	अलंकार कौस्तुभ	कवि कर्णपूर
८.	अवलोक (दशरूपक)	धनिक
९.	अभिनवभारती	अभिनवगुप्त
१०.	अष्टाध्यायी	पाणिनि
११.	आनन्दचन्द्रिका	विश्वनाथ चक्रवती
१२.	आर्या सप्तशती	गोवर्धन
१३.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी	अभिनव गुप्त
१४.	ईशोपनिषद्	—
१५.	उज्ज्वलनीलमणि	रूपगोस्वामी
१६.	उणादिसूत्र	—
१७.	उत्तररामचरित	भवभूति
१८.	ऋग्वेद	—
१९.	ऐतरेय ब्राह्मण	—
२०.	औचित्य विचार चर्चा	क्षेमेन्द्र
२१.	कर्पूरमंजरी	राजशेखर
२२.	कवीन्द्रवचन समुच्चय	एफ. डब्ल्यू. टामस (सम्पादक)
२३.	कादम्बरी	बाणभट्ट
२४.	कामसूत्र	वात्स्यायन
२५.	कामकलाविलास	पुण्यानन्द
२६.	काव्यप्रकाश	मम्मट
२७.	काव्यमीमांसा	राजशेखर
२८.	काव्यानुशासन	हेमचन्द्र
२९.	काव्यालंकार	रुद्रट
३०.	गाथासप्तशती	सातवाहन हाल
३१.	गीतगोविन्द	जयदेव

३२. गीता	—
३३. गोपथ ब्राह्मण	—
३४. चरकसंहिता	चरक
३५. चंडी कुच पंचाशिका	लक्ष्मणाचार्य
३६. छान्दोग्योपनिषद्	—
३७. जयमंगला	यशोधर
३८. तर्कसंग्रह	अन्नंभट्ट
३९. तन्त्रसार	अभिनव गुप्त
४०. तन्त्रालोक	अभिनव गुप्त
४१. तैत्तरीय संहिता	—
४२. दशरूपक	धनंजय
४३. धातुरूपकल्पद्रुम	गुरुनाथ भट्टाचार्य
४४. ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन
४५. नाट्यदर्पण	रामचन्द्र गुणचन्द्र
४६. नाट्यशास्त्र	भरत
४७. परात्रिंशिका	अभिनव गुप्त
४८. पंचदशी	विद्यारण्य
४९. प्रक्रिया सर्वस्व	नारायण भट्ट
५०. प्रतापरुद्रीय	विद्यानाथ
५१. प्रत्यभिज्ञा हृदय	क्षेमराज
५२. भक्तिरसायन	मधुसूदन सरस्वती
५३. भक्ति रसामृतसिन्धु	रूपगोस्वामी
५४. भक्ति चन्द्रिका	नारायण तीर्थ
५५. भक्ति सन्दर्भ	जीव गोस्वामी
५६. भागवत	—
५७. भारतीय संस्कृति और साधना	गोपीनाथ कविराज
५८. भावप्रकाशन	शारदातनय
५९. भिक्षाटन	उत्प्रेक्षावल्लभ
६०. महाभारत	व्यास
६१. मनुस्मृति	—
६२. मालती माधव	भवभूति
६३. मालविकाग्निमित्र	कालिदास
६४. मिताक्षरा	विज्ञान भिक्षु
६५. मेघदूत	कालिदास
६६. मेदिनीकोश (अनेकार्थ शब्द कोश)	मेदिनीकर

६७. मैत्र्युपनिषद्	—
६८. यजुर्वेदसंहिता	—
६९. यशवन्तयशोभूषण	मुरारिदान
७०. रघुवंश	कालिदास
७१. रसरत्नसमुच्चय	वाग्भट
७२. रसहृदय	गोविन्द
७३. रसयोगसार	गोविन्दाचार्य
७४. रसगंगाधर	जगन्नाथ
७५. रसमंजरी	भानुदत्त
७६. रसतरंगिणी	भानुमिश्र
७७. रसदीर्घिका	विद्याराम
७८. रसरत्नप्रदीपिका	अल्लराम
७९. रसरत्नहार	शिवराम त्रिपाठी
८०. रसार्णव तन्त्र	—
८१. रसार्णव सुधाकर	शिंगभूपाल
८२. रसेन्द्र सार संग्रह	गोपाल भट्ट
८३. लोचन (ध्वन्यालोक)	अभिनव गुप्त
८४. लोचन रोचनी	जीव गोस्वामी
८५. वाग्भटालंकार	वाग्भट
८६. वामनी टीका (काव्यप्रकाश)	वामन झलकीकर
८७. वाल्मीकिरामायण	वाल्मीकि
८८. विक्रमोर्वशीय	कालिदास
८९. विश्वकोश	—
९०. विष्णुपुराण	—
९१. विष्णुधर्मोत्तरपुराण	—
९२. बृहदारण्यकोपनिषद्	—
९३. वैशेषिकसूत्र	कणाद
९४. व्यग्यार्थ कौमुदी	अनन्त शर्मा
९५. शतपथ ब्राह्मण	—
९६. शांकरभाष्य (ब्रह्मसूत्र)	शंकराचार्य
९७. शार्ङ्गधरपद्धति	शार्ङ्गधर
९८. शिवसूत्र	वसुगुप्त
९९. शिवपुराण	—
१००. शिशुपालवध	माघ
१०१. शृंगार तिलक	रुद्रभट्ट

१०२. शृंगार शतक	भर्तृहरि
१० . शृंगार प्रकाश	भोज
१०४. षट्सन्दर्भ	जीवगोस्वामी
१०५. सदुक्तिकर्णामृत	श्रीधरदास
१०६. सरस्वती कंठाभरण	भोज
१०७. सर्वदर्शन संग्रह	माधवाचार्य
१०८. सामवेद	—
१०९. सारसग्रह	रूप कविराज
११०. साहित्य रत्नाकर	धर्मसूरि
१११. साहित्य दर्पण	विश्वनाथ
११२. संगीतरत्नाकर	शार्ङ्गदेव
११३. संगीत सुधारक	हरिपालदेव
११४. सायणभाष्य	सायणाचार्य
११५. सुश्रुत संहिता	सुश्रुत
११६. सुभाषितावली	वल्लभदेव
११७. सूक्तिरत्नहार	—
११८. सूक्ति मुक्तावली	—
११९. हलायुध कोश (अभिधान रत्नमाला)	हलायुध
१२०. हारीत स्मृति	—

सहायक ग्रन्थ सूची

(अ) संस्कृत

	ग्रन्थ	लेखक
१.	अभिधावृत्ति मातृका	मुकुल भट्ट
२.	अभिनय दर्पण	नन्दिकेश्वर
३.	काव्यतत्त्व समीक्षा	एन. एन. चौधरी
४.	काव्यादर्श	दण्डी
५.	कुट्टिटनीमत	दामोदर गुप्त
६.	कुमार सम्भव	कालिदास
७	कृष्णकर्णामृत	लीलाशुक
८.	चतुर्भाणी	
९.	चित्रमीमांसा	अप्पय्यदीक्षित
१०.	नाटक चन्द्रिका	रूपगोस्वामी
११.	पद्यावली	रूपगोस्वामी
१२.	प्रेमरसायन	विश्वनाथ
१३.	भामिनी विलास	जगन्नाथ
१४.	मन्दारमरन्द चम्पू	कृष्ण शर्मन्
१५.	मानसार	—
१६.	योगसूत्र	पतंजलि
१७.	राधासुधानिधि	हितहरिवंश
१८.	वक्रोक्ति जीवित	कुन्तक
१९.	वेदान्त सार	सदानन्द
२०.	शृंगार मंजरी	अकबरशाह
२१.	शृंगार रसमण्डन	विट्ठलेश्वर
२२.	साहित्यसार	अच्युतराय
२३.	सांख्यकारिका	ईश्वर कृष्ण
२४.	सांख्य तत्त्वकौमुदी	वाचस्पति मिश्र
२५.	संस्कृत सूक्ति सागर	नारायण स्वामी

(ख) हिन्दी

१. आयुर्वेद का बृहत् इतिहास	अत्रिदेव विद्यालंकार
२. गाथा सप्तशती	परमानन्द शास्त्री
३. ध्वनिसम्प्रदाय और उमके मिद्धान्त	भोलाशंकर व्यास
४. भारतीय मूर्तिकला	बलदेव उपाध्याय
५. भारतीय दर्शन	रायकृष्ण दास
६. भागवत सम्प्रदाय	बलदेव उपाध्याय
७. भारत के संगीत सिद्धान्त	कैलास चन्द्र बृहस्पति
८. भारतीय साहित्यशास्त्र	बलदेव उपाध्याय
९. भारतीय संस्कृति और माधना	गोपीनाथ कविराज
१०. रस मीमांसा	रामचन्द्र शुक्ल
११. रस सिद्धान्त	नगेन्द्र
१२. रससिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण	आनन्दप्रकाश दीक्षित
१३. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन	प्रेमस्वरूप गुप्त
१४. राधा का क्रम विकास	शशिभूषणदास गुप्त
१५. वास्तुशास्त्र	द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल
१६. माहित्य और कला	हरद्वारीलाल शर्मा
१७. साहित्य सिद्धान्त	राम अवध द्विवेदी
१८. सिद्धान्त और अध्ययन	गुलाबराय
१९. सौन्दर्य शास्त्र	हरद्वारीलाल शर्मा

(ख) ENGLISH

No.	Title	Author
1.	Abhinava Gupta	K.C. Pandeya
2.	Ajanta, Ellora and Aurangabad Caves	R.S. Gupta and B.D. Mahajan
3.	Ancient India	R.C. Majumdar
4.	Ancient Indian Erotics	S.K. De
5.	Arts & Crafts of India and Cylon	A. Coomarswami
6.	Chaitanya and His Age	Dinesh Chandra
7.	Concept of Alankar	V. Raghavan
8.	Critical and Comparative study of Indian Aesthetics	H.L. Sharma
9.	Early History of the Vaishnava Faith and Movement in Bengal	S.K. De
0.	Erotic Sculpture of India	Brian Rhys
1.	History of Fine Arts in India and Ceylon	Vincent Smith
2.	History and Culture of Indian People	Majumdar
3.	Ideas of Indian Art	Havell
4.	Indian Aesthetics	K.S. Ramaswami Shastri
5.	Indian Aesthetics	K.C. Pandeya
6.	Indian Architecture Vol. I	P. Brown
7.	Indian Temple & Culture	K.M. Munshi
8.	Introduction to Sahityadarpana	P.V. Kame
9.	Indian concept of the Beutiful	K.S. Ramaswami
20.	Kama Kala	Mulk Raj Anand
21.	Kashmir Shaivism	J.C. Chatterjee
22.	Khajurho	Eliky Jannes
23.	Literary Criticism in Sankrit, some aspects of	A. Shankaran
24.	Number of Rasas	V. Raghavan
25.	Psychology of Sex	Havelock Ellis
26.	Sanskrit Poetics	S.K. De
27.	Sanskrit Poetics	Krishna Chaitana
28.	Science of Emotions,	Bhagwan Das
29.	Sex and the Love Life	W.J. Fielding
30.	Studies in Sanskrit Aesthetics	A.C. Shastri
31.	Studies on Indian Arts	Ganguli
32.	Srngara Prakash	V. Raghvan
33.	Theory of Indian Music	Bishan Swaroop.

पुस्तकानुक्रमणिका

नामानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका